



५ श्रीअमितगति आचार्य विरचित-

अमितगति-

श्रावकाचार

मूल व पं० भागचंद्रजीकृत वचनिका



स्व० ए० श्रीनरभवादी स्मारकसंग्रहालयाधी

२५०.५

अमित

मूल्य-चा

वीर सेवा मन्दिर
दिल्ली



क्रम संख्या

काल न०

खण्ड

२०

२०२१

२०२१



२५

श्री परमात्मने नमः ।

श्रीमद् अमितगति आचार्य विरचित—
श्री अमितगति श्रावकाचार
मूल और स्व. पं. भागचन्दजीकृत वचनिका



प्रकाशकः—

मूलचन्द किसनदास कापड़िया,
दिगम्बर जैन पुस्तकालय—सुरत ।

द्वितीयवृत्त] वीर सं० २४८४ [वि० सं० २०१५

‘जैनमित्र’के ५९ वें वर्षके प्रह्वर्षको
स्व० सीतल स्मारक ग्रन्थमालाकी
अंगसे भेंट ।

मूल्य—बार रुपये ।

भाषाटीकाकार—पं० भागचन्दजीका परिचय

इस ग्रंथकी हिन्दीभाषा टीकाके कर्ता पंडित श्री भागचन्दजी हैं। आप ईसागढ़ जिला ग्वालियरके रहनेवाले ओसवाल जैन थे। परन्तु आप दिगम्बर जैनधर्मके ही कट्टा अनुयायी थे। आप वांछवीं शताब्दीके अच्छे गण्यमान्य जैन विद्वानोंमेंसे हैं।

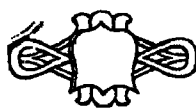
आप संस्कृत एवं हिन्दीभाषाके प्रतिभाशाली विद्वान् एवं कवि थे। संस्कृतमें आपका बनाया हुआ महावीराष्टक स्तोत्र है, जो सर्वत्र प्रचलित है।

आपने अमितगति श्रवकाचार, उपदेशसिद्धान्तरत्नमाला, प्रमाण परीक्षा, नेमिनाथ पुराण और ज्ञानसूरोदय नाटक इन ग्रंथोंकी भाषा वचनिका की है। और उत्तमं तम अनेक भावरसपूर्ण पद भजन भी बनाये हैं, जिनका संग्रह छप भी चुका है। आप प्रतिभाशाली, प्रौढ़, धर्मिष्ठ एवं अनुभवी विद्वान् थे।

हिन्दी भाषा

इस ग्रंथकी हिन्दी भाषा जैसी थी वैसी ही रक्खी गई है। नवीन बोलचालकी हिन्दीमें परिवर्तन नहीं की गई है क्योंकि भाषा परिवर्तन कर देनेसे भाषाकी कृतिका ज्योंके त्यों आस्वादन नहीं होता और अन्वयायत्नेमै जिनको यथापूर्व भाषासे ही विशेष आनंद होता है।

—प्रकाशक।



ब्रह्मचारी
सीतलप्रसाद



स्मारक
ग्रन्थमाला

दिगम्बर जैन समाजमें अनेक विद्यः-संस्थाओंको जन्म दिलानेवाले अनेक धर्म-ग्रन्थोंके अनुवादक, टीकाकार, लेखक व सम्पादक तथा 'जैनमित्र' की ४० वर्षों तक अविरल व अथक् सेवा करनेवाले तथा रात दिन जैन समाजकी अटूट सेवा करनेवाले श्री० जैनधर्मभूषण धर्मदिवाकर श्री० ब्र० सीतलप्रसादजीका दुःखद स्वर्गवास लखनऊमें जब वीर सं० २४६८ (१६ वर्ष पर) में हुआ तब हमने आपकी जैन धर्म व जाति सेवाके स्मारकके लिये आपके नामकी एक सुलभ ग्रन्थमाला निकालनेके लिये कमसे कम १००००) की अपील जैनमित्र द्वारा की थी लेकिन उसमें करीब ६०००) ही

भी हमने जैसेतैसे प्रबन्ध करके इन ग्रन्थमालाका प्रारम्भ वीर सं० २४७० में किया था जो आज तक चालू है व जिसके द्वारा आज तक ७ ग्रन्थ 'जैनमित्र' के प्राहकोंको भेंट दिये जा चुके हैं—

- १—स्वतंत्रताका सोपान (ब्र० सीतल कृत) ३) अप्राप्य ।
- २—श्री आदि पुराण स्व० कवि पं० तुलसीदासजी जैन देहली कृत छन्दोबद्ध ४)
- ३—श्री चन्द्रप्रभु पुराण (स्व० कविरत्न पं० हीरालालजी जैन बडौत रचित छन्दोबद्ध) ५)
- ४—श्री यशोधर चरित्र (महाकवि पुष्पदन्त रचित ग्रन्थका पं० हजारीलालजी कृत हिन्दी अनुवाद) ४)

५—सुभौम चक्रवर्ति चरित्र (भ० रत्नचन्द्रजी विरचित मूल व
पं० लालारामजी शास्त्री कृत हिन्दी टीका) ३)

६—श्री नेमनाथ पुराण (ब० नेमिदत्त रचित संस्कृत ग्रन्थका स्व०
पं० उदयलालजी कापलीवाल कृत हिन्दी अनुवाद) ४)

७—श्री प्रश्नोत्तर श्रावकाचार-भ० श्री सकलकीर्ति विरचित मूल
प्रैपकी पं० लालारामजी शास्त्री कृत हिन्दी टीका ४)

और अब यह आठवां ग्रन्थ—

श्रीमद् अमितगति आचार्य चिन्तन—

श्री अमितगति श्रावकाचार ग्रन्थ—

मूल श्लोक और स्व० पं० भागचन्द्रजीकृत हिंदी वचनिका-
सहित, जो श्री अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला द्वारा ३६ वर्ष हुये बम्बईसे
प्रकट हुआ था व जो करीब २५ वर्षोंसे मिथता ही नहीं है और यह
श्रावकाचार ग्रन्थ ग्रन्थके श्रावकके लिये अतीव उपयोगी है अतः
'जैनमित्र'के ५९ वें वर्षकी भेंटमें दिया जाता है ।

'जैनमित्र'की ग्राहक संख्या बहुत है और ६०००)के स्थायी
फण्डमें क्या हो सकता है अतः प्रायिक ग्राहकसे सिर्फ १) अधिक
लेकर ही ऐसा महान् ग्रंथराज भेंटमें देनेका हमने साहस किया है ।

अभी भी कोई श्रीमान् इस ग्रंथमालाको बड़ी स्थायी रकम दान
कर दे तो यह स्थायी फण्ड बढ़ सकता है ।

'जैनमित्र'के ग्राहकोंको भेंट देनेके अतिरिक्त इन ग्रंथकी कुछ
प्रतियां विक्रयार्थ भी निकाली गयी हैं ।

वीर सं० २४८४ }
वैशाख सुदी ३ }
सा. २२-४-५८ }

निवेदक—
मूलचन्द्र किसनदास कापड़िया,
—प्रकाशक ।

ग्रन्थकर्ता-श्री अमितगति आचार्य-परिचय

इस 'अमितगति श्रावकाचार' ग्रन्थके मूल कर्ता माथुर संघके आचार्य श्री अमितगति हैं। उक्त नामके दो आचार्य हुये हैं, जिनमेंसे एक तो मुंज राजाके शासनकाल विक्रम संवत्की ११ वीं शताब्दीमें हुए। जिन्होंने धर्मपरीक्षा, सुभाषित रत्नसन्दोह, पंचसंग्रह तथा इस श्रावकाचार आदि ग्रन्थोंकी रचना की है। ये अमितगति माथुरसंघके आचार्य माधवसेनके शिष्य थे इस बातका उल्लेख उक्त आचार्य-प्रवरने प्रायः अपने सभी ग्रन्थोंमें किया है। इनका विशेष प्रशस्तनका वर्णन सुभाषित-रत्नसन्दोह, आदि प्रायः सभी ग्रन्थोंमें है। इसलिये जिज्ञासु महंदायोंको वहासे जानना चाहिये।

दूसरे अमितगति आचार्य इन्हीं अमितगतिके गुरुके गुरु आचार्य नेमिषेणके गुरु तथा देवसेनके शिष्य हुये हैं। यगमार नामक जो अमितगति कृत्र अध्यात्म विषयक ग्रन्थ है उसके कर्ता शायद ये ही अमितगति हैं। क्योंकि योगमारकी शब्दार्थ रचना तथा धर्मपरीक्षादि ग्रन्थोंकी रचनामें विभिन्नताके अतिरिक्त एक पुष्ट प्रमाण यह भी है कि धर्मपरीक्षादि ग्रन्थोंमें माधवसेनके शिष्य अमितगतिने अपने नामका उल्लेख प्रायः सभी अध्यायों परिच्छेदोंके अन्तमें अन्य शब्दोंके विशेषण रूपमें किया है। परन्तु यगमारके किसी अधिकारमें ऐसा नहीं है, सिर्फ एक अंतिम श्लोकमें अपना नाम स्पष्ट प्रकट किया है—जैसे—

दृष्ट्वा सर्वं गगननगरस्त्रप्रमायोपमानं

निःसंगात्प्राप्तमितगतिरिदं प्राभृतं योगसारम् ।

ब्रह्मप्राप्त्या परमकृतस्वेषु चात्मप्रतिष्ठं

नित्यानंदं गालतकलिलं सूक्ष्ममत्याक्षलक्ष्यम् ॥

इसके अतिरिक्त धर्मपरीक्षादि सभी ग्रन्थोंमें अमितगतिने अपने गुरुका नाम स्मरण किया है परन्तु योगसारमें नहीं। इसलिये योगसारके कर्ता देवसेनके शिष्य अमितगति ही होने चाहिये।

“ विद्वद-रत्नमाला ”

दूमरा परिचय

आचार्य अमितगति साकून साहित्यके उच्चकोटिके विद्वान् थे। आपने अनेक भक्तोंके ग्रन्थों और पुराणोंका अध्ययन किया था। आपका ज्ञान विशाल और महत्वपूर्ण था। आप सुधारक आचार्य थे। प्रचलित मतमतान्तरोंकी मनगढ़न्त बातों पर आपका विश्वास नहीं था। आपने उनका बड़े सुन्दर ढँगसे सुधार किया था। आपकी काव्य रचनाशक्ति विलक्षण थी। धर्म परीक्षा जैसे सुन्दर और सरस ग्रन्थका निर्माण उन्होंने केवल दो महिनोंमें किया था। उनकी असाधारण विद्वत्तासे अनेक विद्वान् प्रभावित थे।

आचार्य अमितगतिका पांडित्य अगाध था। उनकी कवित्वा शक्ति उत्कृष्ट थी। वे अपने समयके बड़े भारी विद्वान् और कवि थे। दुर्भाग्यसे आचार्य महोदयके वंश और माता पिताके नामोंका परिचय कहीं भी नहीं मिलता है। आप माथुरा संघके श्रेष्ठनम आचार्य थे। आपके गुरुका नाम माधवसेन था, वाकपतिराज राजा मंजुकी सभाके आप एक अनुपम गुरु थे।

आपका जन्म काल विक्रम सं० १०२० के लगभग माना गया है। आपने सुभाषितःज्ञानन्दोद्दकी रचना वि० सं० १०५० में की है। इस समय आपकी आयु ३० वर्षके लगभग अवश्य होगी। इस दृष्टिसे आपका जन्म विक्रमकी ११ वीं शताब्दी अनुमानित किया

गया है। वाक्पतिराज मंजुकी सभामें आचार्य अमितगतिका स्थान बहुत ऊँचा था। राज्य सभामें उनका बड़ा आदर था।

राजा मंजुकी राजधानी उज्जयिनीमें रहकर आचार्य अमितगतिने कई ग्रन्थोंका निर्माण किया है। आपने अनेक विषयों पर ग्रन्थ लिखे हैं। सभी ग्रन्थ संस्कृत भाषामें हैं। सभी ग्रन्थोंकी रचना सरल और सुखसाध्य होनेपर भी अत्यन्त गम्भीर और मधुर है। संस्कृत साहित्य पर आपका अच्छा अधिकार था।

आपके रचित ग्रन्थ निम्न दिये जाते हैं—

(१) सुभाषितरत्नसन्दोह, (२) धर्मपरीक्षा, (३) पंचसंग्रह, (४) उपासकाचार, (५) भावनाद्वात्रिंशतिका, (६) सामायिकपाठ, (७) योगसार प्राभृत्, (८) अमितगति श्रावकाचार, (९) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, (१०) चन्द्रप्रज्ञप्ति, (११) व्याख्यान प्रज्ञप्ति।

‘सन्मति सन्देश’ के सन्त अंकसे उद्धृत।

[पं० लालचन्दजी शास्त्री द्वारा लिखित]



विषय-सूची ।

प्रथम परिच्छेद—(संपारका स्वरूप)	१
द्वितीय परिच्छेद—(मिथ्यात्व व उसके त्यागका वर्णन)	२३
तृतीय परिच्छेद—(जीवादिक पदार्थका वर्णन)	४४
चतुर्थ परिच्छेद—(अन्यमन वर्णन)	७४
पंचम परिच्छेद—(व्रत वर्णन)	१०६
षष्ठम परिच्छेद—(अणुव्रत वर्णन)	१२६
सप्तम परिच्छेद—(व्रत महिमा)	१५४
अष्टम परिच्छेद—(षट् आवश्यक वर्णन)	१८२
नवम परिच्छेद—(दानका स्वरूप)	२०९
दशम परिच्छेद—(पात्र कुआँत्र अपात्र वर्णन)	२३६
एकादश परिच्छेद—(अभयदानका फल)	२५६
द्वादश परिच्छेद—(व्रतका स्वरूप)	२८६
त्रयोदश परिच्छेद—(संयमका स्वरूप)	३१४
चतुर्दश परिच्छेद—(द्वादश अनुप्रेक्षा-भावना वर्णन)	३२८
पंचदश परिच्छेद—(दान शल तप भावना स्वरूप)	३६२
अन्यकर्ता (अमितगति) की प्रशस्ति	३९१
भाषाकार (पं० भागचन्दजी) की प्रशस्ति	३९५

श्री अमितगति आचर्यकृत धर्म परीक्षा, श्रावकाचार, सुभाषित-रत्नमन्दोहके सिवाय भावनाद्वात्रिंशते, पंचसंग्रह, जगद्वृद्धीय प्रज्ञप्त, चन्द्र प्रज्ञप्त, दार्ढ्यदीप प्रज्ञप्त, व्याख्यान प्रज्ञप्त व योगसार भी हैं । जिनमेंसे योगसार पंचसंग्रह प्रकट हो चुके हैं व शेष अप्रकट हैं ।

श्री अमितगति श्रावकाचार केना महान् ग्रंथराज है यह तो पाठकोंको इसके स्वाध्यायसे ही मालूम होगा । —प्रकाशक ।

प्रवीतरं गीतं नामः ।

श्री अमितगति आचार्य विरचित—

श्री अमितगति आचार्य

(पंडित भागवन्द्रजीकृत वचनिका सहित)

प्रथम परिच्छेद ।

दोहा ।

सिद्धार्थ प्रियकारिणी* नंदन वीर जिनेश ।

शिवकर वन्दूं अमितगति, कर्त्ता वृष उपदेश ॥ १ ॥

पंचपरमेष्ठीकी स्तुति

(गीता छन्द)

मनुज नाग सुरेन्द्र जाके उपरि छत्रत्रय घरे,

कल्याणपंचकमोदमाला पाय भवसुमतम हरे ।

दर्शन अनन्त अनन्त ज्ञान अनन्त सुख वीरव भरे,

जयवन्त ते अरहन्त शिवतिबकन्त मो उर संघरे ॥१॥

जिन परमध्यान कृशानुवान सुतान तुरत बलादये,

युत मान जन्म जरा मरण भव त्रिपुर फेर नहीं मये ।

अविचल शिवालय धाम पायो स्वगुणैतै न बलै कदा,

ते सिद्धप्रसु अविरद्ध मेरे शुद्ध ज्ञान करो सदा ॥२॥

जे पंचविध आचार निर्मल पंच अग्नि घु खाचते,

पुनि द्वादशांग समुद्र अवगाहन सकळ भ्रम बाचते ।

* वा दोहाके तीन अर्थ हैं ।

वर सूरि सन्त महंत विधिगण हरणको अतिदक्ष है,
 ते मोक्षिलक्ष्मी देहु हमको जहां नाहि विपक्षे है ॥३॥
 जो घोर सब कानन कुअटवी पाप पंचानन जहां,
 तीक्ष्ण सकलजन दुःखकारी जासको नखगण महा ।
 तहं भ्रमत भूले जीवको शिवभग बतावै जे सदा,
 तिन उपाध्याय मुनींद्रके चरणारविंद नमूँ सदा ॥४॥
 विन सङ्ग उग्र अभङ्ग तपतैं अङ्गमें अति खीन है,
 नहिं हीन ज्ञानानंद ध्यावत धर्मशुक्ल प्रवीन है ।
 अति तपो कमलाकलित भासुर सिद्धपद साधन करै,
 ते साधु जयवन्तो सदा जे जगतके पातक हरै ॥ ५ ॥

दोहा ।

जिनवर सिद्धाचार्य पुन उपाध्याय मुनिराज ।
 नमस्कार गुरु पंचको होउ सदा सुखदाय ॥ १ ॥
 जयवन्तो जिनधर्म सो वीतराग परिनाम ।
 कुगति पाततैं जीवको काढि धरै शिवधाम ॥ २ ॥
 चंद्र पुन जिनवचनको जाके स्यात्पद केतु ।
 स्वपर प्रकासै भ्रम हरै सब जगको सुख हेतु ॥ ३ ॥
 भूषन वसन गदादिविन जिनप्रतिमा अभिराम ।
 तीन लोकमें है जहां तहं नित करूँ प्रनाम ॥ ४ ॥
 सुरनर नामसमूह नित पूजित पावन द्वार ।
 कैत्यालय जिनचन्द्रके वन्दूँ मंगलकार ॥ ५ ॥
 इम नव देव प्रणाम करि निजमतके अनुसार ।
 ग्रन्थ भावकाचारकी रचूँ वचनिका सार ॥ ६ ॥
 ऐसै मंगल करि श्री अमितगत्याचार्यकृत श्रावकाचारकी वचनिका

करिये है । तहाँ जो ज्ञानकी मन्दतातैं हीनाधिक अर्थ होय ताकों विशेषज्ञानी सुधार लोव्यो, मोकों मंदबुद्धि जानि हास्य मति कीज्यो, यह विशेषज्ञानीनतैं मेरी परोक्ष प्रार्थना है ।

उपजातिछन्द ।

नापाकृतानि प्रभवन्ति भूयस्तमांसि वैर्दृष्टिहराणि सद्यः ।

ते शाश्वतीमस्तमयानभिज्ञा, जिनेदवो वो वितरंतु लक्ष्मीम् ॥ १ ॥

अर्थ—ते श्रीजिनरूप चन्द्रमा तुम्हारे शास्वती जो मंक्षलक्ष्मी ताहि विस्तारहु । कैसे हैं जिनचन्द्र अस्त किये हैं अज्ञानी परवादी जिननैं । बहुरि जिनकरि शीघ्र ही दूरि किये सम्यक्दृष्टिके हरणेवाले मोह अन्धकार ते फेर न होय हैं ॥ १ ॥

विभिद्य कर्माष्टकश्रृंखलं ये, गुणाष्टकंश्चर्यमुपेत्य पूतम् ।

प्राप्तास्त्रिलोकाप्रशिखामणित्वं, भवंतु सिद्धा मम सिद्धये ते ॥ २ ॥

अर्थ—ते श्री भगवान मेरे सिद्धिके अर्थ होऊ । जे सिद्ध भगवान ज्ञानावरणादि अष्टकर्मरूप सांकलकूं छेदि करि अर सम्यक्त्वादि अष्ट गुणरूप पवित्र ऐश्वर्यकों प्राप्त होय तीन लोकके चूडामणिपनेकों प्राप्त भये हैं ॥ २ ॥

ये चारयन्ते चरितं विचित्रं, स्वयं चरन्तो जनमर्चनीयाः ।

आचार्यत्रयां विचरन्तु ते मे, प्रमोदमाने हृदयारविदे ॥ ३ ॥

अर्थ—ते आचार्यवर्य कहिये आचार्यनिविषैं प्रधान आचार्य आनंदका देनेवाला जो मेरा हृदयकमल ता विषैं विचरहु । कैसे हैं आचार्य, जे नानाप्रकार चारित्रकों आचरण करते सन्ते लोककों आचरण करावैं हैं याहीतैं पूजनीक हैं ।

भावार्थ—वीतरागरूप धर्मकों आचरण करै हैं अर दयाल होय औरनिकों आचरण करावैं है तेही वीतराग भावनिके बाँछकमि करि

पूजनीक हैं अर ते ही ज्ञानानंदके कारन हैं । बहुरि इनतें विपरीत
अन्यरागद्वेषभावसहित हैं ते आचार्य नाहीं ॥ ३ ॥

येषां तपःश्रीरनघा शरीरे, विषेचका चेतसि तत्त्वबुद्धिः ।

सरस्वती तिष्ठति वक्त्रपद्मे, पुनं तु तेऽध्यापकपुंगवा वः ॥ ४ ॥

अर्थ—ते उपाध्यायनिविषे प्रधान उपाध्याय भगवान तुमकों
पवित्र करहु । कैसे हैं उपाध्याय, जिनके शरीरविषे पापरहित तपो-
लक्ष्मी तिष्ठै है, अर जिनके चित्तविषे भेदविज्ञान करनेवाली तत्त्वबुद्धि
तिष्ठै है, अर मुखकमलविषे सरस्वती कहिये जिनवाणी तिष्ठै है ।

भावार्थ—मन वचन कायरूप तीनों योग जिनकों निर्मल
भये हैं ॥ ४ ॥

कषायसेनां प्रतिबन्धिनीं ये, निहत्य धीराः समशीलशक्तेः ।

बिद्धिं विवाधां लघु साधयंते, ते साधवो मे वितरंतु सिद्धिम् ॥ ५ ॥

अर्थ—ते साधु हमारे अर्थ सिद्धि जो मोक्ष ताहि देहु । कैसे
हैं ते साधु, जे धीर समशीलरूप शस्त्रनिकरि सिद्धिकी रोकनेवाली
क्रोधादिकषायनकी सेनाकों शस्त्रनितें नाशकरि अपनी सिद्धिकों साधें
हैं तैमें साधु कषायनिकों क्षमादिभावनितें नाशकरि परम निराकुल
अवस्थाकों साधें हैं ॥ ५ ॥

विभूषितोऽह्वाय यया शरीरे, विमुक्तिकांतां विदधाति वश्याम् ।

सा दर्शनज्ञानचरित्रभूषा, चित्ते मदीये स्थिरतामुपैतु ॥ ६ ॥

अर्थ—सो दर्शन ज्ञान चारित्ररूप भूषण मेरे चित्तविषे सदा
स्थिरताकों प्राप्त होहु । जिस आभूषणकरि भूषित जो जीव है सो
शांघ्र ही मुक्तिलीकों वश करै है ।

भावार्थ—जैसे सुन्दर शृङ्गारसहित पुरुषके ली वशी होय है
तैसे दर्शन ज्ञानसहित आत्माके ज्ञानानंदस्वरूप अवस्था प्राप्त
होय है ॥ ६ ॥

मातेव वा शास्ति हितानि पुंसो, रजः क्षिपती दधती सुखानि ।

समस्तशास्त्रार्थविचारदक्षा, सरस्वती सा तनुतां मतिं मे ॥ ७ ॥

अर्थ—सो सरस्वती मेरी बुद्धिको विस्तारहु । कैसी है सरस्वती, जो पुरुषकों माताकी ज्यों हित जे कल्याणके कारण तिनहि सिखावै है, अर रज जो अज्ञान ताहि डरावै है, अर सुखनिकों पुष्ट करै है, अर समस्त शास्त्रनिके अर्थके विचारविषै प्रवीण है ।

भावार्थ—अनेकांतमयी जो जिनवाणी ताका नाम सरस्वती है, सो जैसे चतुर माता पुत्रकों लौकिक हिताहितके कारण सिखावै है, अर अंगकी धूलि झारे है अर सुख बढ़ावै है । तैसें जिनवाणी मोक्ष-मार्गविषै हिताहित सिखावै है अर अज्ञान दूर करै है अर ज्ञानानंद पुष्ट करै है ऐसा जानना ॥ ७ ॥

शास्त्राबुधेः पारमियति येषां, निषेवमाणः पदपद्मयुगम् ।

गुणैः पवित्रैर्गुरवो गरिष्ठाः, कुर्वतु निष्ठां मम ते वरिष्ठाम् ॥ ८ ॥

अर्थ—जिनके चरनकमलकों ध्यावता संता पुरुष शास्त्रसमुद्रके पारकों प्राप्त होय है, ते पवित्र गुणनि करि गुरवे ऐसे श्री गुरु मेरे श्रेष्ठ क्रियाकूं करहु ॥ ८ ॥

उपासकाचारविचारसारं, संक्षेपतः शास्त्रमहं करिष्ये ।

शक्तोति कर्तुं श्रुतकेवलीभ्यो, न ज्यासतोऽन्योहि कदाचनपि ॥ ९ ॥

अर्थ—मैं जो हूँ शास्त्रकार सो श्रावकाचारके विचारका सार-भूत शास्त्रकों संक्षेपतैं करूँगा । जातैं श्रुतकेवलिनतैं अन्य दूजा पुरुष विस्तार कहनेकूं कदाचित् समर्थ नहीं है ।

भावार्थ—विस्तारसहिततो श्रुतकेवलीके सिवाय दूजा कौन कहै, मैं सो संक्षेपरूप श्रावकाचार करूँगा ॥ ९ ॥

क्षुद्रस्वभावाः कृतिमस्तदोषां, निसर्गतो यद्यपि दूषयन्ते ।

तथापि कुर्वन्ति महानुभावास्त्याज्या, न युक्ताभयतो हि शाटी ॥ १० ॥

अर्थ—जो पुनः नीचपुरुष निर्दोष कार्यकों स्वभावहीते दूषण लगावें हैं तौ भी महान पुरुष कार्यकों करें हैं, जातें यूकानके भयतें साडी त्यागने योग्य नाही ।

भावार्थ—दुष्टनिके भयतें सज्जन उत्तम कार्यकों न त्यागें जैसे लोक यूकानके भयतें वख न त्यागें ऐसा जानना ॥ १० ॥

संसारकांतारमपास्तसारं, बंध्रम्यमाणो लभते शरीरी ।

कृष्णेण नृत्वं सुखशस्यबीजं, प्ररूढदुःकर्मशमेन भूतं ॥ ११ ॥

अर्थ—साररहित संसारवनविषे अतिशयकरि भ्रमता यहू जीव है सो कष्टकरि मनुष्यना पावै है । कैसा है मनुष्यपना, नित्यही सुखरूप धान्यका बीजसमान, अर फेर रखा जो पापकर्म ताके उपशम करि उपज्या ऐसा है ।

भावाथ—इस असारसंसारविषे मनुष्यपना दुर्लभ है, बड़े पापके उपशम करि होय है, जातें इस ही करि मोक्षका कारन तपश्चरणादि होय सकै है ॥ ११ ॥

नरेषु चक्री त्रिदशेषु बज्री, मृगेषु सिंहः प्रशमो व्रतेषु ।

मतो महीभृत्सु सुवणशैलो, भवेषु मानुष्यभवः प्रधानम् ॥ १२ ॥

अर्थ—जैसे मनुष्यनिविषे चक्रवर्ती प्रधान है, अर देवनिविषे इंद्र प्रधान है, अर मृगनिविषे सिंह प्रधान है, अर व्रतनिविषे प्रशम-भाव प्रधान है, अर पर्वतनिविषे मेरु प्रधान है; तैसें भवनिविषे मनुष्य-भव प्रधान है ॥ १२ ॥

त्रिवर्गधारः सुखरत्नखानिर्धर्मः, प्रधानो भवतीह येन ।

सम्यक्त्वशुद्धाविव धर्मलाभः, प्रधानता तेन मतास्य सद्भिः ॥ १३ ॥

अर्थ—जैसें सम्यक्त्वकी शुद्धिता होतेसतें धर्मका लाभ होय है तैसें इष्ट नरभवविषे त्रिवर्ग जे धर्म अर्थ काम तिनविषे धार अर सुख-

रत्नकी खानि ऐसा प्रधान धर्म होय है; ता कारण करि इष नरभवकी प्रधानता संतनि करि मानी है ।

भावार्थ—साक्षात् मोक्षका कारण धर्म नरभवविषै ही होय है तातै नरभव उत्तम कहा है ॥ १३ ॥

यथा मणिर्भावगणेष्वनर्घ्यो, यथा कृतज्ञो गुणवत्सु लभ्यः ।

न चारवत्त्वेन तथागिवर्गैः, सुखेन मानुष्यभवो भविषु ॥ १४ ॥

अर्थ—जैसै पथरनिके समूहविषै अमोलक रत्न सुलभ नाही तथा जैसै गुनवाननविषै कृतज्ञ सुलभ नाहीं, तैसै चारवानपने करि सुखकरि सहित भवनिविषै मनुष्यभव सुलभ नाही ।

भावार्थ—सर्व संसारविषै तपश्चरणादिकके साधनपपने करि चारभूत मनुष्यभव पावना अति कठिन है ॥ १४ ॥

शमेन नीतिर्विनयेन विद्या, शौचेन कीर्त्तिस्तपसा चपर्या ।

विना नरत्वेन न धर्मसिद्धिः, प्रजायते जातु जनस्य पथ्या ॥ १५ ॥

अर्थ—जैसै शमभावविना नीति न होय, अर विनयविना विद्या न होय, अर शौच कहिये निर्लोभपना ताविना कीर्त्ति न होय, अर तपविना पूजा न होय; तैसै मनुष्यपपने विना जीवकै हितरूप धर्मकी सिद्धि कदाचित् न होय है ॥ १५ ॥

अन्नेन गात्रं नयनेन वक्त्रं, नयेन राज्यं लवणेन भोज्यम् ।

धर्मेण हीनं वत जीविनव्यं, न राजते चन्द्रमघा निशीथं ॥ १६ ॥

अर्थ—जैसै अन्न करि हीन शरीर, अर नेत्रनि करि हीन मुख अर नीतिकरि हीन राज्य, अर लवण करि हीन भोजन, अर चन्द्रमा करि हीन रात्रि न सोहै; तैसै धर्मकरि हीन जीवितव्य नहाँ सोहै है ॥ १६ ॥

शस्येन देश पयसान्जलपुण्डं, शौर्येण शस्त्री विटमी फुलेन ।

धर्मेण शोभासुपयाति मर्त्यो, मदेन दन्ती तुरगो जवेन ॥ १७ ॥

अर्थ—जैसे धान्यकरि देश, अर जलकरि कमलनिका वन, अर शूरवीरपने करि शस्त्रधारी, अर फलकरि वृक्ष, अर मद करि हस्ती, अर वेगकरि घोडा शोभाकौ प्राप्त होय है तैसे मनुष्य धर्मकरि शोभाकूं प्राप्त होय है ॥ १७ ॥

मानुष्यमाशाब सुकृच्छ्रलभ्यं, न यो विबुद्धिर्विदधाति धर्मम् ।

अनन्यलभ्यं स सुवर्णराशि, दारिद्र्यदग्धो विजहाति लब्ध्वा ॥ १८ ॥

अर्थ—जो बुद्धिरहित पुरुष कष्टकरि पावने योग्य जो मनुष्य-पना ताहि पाय करि धर्मकौ न धारैहै सो दारिद्र्य करि पीडित नर अन्य करि न पावने योग्य ऐसी पाई जो सुवर्णकी राशि ताहि तजैहै ।
भावार्थ—न प्रहैहै ॥ १८ ॥

अनादरं यो वितनोति धर्मं, कल्याणमालाफलकल्पवृक्षे ।

चिन्तामणिं हस्तगतं दुरापं, मन्ये स मुग्धस्तृणवज्रहाति ॥ १९ ॥

अर्थ—जो पुरुष कल्याणनिकी माला जो पंगति छोड़ी भये फल ताके देनेकौ कल्पवृक्षसमान जो धर्म ता विषे अनादरकौ विस्तारैहै, सो मूढ़ दुःखकारी पावने योग्य हस्तविषे आयाजा चिन्तामणि ताहि तृणकी ज्यो तजैहै, ऐसी मैं मानूं हूं ॥ १९ ॥

दुःखानि सर्वाणि निहन्तुकामैर्निःपीडितप्राणिगणानि धर्मः ।

उपासनीयो विधिना विधिनैर्गन्निर्हिमानीव दुरुत्तराणि ॥ २० ॥

अर्थ—पीडित किये हैं जीवनिके समूह जिनमें ऐसे जे समस्त दुःख तिनहि नाश करनेकी है इच्छा जाके ऐसे पुरुषनि करि विधि-बहित विधिके जाननेवालेनि करि धर्म सेवना योग्य है; जैसे दुःख करि उतरे जाय ऐसे जाकेनको नाश करनेके बांछिकनि करि अग्नि सेवन योग्य है तैसे ।

भावार्थ—जैसे शीत मेटे चाहत हैं तिनकरि अग्नि सेवना योग्य

है, तैसैं मिथ्याज्ञानजनित परद्रव्यनिकी तृष्णारूप दुःखकों दूर करे
चाहैं हैं तिन करि धर्म सेवना योग्य है ॥ २० ॥

शस्यानि बीजं फलिलानि मेघं, घृतानि दुग्धं कुसुमानि वृक्षं ।

काक्षत्यहान्येष विना दिनेशं, धर्मं विना काक्षति यः सुखानि ॥ २१ ॥

अर्थ—जो पुरुष धर्म विना सुखानिकों चाहै है सो यहू बीज
विना धान्यनिकों चाहै है, अर मेघविना जलनिकों चाहै है, अर
दुग्धविना घृतनिकों चाहै है, अर वृक्ष विना फूलनिकों चाहै है, अर
सूर्य विना दिनकों चाहै है ।

भावार्थ—जैसैं बीजादिक हैं ते धान्यादिकनिके कारण हैं तैसैं
धर्म सुखनिका कारण है, अर कारण विना कार्यकी उत्पत्ति चाहै है
सो होय नाही तातैं पुरुषार्थनिकरि धर्मका संग्रह करना योग्य
है ॥ २१ ॥

आयाति लक्ष्म्यः स्वयमेव भव्यं, धर्मं दधानं पुरुषं पवित्राः ।

प्रसूनगन्धस्थगिताखिलाशं, शरोजिनीखण्डमिवालिमाला ॥ २२ ॥

अर्थ—फूलनिकी सुगन्ध करि व्याप्त करी है धमस्त दिशा जानैं
ऐसा जो कमलनीनिका वन ता प्रात जस भौरानिकी पंकति स्वयमेव
आय प्राप्त होय है तैसैं धर्मकों धारन करता जो भव्यपुरुष ता प्रति
पवित्र लक्ष्मी स्वयमेव आय प्राप्त होय है ॥ २२ ॥

निषेवते यो विषयं निहीनो, धम निराकृत्य सुखाभिलाषी ।

पीयूषमल्यस्य च कालकूटं, सुदुर्जरं खादति जीवितार्थी ॥ २३ ॥

अर्थ—जो नीच पुरुष धर्मका निराकरण करि सुखका अभिलाषी
विषयनिकों सेवै है सो अमृतकों त्यागि करि जीवनेका अर्थी प्रबल
कालकूट विषकूं खाय है ॥ २३ ॥

भोगोपभोगाय करोति दीनो, दिवानिशं कर्म यथा चयत्नः ।

तथा विधत्ते यदि धर्ममेकं, क्षणं तदानीं किमु नैति सौख्यम् ॥ २४ ॥

अर्थ—जैसै यहू दीन भया सन्ता यल्लघहित रातदिन भोगो-
पभोगके अर्थ कर्म करै तैसैं जो क्षणमात्र भी धर्मको धारै तो कहैं
सुखको प्राप्त नहीं होय, होय ही हो ॥ २४ ॥

ये याजयन्ते विषयोपभोगे, मानुष्यमाषाद्य दुरापमज्ञाः ।

निकृल्य कर्पूरवनं स्फुटं ते, कुर्वति वार्टी विषपादपानां ॥ २५ ॥

अर्थ—जो अज्ञानी दुःख करि पावने योग्य जो मनुष्यपना ताहि
पाय करि विषयभोगनि विषे लगावै हैं, ते प्रगट कर्पूरके वनकूं काटि
करि विषवृक्षनिकी बाडी करें हैं ॥ २५ ॥

गृह्णति धर्म विषयाकुला ये, न भँगुरे मंक्षु मनुष्यभावे ।

प्रदह्यमाने भवनेऽग्निना ते, निःसारयंते न घनानि नूनं ॥ २६ ॥

अर्थ—जे विषयनि विषे आकुलित जन क्षणभँगुर जो मनुष्य-
भव ता विषे शीघ्र धर्मका प्रहण न करें हैं, ते निश्चयतें अग्नि करि घर
जलते मन्तें घननिको न निकारें हैं ॥ २६ ॥

सर्वेऽपि भावाः सुखकारिणोऽमी, भवंति धर्मेण विना न पुंषः ।

तिष्ठति वृक्षाः फलपुष्पयुक्ताः, कालं कियंतं खलु मूलहीनाः ॥ २७ ॥

अर्थ—पुरुषकैं ये सुखकारी सब ही पदार्थ धर्म विना न होय हैं,
जैसैं फल फूलनि करि सहित वृक्ष जड़रहित निश्चयकरि कितनें काल
तिष्ठै ? किछु भी रहै नाही ॥ २७ ॥

मोक्षावसानस्य सुखस्य पात्रं, भवन्ति भव्या भवभीरवो ये ।

भवन्ति भक्त्या जिननाथवृष्टे, धर्म निरास्वादमदूषणं ते ॥ २८ ॥

अर्थ—जे संसारतैं भयभीत भव्यजीव जिननाथ करि उपदेश्य
जो धर्म ताहि भक्तिमहित सेवैं हैं, ते मोक्षपर्यंत सुखके भाजन होय
हैं । कैसा है धर्म, नाही है इंद्रियजनित विषयनिका आस्वाद जाविषैं,
अर रागादि दूषण करि रहित ऐसे ।

भावार्थ—जे पुरुष विषयरहित निर्दोष धर्म सेवै हैं ते चक्रवर्ती इन्द्र अहमिंद्र मोक्षपर्यंत सुख पावै हैं ॥ २८ ॥

लक्ष्मी विधातुं सकला समर्थ, सुदुर्लभं विश्वजनीनमेनं ।

परीक्ष्य गृह्णति विचारदक्षाः, सुवर्णवद्रं च न भीतचित्ताः ॥ २९ ॥

अर्थ—समस्त लक्ष्मीके रचनेकूं समर्थ, अर महादुर्लभ, अर समस्तका हित उपजावनेवाला ऐसा जो धर्म ताहि विचार विषै प्रवीन अर ठिगायवे करि भयभीत हैं चित्त जिनके ऐसे पुरुष हैं ते सुवर्णकी ज्यो परीक्षा करि ग्रहण करै हैं ।

भावार्थ—धर्म धर्म सब ही कहै हैं परन्तु परीक्षाप्रधान हैं ते. असाधारण लक्षणतैं परखि ग्रहण करै हैं ॥ २९ ॥

स्वर्गापवर्गामलसौख्यखानिं, धर्मं प्रहीतुं परमो विवेकः ।

सदा विधेयो हृदये प्रविष्टैर्बुधैस्तु तं रत्नमिवापदोषं ॥ ३० ॥

अर्थ—स्वर्ग मोक्षके निर्मल सुखनिकी खानि जा धर्म ताहि ग्रहण करनेको पंडित जन करि हृदयविषै परम विवेक सदा करने योग्य है । बहुरि ज्ञानवान तिस धर्मको निर्दोष रत्नकी ज्यो ग्रहण करै हैं ॥ ३० ॥

तं शब्दमात्रेण वदन्ति धर्मं, विश्वेपि लाका न विचारयन्ते ।

स शब्दसाम्येऽपि विचित्रभेदैर्विभिद्यते क्षीरमिवाचनीयं ॥ ३१ ॥

अर्थ—जिस धर्मको शब्दमात्र करि सब ही लोक कहै हैं, अर विचार न करै हैं । बहुरि सां पूजनोक धर्म शब्दकी समानता होतैं भी नाना प्रकारके भेदनि करि भेदरूप कीजिये हैं ।

भावार्थ—जैसे आकका दूध गायका दूध नाममात्र तो समान है, परन्तु गुणनि करि बड़ा भेद है, तैसे धर्म धर्म तो सब कहै हैं, परन्तु बीतरागभावरूप जिनधर्मविषै अर अन्य धर्म विषै बड़ा अन्तर है ॥ ३१ ॥

हिंसानृतस्तेयवरांगसंगप्रथमहा दत्तदुरंतदुःखाः ।

धर्मेषु येष्वत्र भवन्ति निष्ठास्ते दूरतो बुद्धिमता विवर्ज्याः ॥ ३२ ॥

अर्थ—इहां जिन धर्मनिविषे निदनीक अर दिये हैं महादुःख जिनने ऐसे हिंसा झूठ चोरी मैथुन परिग्रहरूप पिशाच हैं ते धर्म बुद्धिमान् करि दूरितें त्यागने योग्य हैं ॥ ३२ ॥

निहन्यते यत्र शरीरवर्गो, निपीयते मद्यमुपास्यते स्त्री ।

बोभुज्यते मांसमनर्थमूलं, धर्मस्य मात्रापि न तत्र नूनं ॥ ३३ ॥

अर्थ—जिस विषे जीवनिके समूह इनिए हैं, अर मदिरा पीये है, अर परस्त्री भोगिए है, अर अनर्थका मूल मांस भखिये है, तहां निश्चय करि धर्मका अंश नांही है ॥ ३३ ॥

बधादयः कल्मषहेतवो ये, न सेवितास्ते वितरन्ति धर्मम् ।

न कोदवाः कापि वसुन्धरायां, निधीयमाना जनयन्ति शालान् ॥ ३४ ॥

अर्थ—जे पापके कारण हिंसादिक ते सेये सन्ते धर्मकौ न विस्तरे हैं । जैने कौदू पृथ्वीविषे धरे सन्ते कहूं भी धान्य न उपजावें हैं तैसे ॥ ३४ ॥

हिंसापरस्त्रामधुमांससेवां, कुर्वति धर्माय विबुद्धयो ये ।

पीयूषलाभाय विवर्द्धयन्ते, विषद्रुमास्ते विविधैरुपायैः ॥ ३५ ॥

अर्थ—जे दुर्बुद्धि धर्मके अर्थ हिंसा परस्त्री मधु मांसका सेवन करे हैं ते अमृतके अर्थ नाना उपायनि करि विषवृक्षनिको बढ़ावें हैं ॥ ३५ ॥

यैर्मद्यमांसगिबघादयोयैर्निर्माणयुक्ताः कुशलाय शास्त्रैः ।

आकण्ठनीयानि न तानि दक्षैः, शत्रूदितानीव वचांसि जातु ॥ ३६ ॥

अर्थ—जिन शास्त्रनि करि यहू मद्य मांस जीबहिंसादिक करि रचैमये मंगलके अर्थ कहे, ते शास्त्र शत्रूके वचननिकी ज्यो पंडितनि करि कदाचित् सुनना योग्य नांही ॥ ३६ ॥

पठन्ति शृण्वन्ति वदन्ति भक्त्या, स्तुवन्ति रक्षन्ति नयन्ति वृद्धि

ये तानि शास्त्राप्यनुमन्यमानास्ते याति सर्वेऽपि कुयोनिमज्ञाः ॥३७॥

अर्थ—जे पुरुष तीन पापरूप शास्त्रनिकों नमते संते भक्ति करि पढ़े हैं सुने हैं स्तुति करें हैं रक्षा करें हैं वृद्धिकों प्राप्त करें हैं, ते सर्व ही अज्ञानी कुगतिकों प्राप्त होय हैं, नरक तिर्यञ्चादि गतिनमें अनंतकाल भ्रमै है ॥ ३७ ॥

धर्म ददतेऽगिबधादयोऽभी, विधीयमाना यदि नाम तथ्यं ।

सांसारिकाचारविधौ प्रवृत्ता, न पापिनः केऽपि तदा भवन्ति ॥३८॥

अर्थ—ये जीवहिंसा आदि करि भये जो प्रगटपने सत्यार्थधर्मको देय हैं तौ लौकिक आचारकी विधि विषे प्रवृत्तते कोई भी पापी न होय ।

भावार्थ—जो हिंसादिक ही धर्म होय तौ कषाई भील धीवर इत्यादिक सर्व ही धर्मात्मा ठहरें । ताते हिंसादिक हैं ते धर्म नाही ऐसा जानना ॥ ३८ ॥

रागादिदोषाकुलमानसैर्ये, ग्रंथाः क्रियन्ते विषयेषु लोलैः ।

कार्याः प्रमाणं न विचक्षणैस्ते, जिघृक्षुभिर्धर्ममगर्हणीयम् ॥ ३९ ॥

अर्थ—रागादि दोषनि करि व्याकुल अर विषयनि विषे चंचल जो पुरुष तिनकरि जे ग्रंथ कहिये है ते ग्रंथ अनिघ धर्मकूं प्रहण करनेके बाळक प्रवीण पुरुषनि करि प्रमाण करना योग्य नाहीं ।

भावार्थ—रागीद्वेषीनि करि रचे शास्त्र हैं ते अप्रमाण हैं ॥३९॥

ये द्वेषरागाश्रयलोभमोहप्रमादनिद्रामदखेदहीनाः ।

विज्ञातनिःशेषपदार्थतत्त्वास्तेषां प्रमाणं वचनं विधेयम् ॥ ४० ॥

अर्थ—जे द्वेष रागके आश्रय लोभ मोह प्रमाद निद्रा मद खेद इनिकरि रहित हैं, अर जाने हैं समस्त पदार्थनिके स्वभाव जिनने तिनके वचन प्रमाण करना योग्य है ।

भावार्थ—सर्वज्ञ वीतरागके वचन प्रमाण करना योग्य है । जाते रागी होय तो असत्य कहै । अर सर्वज्ञ न होय तो यथार्थ जाने विना कहा कहै ? ताते सर्वज्ञ वीतरागहीके वचन प्रमाण हैं ॥४०॥

रागादिदोषा न भवन्ति येषां, न संत्यसत्यानि वचांसि तेषां ।

हेतुव्यपाये न हि जायमानं, विलोक्यते किञ्चन कार्यमार्थैः ॥ ४१ ॥

अर्थ—जिनके रागद्वेष नहीं हैं तिनके वचन असत्य नहीं हैं, जाते कारणके नाश भये सते किल्ल कार्य बडे पुरुषनिकरि न विलोकिए है ।

भावार्थ—जैसे माटी आदि कारणके अभाव होते हैं घटादिक कार्य न देखिए है तैसे रागादिक हैं ते असत्य वचनके कारण हैं । रागादि विना असत्य वचन न होय हैं ऐसा जानना ॥ ४१ ॥

विना गुरुभ्यो गुणनीरधिभ्यो, जानाति धर्मं न विचक्षणोऽपि ।

निरीक्षते कुत्र पदार्थजातं, विना प्रकाशं शुभलांचनोऽपि ॥ ४२ ॥

अर्थ—चतुर पुरुष भी गुणनिके समुद्र जे गुरु तिन विना धर्मकों न जाने है । जैसे शुभ नेत्र सहित पुरुष भी प्रकाश विना पदार्थनके समूहकों कहुं देखै है ? अपितु नाहीं देखै है ॥ ४२ ॥

ये ज्ञानिनश्चारुचरित्रभाजा, प्राह्या गुरूणां वचनेन तेषाम् ।

सन्देहमत्यस्य बुधेन धर्मो, विकल्पनीयं वचनं परेषाम् ॥ ४३ ॥

अर्थ—जे ज्ञानवान सुन्दर चारित्रके धरनेवाळे हैं तिन गुरुनिके वचन करि सन्देह छोड़ि पंडित पुरुषकरि धर्म ग्रहण करना योग्य है । बहुरि ऐसे गुरुनि विना औरनिका वचन विकल्पनीय कहिये सन्देह योग्य है ॥ ४३ ॥

भीतेर्यथा वचनतः सुवर्णं, प्रताडनच्छेदनतापवर्षैः ।

तथा तपःसंयमशीलबोधैः, परीक्षणीयो गुरुशब्दबोधैः ॥ ४४ ॥

अर्थ—जैसे ठिगायवितें भयभीत जे पुरुष तिनकरि सुवर्ण जो है सो कूटना छेदना तपावना घिसना इनकरि वा गुरुषे शब्दके देवाकरि परखना योग्य है तैसें तप संयमशील निर्लोभपना इनि करि तथा गुरुके वचननिके ज्ञाननि करि धर्म परखना योग्य है। इहां “गुरुशब्दबाधैः” इस पदका अर्थ सुवर्णपक्षमें गुरुवे भारी शब्दके ज्ञान करि ऐसा लगाय लेना ॥ ४४ ॥

संसारमुद्भूतकषायदोषं, विलिखयंते गुरुणा विना ये ।

विभीमनक्रादिगणं ध्रुवं ते, वार्धि तितार्षति विना तरंडम् ॥ ४५ ॥

अर्थ—जे पुरुष उपजे हैं कषायरूप दोष जातें ऐसा जो संसार समुद्र ताहि श्रंगमेरु विना अतिशयकरि उलंघे चाहै हैं, ते निश्चयकरि महाभयानक है। नक्रादिकके समूह जा विषें ऐसे समुद्रकूं नाव विना तैरना चाहै हैं ॥ ४५ ॥

येषां प्रसादेन मनःकरीड्रः, क्षणेन वश्यो भवतीह दुष्टः ।

भजन्ति ये तान् गुणिनां न भक्त्या, तेभ्यः कृतज्ञान परे भवति ॥ ४६ ॥

अर्थ—इहां लोकविषें जिनके प्रसादकरि मनरूप गजेन्द्र क्षण-मात्र करि वश होय है, तिन गुणवान गुरुनिकों जे भक्तिसहित न सेवै हैं तिनतें सिवाय और कृतज्ञी कौन है ? ॥ ४६ ॥

कृतोपकारो गुरुणा मनुष्यः, प्रपद्यते धर्मपरायणत्वम् ।

चामीकरस्येव सुवर्णभावं, सुवर्णकारेण विशारदेन ॥ ४७ ॥

अर्थ—गुरुने करया है उपकार जापै ऐसा जो मनुष्य है सो धर्मविषें परायणपनाकों प्राप्त होय है। जैसे चतुर सुनार करि सुवर्णके भले वर्णका भाव होय तैसें ।

भावार्थ—जैसे सुनारकी संगति करि सोना सोलहवानीका होय है तैसें श्रीगुरुके प्रसाद करि जीव धर्मकों प्राप्त होय है ऐसा जानना ॥ ४७ ॥

विवर्त्तमानो व्रततो गुरुभ्यो, न शक्यते वारयितुं परेण ।

ब्रह्मकवादी व्यवहारकार्ये, साक्षीकृतैरेव नियम्यते हि ॥ ४८ ॥

अर्थ—व्रततें पराङ्मुख होता जो पुरुष सो गुरु विना और करि रोकनेकूं समर्थ न हूजिये है । जैसे व्यवहारकार्य विषे झूठ बोलनेवाला पुरुष जे साक्षी करें हैं तिन करि ही निश्चय करि रोकिए है तैसैं ॥ ४८ ॥
दुग्धेन धेनुः कुसुमेन वल्ली, शीलेन भार्या सरसी जलेन ।

न सूरिणा भाति विना व्रतास्या, शमेन विद्या नगरी जनेन ॥ ४९ ॥

अर्थ—दुग्धसें गाय सोहै है, अर फूलनिसें बेलि सोहै हैं, अर शीलसें स्त्री सोहै है अर जलसें अलाइ सोहै है, आचार्यकें विना व्रतकी स्थिति नहीं होय है, शांतिबावसें विद्या सोहै है, मनुष्यनिसें नगरी सोहै है ॥ ४९ ॥

विधीयते सूरिवरेण सारो, धर्मो मनुष्ये वचनैरुदारैः ।

मेघेन देशे सलिलैः फलाढ्यै, निरस्ततापैरिव सस्यवर्गः ॥ ५० ॥

अर्थ—जैसें दूरकिया है ताप जिननें ऐसे जलनि करि फलसहित देशमें मेघकरि धान्यका समूह उपजाइए है तैसें उदार वचननि द्वारा आचार्यकरि मनुष्यविषे सारभूत धर्म उपजाइए है ॥ ५० ॥

लब्ध्वापदेश महनीयवृत्तेर्गुरोरनुष्ठाय विनीतचेताः ।

पापस्य भव्यो विदघाति नाशं, व्याधेरिव व्याधिनिषूदनस्य ॥ ५१ ॥

अर्थ—जैसें रोगी वैद्यका उपदेश ग्रहण करि वाकी बताई औषधिकों लेकरि व्याधिका नाश करै है तैस विनययुक्त है चित्त जाका ऐसा भव्य, पूज्य है आचरण जाका ऐसे गुरुके उपदेशको प्राप्त अर वाकूं अनुष्ठान करि पापका नाश करै है ।

भावार्थ—जैसें रोगी वैद्यके उपदेशतें रोगकूं नाशै है तैसें भव्य गुरुके उपदेशतें पापको नाशै है ॥ ५१ ॥

सर्वोपकारं निरपेक्षचित्तः करोति यो धर्मधिया यतीशः ।

स्वकार्यनिष्ठैरुपमीयतेऽसौ कथं महात्मा खलु बंधुलोकैः ॥ ५२ ॥

अर्थ—जो आचार्य विनास्वार्थके धर्मबुद्धिकरि सर्वका उपकार करै है सो यह महात्मा अपने अपने कार्य साधने विषे तत्पर ऐसे बन्धुलोकनि करि कैसैं बराबर डूजिए हैं ॥ ५२ ॥

निषेद्यमाणानि वचांसि येषां, जीवस्य कुर्वत्यजराभरत्वम् ।

नाराधनीया गुरवः कथं ते, विभीरुणा संसृतिराक्षसीतः ॥ ५३ ॥

अर्थ—जिन आचार्यनके वचन सेवन किये भए जीवके अजरा-भरपना करिए हैं वे गुरु संसाररूप राक्षसीतें डरे भए पुरुष करि कैसैं आराधना न किए जाय हैं, अपितु आराधना किए ही जाय हैं ॥ ५३ ॥

माता पिता ज्ञातिनराधिपाद्या, जीवस्य कुर्वत्युपकारजातम् ।

यत्सूरिदत्तामलधर्मनुज्ञा, स्तेनैष तेभ्योतिशयेन पूज्यः ॥ ५४ ॥

अर्थ—माता पिता जाति राजा आदिक जे हैं तं आचार्य करि दिये हुए निर्मल धर्मसे प्रेरित हुए धके जीवके उपकारनिके समूहको करै है अर आचार्य विना प्रेरे हुए ही करै है तातें या अतिशय करि गुरु जो है सो माता पिता जाति राजादिक करि भी पूज्य हैं ॥ ५४ ॥

निषेवमाणो गुरुपादपद्मं, त्यक्तान्यकर्मा न करोति धर्मम् ।

प्ररूढसंसारवनक्षयाग्नि, निरर्थकं जन्म नरस्य तस्य ॥ ५५ ॥

अर्थ—छोड़े हैं अन्य कार्य जानें ऐसा गुरुके चरणकमलको ही सेवन करै ऐसा जो पुरुष, अंकुरित ऐसा जो संसार बन ताके नाश करनेमें अग्नि समान ऐसे धर्मको न करै है वा पुरुषका जन्म निरर्थक है ॥ ५५ ॥

ये सूरयो धर्मधिया ददन्ति, यं बाधवः स्वार्थधिया अनानाम् ।

अर्थ तयोरन्तरमत्र धैर्यं, सताणुमेवोरिव जायमानम् ॥ ५६ ॥

अर्थ—जो अर्थकी आचार्य तौ धर्मबुद्धिकरि मनुष्यनिकी देवें हैं अर भाई बन्धु जन स्वार्थबुद्धिकरि देवें हैं सो यहाँ सत्पुरुषनिकरि इन दोऊनिमें परमाणु अर मेरुमें होय ऐसे अन्तर समान अन्तर जानता योग्य हैं ।

भावार्थ—आचार्य अर भाई बन्धुनिमें इतना अन्तर है जितना सुमेरु अर परमाणुमें है ॥ ५६ ॥

लक्ष्मी करींद्रश्रवण-स्थिरत्वां, तृणाप्रतोयस्थिति जीवितव्यम् ।

विस्तृत्वरौ यौवनिकां च दृष्ट्वा, धर्मं न कुर्वति कथं महान्तः ॥ ५७ ॥

अर्थ—लक्ष्मीकूं हाथीके कानसमान चंचल देखि करि अर तृणनिकी अनीपर लग्या जलकी स्थिति समान जीवितव्य देखकरि अर यौवन अतिशयकरि जानेवाला देखि करि महंत पुरुष धर्म कैसें न करें हैं ? करेंही हैं ॥ ५७ ॥

अनशरीं यो विदधाति लक्ष्मीं, विधूय सर्वां विपदं क्षणेन ।

कथं स धर्मः क्लियते न सद्भिस्त्याज्येन देहेन मलालयेन ॥ ५८ ॥

अर्थ—जो धर्म क्षणमात्रमें सर्व विपदानिकी दूरि करि अविनश्वर लक्ष्मीकूं करैहै सो धर्म सत्पुरुषनिकरि मलका घर अर त्यागने योग्य ऐसे देहकरि कैसें न करिये है ॥ ५८ ॥

पिंडं ददाना न नियोजयंते, कलेवरं भूत्यमिवात्मनीने ।

कार्ये सदा ये रक्षितोपकारे, ते वंचयंते स्वयमेव मूढाः ॥ ५९ ॥

अर्थ—जे पुरुष भोजन देते सन्ते अर शरीरको चाकरकी ज्यों सदाकाल करघा है उपकार जानें ऐसे अपने हितरूप कार्यविषे न लगावै हैं ते मूढ़ स्वयमेव ठिगावें हैं ।

भावार्थ—जैसें कोई चाकरकी भोजनादि सामग्री तौ देवै अर अपने हितरूप कार्यमें न लगावै तब वो स्वच्छन्द होय है अर मालिक

ठिगाया जाय है तैसें शरीरकों भोजनादि सामग्रीते तो पोषेहैं अर हितरूप तपश्चरणादि कार्यमें न लगावें हैं ते ठिगाये जाय हैं ऐसा जानना ॥ ५९ ॥

गृहांगजापुत्रकलत्रमित्रस्वस्वामिभृत्यादिपदार्थवर्गो ।

विहाय धर्म न शरीरभाजामिहास्ति किञ्चित्त्वहगामि पध्यम् ॥ ६० ॥

अर्थ—इस लोकमें गृह पुत्री पुत्र स्त्री मित्र धन स्वामी चाकर आदि पदार्थनिके समूहविषे धर्मकों छोड़ और किल्लू जीवनिके साथ जानेवाला हितकारी नाहीं ।

भावाथ—इस जीवका साथी धर्म ही है और पदार्थ साथी नाहीं ॥ ६० ॥

घातिक्षयोद्भूतविशुद्धबोध, प्रकाशविद्योतितसर्वतत्वाः ।

भवन्ति धर्मेण जिनेन्द्रचन्द्रा, खिलोकनाथाञ्चितपादपद्माः ॥ ६१ ॥

अर्थ—घातिया कर्मनिके क्षयते उपज्या जो निर्मल केवलज्ञान ताके प्रकाश करि प्रकाशे हैं सर्व पदार्थ जिनने अर तीनलोकके नाथ जे इंद्र धरणेन्द्र चक्रवर्ती तिन करि पूजित हैं चरणकमल जिनके ऐसे जे जिनेन्द्रचन्द्र तीर्थकर भगवान हैं ते धर्मकरि होय हैं ॥ ६१ ॥

आराध्यमानस्त्रिदशैरनेकैर्विराजते स्वैः प्रतिबिम्बकैर्वा ।

धर्मप्रसादेन निल्लिपराजः, सुरांगनावक्त्रसरोजभृङ्गः ॥ ६२ ॥

अर्थ—धर्मके प्रसादकरि अपने प्रतिबिम्ब समान अनेक देवनि करि सेज्यमान देवनिका राजेन्द्र सोहै है, कैसा है इन्द्र देवांगनानिके मुख कमलनिविषे भृङ्गसमान है ।

भावाथ—इन्द्रपद धर्म करि मिले है ऐसा जानना ॥ ६२ ॥

द्वात्रिंशदुर्वाशसहस्रमूर्द्ध—प्रसूनमालापिहित्वाग्निपथः ।

धर्मेण राज्यं विदधाति चक्री, विलम्बमानस्त्रिदशेशलीलाय् ॥ ६३ ॥

अर्थ—धर्मकरि चक्रवर्ती राज्यको धारे हैं, कैसा है चक्रवर्ती बत्तीस हजार राजानिके मस्तकनिकी जे पुष्पनिकी माला तिनकर मिले हैं चरणकमल जाके अर इन्द्रकी लीलाको धरे ऐसा चक्रवर्ती धर्म करि होय है ॥ ६३ ॥

मनोभवाक्रांतविदग्धरामा, कटाक्षलक्षीकृतकांतकायः ।

दिगंगनाव्यापिविशुद्धकीर्तिधर्मेण राजा भवति प्रतापी ॥ ६४ ॥

अर्थ—कामकरि भरी अर चतुर जे स्त्री तिनके कटाक्षनि करि निसानारूप किया है दैदीप्यमान शरीर जाका अर दिशारूप स्त्रीनि विषे व्यापी है निर्मल कीर्ति जाकी ऐसा प्रतापी राजा धर्म करि होय है ॥ ६४ ॥

मतंगजा जंगमशैललीलास्तुरंगमा निर्जितवायुवेगाः ।

पदातयः शक्रपदातिकल्पाः, रथा विवस्वद्रथसन्निकाशाः ॥ ६५ ॥

योषाः स्वशोभाजितदेवयोषाः, निल्पिपवासप्रतिमा निवासाः ।

अनन्यलभ्या घनधान्यकोशाः, भवंति धर्मेण पुरार्जितेन ॥ ६६ ॥

अर्थ—चालते पर्वतनिकी लीला धरे ऐसे हस्ती, अर जील्या है पवनका वेग जिनने ऐसे घोड़े, अर इन्द्रके पयादेसमान पयादे, अर सूर्यके रथके तुल्य रथ ॥ ६५ ॥

बहुरि अपनी शोभाकरि जीती हैं देवांगना जिनने ऐसी स्त्री, अर इन्द्रके मंदिरसमान महल, अर औरनिकरि न पावने योग्य ऐसे घन धान्यनिके भण्डार पूर्वोपार्जित धर्मकरि होय हैं ॥ ६६ ॥

परेऽपि भावा भुवने पवित्रा, भवंति पुण्येन विना जनस्य ।

विनामृणालैः कचनापि दृष्टाः, संपद्यमाना न पयोजखण्डाः ॥ ६७ ॥

अर्थ—लोकविषे और भी जे पदार्थ हैं ते पुण्यविना जीवके न होय हैं जैसे मृणाल जो कमलकी जड़ तिनविना कमलानिके बन कभी प्राप्त भए न देखे ॥ ६७ ॥

स्वपूर्वलोकानुचितोऽपि धर्मो, प्राह्यः सतां चिन्तितवस्तुदायी ।

प्रपार्थयन्ते न किमीश्वरत्वं, स्वजात्ययोग्यं जनता षदापि ॥ ६८ ॥

अर्थ—अपने पूर्वलोक जे पितादिक तिनके अनुचित भी धर्म सत्पुरुषनिकों वांछित वस्तुका देनेवाला प्रहण करना योग्य है, जैसे अपनी जातिके अयोग्य जो ईश्वरपना ताहि लोक कहा अतिशयकरि सदा न चाहे है ? अपितु चाहेही है ।

भावार्थ—कोऊ कहै हमारे कुलमें जिनधर्म नांही हम कैसे प्रहण करें ताकूं कहै हैं—जो अपने कुलमें जिनधर्म नांही तो भी नवीन प्रहण करना योग्य है । जैसे कोउकों नवीन राज्य मिलै तौ कहा प्रहण न करै ? ॥ ६८ ॥

त्यजन्ति वंशानतमप्यवधं, संप्राप्य पुण्यं जनतार्चनीयम् ।

कुष्ठं कुलायातमपि प्रवाणः, कल्पत्वमासाद्य परित्यजन्ति ॥ ६९ ॥

अर्थ—जैसे सुन्दर शरीर निरोगपनाकूं पायकरि प्रवीण पुरुष कुलविषे चल्या आया भी जो कुष्ठ रोग ताहि तजेंहैं तैसें लोकपूज्य धर्मकों पायकरि कुलमें चल्या आया भी जो पाप ताहि तजें हैं ॥ ६९ ॥

मूर्खापवादन्नसनेन धर्मं, मुञ्चन्ति सन्तो न बुधार्चनीयम् ।

ततो हि दोषः परमाणुमात्रां, धर्मव्युदासे गिरिराजतुल्यः ॥ ७० ॥

अर्थ—मूर्खनके अपवादक भयकरि पंडितनिकरि पूज्य जो धर्म ताहि सत्पुरुष न त्यागैहै, जातें तिस मूर्खापवादतें तौ दोष परमाणु-मात्र है अर धर्मनाश भए सुमेरुतुल्य दोष है ऐसा जानना ॥ ७० ॥

निखिलसुखफलानां कल्पने कल्पवृक्षं, कुमतिमत्विभीता ये विमुञ्चन्ति धर्मम् । विमलमणिनिधानं पावनं दुष्टतुष्ट्यै, स्फुटमपगतबोधाः प्राप्य ते बर्जयन्ति ॥ ७१ ॥

अर्थ—जे कुबुद्धिनिके मततें भयभीत भये सन्ते समस्तसुखरूप फलनिके देनेविषे कल्पवृक्ष तुल्य जो धर्म ताहि तजें हैं ते अज्ञानी पवित्र निर्मल रत्नका मण्डारकों प्रगट पायकरि दुष्टनिकी प्रसन्नताके अर्थ त्यागें हैं ॥ ७१ ॥

अमरनरविभूतिं यो विधायार्थनीयां, नयति निरपवादां लीलया मुक्तिलक्ष्मीम् । अमितगतिजिनोक्तः सेव्यतामेष धर्मः, शिवपदमवधं लब्धकामैरकामैः ॥ ७२ ॥

अर्थ—जो धर्म, प्रार्थना योग्य जो देवमनुष्यनिकी विभूति ताहि रचि, अर लीलामात्र करि निर्दोष लक्ष्मीकों प्राप्त करै है सो अमितगति-जिनोक्त कहिए अनन्त है ज्ञान जाका ऐसे जिनदेव करि कहा अथवा अमितगत्याचार्यकरि कहा यहु धर्म पापरहित शिवपद लेनेके वांछक अर रहित काम जे जीव तिनकरि सेवना योग्य है ॥ ७२ ॥

छप्पय ।

दुर्लभनरभव पाय अन्य कारज तज दीजे,

होय विषयतें विमुख सुगुरुवचनामृत पीजे ।

मिथ्याभाव निवार सार जिनधर्म धार उर,

इन्द्रादि पद पाय धर्मतें होय जगतगुर ॥

कल्याणकार कलिमलहरन, धर्म परम उत्तम सरन ।

जिनराज अमितगति कथित, तसु भागचन्द बंदित चरन ॥

ऐसें श्री अमितगति आचार्यकृत भावकाचारविषे
पहला परिच्छेद समाप्त भया ।



द्वितीय परिच्छेद

मिथ्यात्वं सर्वया हेयं, धर्मं वर्द्धयता सता ।

विरोधो हि तयोर्वादे, मृत्युजीवितबोरिव ॥ १ ॥

अर्थ—धर्मकों बढावता जो सत्पुरुष ताकरि मिथ्यात्व सर्व प्रकार त्यागना योग्य है, जाते मिथ्यात्व अरु धर्म इन दोठनिका मरन अरु जीवनकी ज्यो अतिशय करि बड़ा विरोध है ॥ १ ॥

संयमा नियमाः सर्वे, नाशयंते तेन पावनाः ।

क्षयकालानलेनेव, पादपाः फलशालिनः ॥ २ ॥

अर्थ—जैसे प्रलयान्नि करि फलनि करि शोभित जे वृक्ष हैं ते नाशकूँ प्राप्त होय हैं तैसे तिस मिथ्यात्व करि पवित्र संयम नियम सर्व नाशकों प्राप्त होय हैं ॥ २ ॥

अतत्त्वमपि पश्यंति, तत्त्वं मिथ्यात्वमोहिताः ।

मन्यंते तृषितास्तोयं, मृगा हि मृगतृष्णिका ॥ ३ ॥

अर्थ—मिथ्यात्व करि मोहित जीव हैं ते अतत्त्वकों तत्व माने हैं, जैसे तिसारा मृग हैं ते मृगतृष्णाकूँ निश्चय करि जल माने हैं ॥ ३ ॥

विभ्रंता क्रियते बुद्धिर्मनोमोहनकारिणा ।

मिथ्यात्वैनोपयुक्तेन, मद्येनेव शरीरिणः ॥ ४ ॥

अर्थ—मनकों अचेन करनेवाला उपयुक्त मया जो मिथ्यात्व ताकरि मदिराकी ज्यो जीवकी बुद्धि विशेष भ्रांतिरूप करिये हैं ॥ ४ ॥

पदार्थानां जिनोक्तानां, तदश्रद्धानलक्षणम् ।

ऐकांतिकादिभेदेन, सप्तभेदमुद्राह्वयम् ॥ ५ ॥

अर्थ—जिन भाषित जीवादिक पदार्थनिका अश्रद्धान है लक्षण जाका ऐसा, सो मिथ्यात्व ऐकांतिक आदि भेद करि सात प्रकार कहा है ॥ ५ ॥

अब एकांत, संशय, विनय, गृहीत, विपरीत, निसर्ग, मूढदृष्टि, ऐसे सात प्रकार मिध्यात्वका स्वरूप कहें है,—

क्षणिकोऽक्षणिको जीवः, सर्वथा सगुणोऽगुणः ।

इत्यादि भाषमाणस्य, तदैकांतिकमिष्यते ॥ ६ ॥

अर्थ—जीव एकांत करि सर्व प्रकार क्षणिक ही है, वा नित्य ही है, वा निर्गुण ही है, वा सगुण ही है, इत्यादिक कहनेवाले के एकांत मिध्यात्व कहिए ॥ ६ ॥

सर्वज्ञेन विरागेण, जीवाजीवादि भाषितम् ।

तथ्यं न वेति संकल्पे, दृष्टिः सांशयिकी मता ॥ ७ ॥

अर्थ—सर्वज्ञ वीतराग करि कहा जा जाँव अजाँव आदि तत्व सो सत्य हैं अथवा असत्य हैं ऐसे विकल्प होतेमें संशयजनित दृष्टि कही है ।

भाषार्थ—सो संशयमिध्यात्व कहा है ॥ ७ ॥

आगमा लिङ्गिनो देवाः, धर्माः सर्वे सदाभमाः ।

इत्येषा कथ्यते बुद्धिः, पुंसो वैनयिकी जिनैः ॥ ८ ॥

अर्थ—सर्व आगम, अर सर्वभेषी, अर सर्व देव अर सर्व धर्म सदा समान हैं ऐसी यह पुरुषकी बुद्धि, जिनदेवनिकरी विनय-मिध्यादृष्टि कहिए है ॥ ८ ॥

पूर्णः कुहेतुदृष्टांतैर्न तत्त्वं प्रतिपद्यते ।

मंडलधर्मकारस्य, भोजयं चर्मलंबेरिव ॥ ९ ॥

अर्थ—खोटे हेतु दृष्टांतनि करि भग्या पुरुष तत्वकों प्राप्त न होय है जैसे चर्मके टुकडानि करि पूर्ण चमारका कुत्ता भोजनकों प्राप्त न होय है ।

भाषार्थ—जैसे चमारका कुत्ता चर्मके टुकडे खाय है तानों

भोजन न रुचि तैसै खोटे हेतु दृष्टान्तनि करि सहित मिथ्यादृष्टी तत्त्वकों न पावै है सो गृहीत मिथ्यादृष्टी है ॥ ९ ॥

अतथ्यं मन्यते तथ्यं, विपरीतरुचिर्जनः ।

दोषातुगमनास्तिक्तं, ज्वरीव मधुरं रसम् ॥ १० ॥

अर्थ—जैसै वातपित्तादि दोषनि करि आतुर जो ज्वरसहित पुरुष सो मिष्टरसको कटुक मानै है तैसै विपरीत है रुचि जाके ऐसा जीव सत्यार्थको असत्याथ मानै है, यह विपरीत मिथ्यादृष्टी जानना ।

दीनो निषर्गमिथ्यात्वात्तत्वात्त्वं न बुध्यते ।

सुन्दरासुन्दरं रूपं, जात्यंघ इव सर्वथा ॥ ११ ॥

अर्थ—जैसै जनमका अन्धा पुरुष सर्वथा सुन्दर या असुन्दर रूपकों न जानै है तैसै दीन एकेन्द्रियादि अज्ञानी जीव स्वभावजनित मिथ्यात्वतै तत्त्वकों न जानै है, ऐसा निषर्ग मिथ्यात्वका स्वरूप कहा ॥ ११ ॥

देवो रागी यतिः संगी, धर्मः प्राणिनिशुम्भनम् ।

मृढदृष्टिरिति ब्रूते, युक्तयुक्ताविवेचकः ॥ १२ ॥

अर्थ—योग्य अयोग्यके विवेकरहित मृढ है दृष्टि जाकी ऐसा पुरुष सो रागी देव अर परिप्रहारी गुरु, जीवनिकी हिसारूप धर्म ऐसे कहै है यह विपरीत मिथ्यादृष्टि लक्षण कहा है ॥ १२ ॥

सप्तप्रकारमिथ्यात्वमोहितेनेति जन्तुना ।

सर्वं विषाकुलेनेव, विपरीतं विलोक्यते ॥ १३ ॥

अर्थ—ऐसे सातप्रकार मिथ्यात्वकरि मोहित जो जीव ताकरि विषाकुलकी ज्यों सर्व विपरीत देखिए है ॥ १३ ॥

न तत्त्वं रोचते जीवः, कथ्यमानमपि—स्फुटम् ।

कुर्षीरुक्तमनुक्तं वा, निषर्गेण पुनः परम् ॥ १४ ॥

अर्थ—कुबुद्धि जीव प्रगट उपदेश्या तत्त्वकों भी नहीं श्रद्धान करै है । बहुरि कहा वा विना कहा जो अतत्त्व ताहि स्वभावकरि ही श्रद्धान करै है ॥ १४ ॥

पठनपि वचो जैनं, मिथ्यात्वं नैव मुञ्चति ।

कुदृष्टिः पन्नगो दुग्धं, पिवन्नपि महाविषम् ॥ १५ ॥

अर्थ—जैसे दुग्धकों पीवता भी सर्प महाविषकों न ल्यागै है तैसे मिथ्यादृष्टि जीव जिनवचनकों पढ़ता भी मिथ्यात्वकों न ल्यागै है ॥ १५ ॥

उदये दृष्टिमोहस्य, मिथ्यात्वं दुःखकारणम् ।

घोरस्य सन्निपातस्य, पंचत्वमिव जायते ॥ १६ ॥

अर्थ—जैसे घोर सन्निपातके उदय होतसंते मरण होय है तैसे दर्शनमोहका उदय होतसंते दुःखका कारण मिथ्यात्व होय है ॥ १६ ॥

बहु बध्नाति यः कर्म, स्तोत्रं मुक्ते कुदर्शनं ।

स भवाण्यदुःखेभ्यो, विमोक्ष लक्ष्यते कथं ॥ १७ ॥

अंजलिं बल्भमानस्य, पुरुषस्य दिने दिने ।

धान्यस्य गृह्यतः खारी, कहा धान्यविमुक्तता ॥ १८ ॥

न वक्तव्यमिति प्राज्ञैः, कदाचन यतो भवी ।

कर्म मुक्ते बहु स्तोत्रं, स्वीकरोति विमंशयं ॥ १९ ॥

अन्यथैकेन जीविन, सर्वेषां कर्मणां ग्रहे ।

सर्वेषां जायतेऽन्येषां, न कथं मुक्तिमंगतिः ॥ २० ॥

समस्तानां तथैकेन, पुद्गलानां ग्रहेगिना ।

अनेतः ननकालेन, न बन्धः सांतरः कथम् ॥ २१ ॥

अर्थ—जो मिथ्यादृष्ट बहूत कर्म बांधै है अर योड़ा कर्म भोगै है सो संमारवनके दुःखनिंते मोक्ष कैसे पावैगा ॥ १७ ॥

अर्थ—जैसे दिनदिन विषे धान्यकी अञ्जली खाते अर खारी ग्रहण करते कै धान्यका बीतना कदे हूनी होय ॥ १८ ॥

ऐसें कोऊ कहै तासें आचार्य कहै है—

बुद्धिवाननि करि “ न वक्तव्यं ” कहिए ऐसा कहना कदाचित् योग्य नाहीं, जाते संसारी जीव निश्चयते बहुत कर्म भोगै है अर थोड़ा अङ्गीकार करै है ॥ १९ ॥

जो ऐसे नहीं होय तौ एक जीव करि सर्व कर्मनिका ग्रहण होत-सन्ते बाकी और सर्व जीवनिके मुक्तिकी प्राप्ति कैसें न होय ॥ २० ॥

बहुरि तैसें ही एक जीवकरि सर्व पुद्गलनिका ग्रहण न होतें जीवनिके अनंतानंत कालकरि अन्तरसहित बन्ध कैसें न होय ऐसा उत्तर है ॥ २१ ॥

सस्यानीबोषरे क्षेत्रे, निक्षिप्तानि कदाचन ।

न व्रतानि प्ररोहंति, जीवे मिथ्यात्ववासिते ॥ २२ ॥

अर्थ—जैसें ऊषर भूमिविषे बोए भए धान्य कदाचित् न उपजे हैं तैसें मिथ्यात्वकरि वासित जो जीव ताविषे व्रत नाहीं होय हैं ॥ २२ ॥

मिथ्यात्वेनानुबिद्धस्य, शल्येनेव महीयसा ।

समस्तापनिधानेन, जायते निर्वृतिः कुतः ॥ २३ ॥

अर्थ—जैसें महाशल्यकरि अनुबिद्ध पुरुषके सुख कहाते होय ? वैसें समस्त आपदानिका निधान जो मिथ्यात्व ताकरि अनुबिद्ध पुरुषके सुख काहेते होय है ? नाहीं होय है ॥ २३ ॥

षोढानायतनं जन्तोः, सेवमानस्य दुःखदं ।

अपथमिव रोगित्वं, मिथ्यात्वं परिवर्द्धते ॥ २४ ॥

अर्थ—जैसें अपथकों सेवन करते के रोगीपना बढ़ै है तैसें दुःखदायक जो छह प्रकार अनायतन ताकूँ सेवता जो पुरुष ताके मिथ्यात्व बढ़ै है ॥ २४ ॥

मिथ्यादर्शनविज्ञान, चारित्रैः सहभाषिताः ।

तदाधारजनाः पापाः, षोढानायतनं जिनैः ॥ २५ ॥

अर्थ—मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र इन तीननि करि सहित पापरूप तिन मिथ्यादर्शनादिकके आधार मनुष्य ऐसे छह प्रकार अनायतन जिनदेवनि करि कहे हैं ।

भावार्थ—मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र ये तीन; अर तिनके धारक पुरुष तीन, ऐसे छह अनायतन जानना । आयतन नाम ठिकानेका है सो ये धर्मके ठिकाने नाहीं तातैं अनायतन कहे हैं ॥२५॥

एकैकं न त्रयो द्वे द्वे, राचन्ते न परे त्रयः ।

एकखाणीति जायते, सप्तान्येते कुदर्शनाः ॥ २६ ॥

अर्थ—तीन तौ सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रविषे एककौन मानें हैं । अर और तीन मिथ्यादृष्टि दोगकौ न मानें हैं । बहुरि एक तीननकौ न जानै है ऐसैं ये सात मिथ्यादृष्टे होय हैं ॥ २६ ॥

दवीयः कुरुते स्थानं, मिथ्यादृष्टिरभीप्सितम् ।

अन्यत्र गमकारीव, घोरैर्युक्तो ब्रतैरपि ॥ २७ ॥

अर्थ—घोर ब्रतनि करि सहित भी मिथ्यादृष्टि बांछित स्थानकौ अन्य स्थान जानेवालेकी ज्यों अतिदूर करै है ।

भावार्थ—जैसें मारगतें अन्यत्र चलनेवाला बहुत चालता भी बांछित स्थानकौ उलटा दूर करै है तैसें मिथ्यादृष्टि घोर तप करता भी बांछित मोक्षपदकौ उलटा दूर करै है कर्म बाधै है, ऐसा जानता ॥२७॥

न मिथ्यात्वममः शत्रुर्न, मिथ्यात्वममं विषम् ।

न मिथ्यात्वसमो रागा, न मिथ्यात्वसमं तमः ॥ २८ ॥

अर्थ—मिथ्यात्वसमान वैरी नाहीं, अर मिथ्यात्वसमान विष नाहीं, अर मिथ्यात्वसमान रोग नाहीं, अर मिथ्यात्वसमान अन्धकार नाहीं ॥ २८ ॥

द्विषद्विषतमं रोगैर्दुःखमेकत्र दीयते ।

मिथ्यात्वेन दुरन्तेन, जन्तोर्जन्मनि जन्मनि ॥ २९ ॥

अर्थ—वैरी, विष, अन्धकार रोग इन करि दुःख एक जन्मविषे दीजिए है । अर दूर है अन्त जाका ऐसा जो मिथ्यात्व ताकरि जीवकी जन्म जन्मविषे दुःख दीजिए है ॥ २९ ॥

वरं ज्वालाकुले क्षितो, देहिनात्मा हुताशने ।

न तु मिथ्यात्वसंयुक्तं, जीवितव्यं कथंचन ॥ ३० ॥

अर्थ—ज्वालानि करि आकुल जो अग्नि ताविषे तौ आत्मा खेप्या भला परन्तु मिथ्यात्वसहित जीवना कोई प्रकार भला नाहीं ॥ ३० ॥

पापे प्रवर्त्यते येन, येन धर्मान्निवर्त्यते ।

दुःखे निक्षिप्यते येन, तन्मिथ्यात्वं न शांतये ॥ ३१ ॥

अर्थ—जिष मिथ्यात्व करि पापविषे प्रवृत्ति कराइये है, अर धर्मते पराम्मुख करिए है, अर दुःखविषे पटकिये है सो मिथ्यात्व शांतिके अर्थ नाहीं ।

भावार्थ—मिथ्यात्वसेवन करि कोऊ शांति मानै सो मिथ्यात्व-करि शांति न होय है उलटा विग्र होय है ऐसा जानना ॥ ३१ ॥

क्षेत्रस्वभावतो घोरा, निरन्ता दुःसहाश्वराम् ।

विविधा दुर्वचाः श्मश्रे, कायमानससंभवाः ॥ ३२ ॥

दाहवाहांकनच्छेदशीतवातादिगोचराः ।

परायत्तेषु तियंक्षु, विवेकरहितात्मसु ॥ ३३ ॥

दैन्दारिद्र्यदौर्भाग्य, रोगशोकपुरःसराः ।

आर्यन्लेच्छप्रकारेषु, मानुषेषु निरन्तराः ॥ ३४ ॥

स्वस्य हानिं परस्पद्विमीक्षमाणेषु मानिषु ।

योज्यमानेषु देवेषु, हठतः प्रेष्यकर्मणि ॥ ३५ ॥

मिथ्यात्वेन दुरन्तेन, विधीयन्ते शरीणिणाम् ।

वेदना दुःसहा भीमा, वैरिणेव दुरात्मना ॥ ३६ ॥

अर्थ—क्षेत्रके स्वभाव करि भयानक अर अन्तरहित दुःख करि सहे जाय ऐसे नानाप्रकार दुर्वचनतें उपजी वा शरीर मनतें उपजी बहुत कालपर्यन्त नरकविषे जे दुःखवेदना होते, बहुरि विवेकरहित पराधीन तिर्यचयोनिमें दाहदेना बांधना चिह्न करना शीत वात इत्यादिकतें उपजी पीड़ा, बहुरि आर्यम्लेच्छ है भेद जिनके ऐसे मनुष्यनिविषे निरन्तर दीनपना, दारिद्र्यपना, दुर्भाग्यपना, रोग, शोक आदि अनेक वेदना, बहुरि हठतें चाकरके कर्मविषे युक्त भये अर अपनी हानि अर दूषरेनकी वृद्धि देखनेतै ऐसे मानी देवनिविषे दुःख-करि सुनी जाय ऐसी भयानक वेदना दुष्ट वैरीकी ज्यो दूर है अन्त जाका ऐसा जो मिथ्यात्व ता करि जीवनिकें करिये है ।

भावार्थ—चारगति सम्बन्धी दुःखनिका मूल कारण एक मिथ्यात्व है ऐसा जानना ॥ ३६ ॥

यान्यन्यान्यपि दुःखानि, संसाराभोधवर्तिनाम् ।

न जातु यच्छता तानि, मिथ्यात्वेन विरम्यते ॥ ३७ ॥

अर्थ—संसारसमुद्रवर्ती प्राणीनिकौ और भी जो दुःख है तिनहि देता जो मिथ्यात्व ताकरि अंतकौ प्राप्त न हूजिये है ।

भावार्थ—और भी अनेक दुःखनिकौ देता मिथ्यात्व गमन न पाय है, निरंतर दुःख देय है ॥ ३७ ॥

विवेको हन्यते येन, मूढता येन जन्यते ।

मिथ्यात्वतः परं तस्मात्, दुःखदं किमु विद्यते ॥ ३८ ॥

अर्थ—जिस करि विवेक हनिये है अर अचेतपना उपजाइये है, ता मिथ्यात्व सिवाय कहा और दुःख देनेवाला है? अपि तु नाहि है ॥ ३८ ॥

लब्ध जन्मफलं तेन, सार्थकं तस्य जीवितम् ।

मिथ्यात्वविषमुत्सृज्य, सम्यक्त्वं येन गृह्यते ॥ ३९ ॥

अर्थ—जिष जीव करि मिथ्यात्वविषकों त्यागिकें सम्यक्त्वकों ग्रहण करिये है, तिष जीव करि जन्मका फल पाया, अर ताका जीवना सार्थक है प्रयोजन सहित है ॥ ३९ ॥

भव्यः पंचेन्द्रियः पूर्णो, लब्धकालादिलब्धिकः ।

पुद्गलार्द्धपरावर्त्ते काले, शेषे स्थिते सति ॥ ४० ॥

अंतर्मुहूर्त्तकालेन, निर्मलीकृतमानघः ।

आद्यं गृह्णाति सम्यक्त्वं, कर्मणां प्रशमे सति ॥ ४१ ॥

अर्थ—भव्यजीव पंचेन्द्रिय पर्याप्तक अर पाई है कालादिलब्धि जानें अर्द्धपुद्गल परिवर्तनकाल बाकी रहे संतें अंतर्मुहूर्त्त काल करि निर्मल किया है मन जानें ऐमो जीव कर्मनिका उपशम होतेसंतें प्रथमोपशमसम्यक्त्वकों ग्रहण करै है ॥ ४० ॥ ४१ ॥

निशीथं वासरस्येव, निर्मलस्य मलीमघम् ।

पश्चादायाति मिथ्यात्वं, सम्यक्त्वस्यास्य निश्चितम् ॥ ४२ ॥

अर्थ—जैसे निर्मल दिनके पाछें अवश्य मलिन रात्रि आवै है तैसे इस प्रथमोपशम सम्यक्त्वके अंतर्मुहूर्त्त पाछें अवश्य मिथ्यात्व आवै है ॥ ४२ ॥

तस्य प्रपद्यते पश्चान्महात्मा कोऽपि वेदकम् ।

तस्यापि क्षायिकं कश्चिदासन्नीभूतनिर्वृतिः ॥ ४३ ॥

अर्थ—ताके पाछें महात्मा पुरुष वेदकसम्यक्त्वकों प्राप्त होय है, अर कोई महात्मा पुरुष जाके मुक्ति आसन है सो क्षायिक-सम्यक्त्वकों प्राप्त होय है ॥ ४३ ॥

आगें सम्यक्त्व होनेका विशेष स्वरूप कहै हैं;—

लब्धशुद्धपरीणामः, कल्मषस्थितिहानिकृत् ।

अनंतगुणया शुद्धया, वर्द्धमानः क्षणे क्षणे ॥ ४४ ॥

प्रकृतीनामशस्तानामनुभागस्य स्वर्वकः ।

वर्द्धकः पुनरन्यासां, युक्तायुक्तविवेचकः ॥ ४५ ॥

स्थितेऽतःकोटिकोटिकस्थितिके सति कर्मणि ।

अथाप्रवृत्तिकं नाम, करणं कुरुते पुरा ॥ ४६ ॥

अपूर्वं करणं तस्मात्तस्मादप्यनिवृत्तिकम् ।

विदधाति परीणामः, शुद्धकारी क्षणे क्षणे ॥ ४७ ॥

अर्थ—पाया है विशुद्ध परिणाम जानें, बहुरि पापप्रकृतिनिकी स्थितिकी हानि करनेवाला समय समय अनन्तगुणशुद्धि करि वर्द्धमान होता सन्ता ॥ ४४ ॥

अप्रशस्त प्रकृतिनिके अनुभागका घटावनेवाला बहुरि अन्य प्रशस्त प्रकृतिनिके अनुभागकों बढ़ावनेवाला योग्य अयोग्यका विवेकवान् ॥ ४५ ॥

ऐसा जीव अन्तः कोटाकोटी सागर प्रमाण है स्थिति जाकी ऐसे कर्मको स्थिति होतेसे प्रथम अधःप्रवृत्तिनाम करणकों करै है ॥ ४६ ॥

बहुरि ता पीछे समय समय परिणामनिकी शुद्धि करता अपूर्व-करण करै है ता पीछे अनिवृत्तिकरणकों करै है ॥ ४७ ॥

भावार्थ—उपशमसम्यक्त्वके अन्तर्मुहूर्त्त पहले अधःकरण अपूर्व-करण अनिवृत्तिकरण ऐसे तीन करण होय हैं । इनका विशेष स्वरूप श्रीमद्रोमट्टघारविषे कहा है तहांते जानना ॥

तत्राद्यकरणे नास्ति, छेदः स्थित्यनुभागयोः ।

अनन्तगुणया शुद्धया, कर्म बध्नाति केवलम् ॥ ४८ ॥

अर्थ—तहां आदिके अधःकरणविषे स्थिति अनुभागका छेद नहीं है अनन्तगुण विशुद्धिताकरि केवल पुण्य-कर्मकों बांधे है ॥ ४८ ॥

द्वितीयं कुरुते तत्र, किंचित्स्थितिरक्षयम् ।

शुभानामशुभानां च, वर्द्धयन् हासयन् रसम् ॥ ४९ ॥

अर्थ—बहुरि तहां दूजा जो अपूर्वकरण है सो किल्ल स्थिति-कांडक घात वा अनुभागकांडक घातकों करै है । कैसा है सो अपूर्व-करण अतिशयकरि समय समय प्रति शुभ प्रकृतिनको बढ़ावै है अरु अशुभ प्रकृतिनकूं घटावै है ॥ ४९ ॥

अन्तर्मुहूर्त्तकः कालस्तेषां प्रत्येकमिष्यते ।

आदिमे कुरुते तस्मिन्नांतरं करणं परम् ॥ ५० ॥

अर्थ—उनमें प्रत्येकका अन्तर्मुहूर्त्तकाल जानना, जामें आदिके प्रथममें आन्तर करणकों करै है ॥ ५० ॥

आन्तरे करणे तत्र, सहानन्तानुबंधिभिः ।

अन्तर्मुहूर्त्तकालेन, मिथ्यात्वमपवर्तते ॥ ५१ ॥

अर्थ—तिस अन्तर करणविधैं अन्तर्मुहूर्त्तकालकरि अनंतानुबंधी सहित मिथ्यात्वका अपवर्तन करै है ॥ ५१ ॥

मिथ्यात्वं मिथ्यते भेदेः, शुद्धाशुद्धविमिश्रकैः ।

ततः सम्यक्त्वमिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वनामभिः ॥ ५२ ॥

अर्थ—ताके अन्तर शुद्ध अशुद्ध करि मिले जे सम्यक्त्व मिथ्यात्व सम्यग्मिथ्यात्व हैं नाम जिनके ऐसे भेदनि करि मिथ्यात्व भेदरूप कीजिए है ।

भावार्थ—प्रथमोपशम सम्यक्त्व करि मिथ्यात्वका द्रव्यमिथ्यात्व, मिश्र, सम्यक्त्वप्रकृतिरूप परिणमवै है ॥ ५२ ॥

प्रशमथ्य ततो भव्यः, कर्मप्रकृतिषत्तकम् ।

आन्तर्मौहूर्त्तिकं पूर्वं, सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते ॥ ५३ ॥

अर्थ—ताके अनंतर भव्यजीव सात कर्मप्रकृतिनिकों उपशमाय-करि अन्तर्मुहूर्त्त है स्थिति जाकी ऐसा प्रथमसम्यक्त्वको प्राप्त होय है ।

भावार्थ—अनादि मिथ्यादृष्टिती मिथ्यात्व अरु अनंतानुबंधी

चतुष्क ऐसे पांच प्रकृतिनको अर मिथ्यादृष्टि अनंतानुबन्धी सहित तीन प्रकृतिनको उपशमाय सम्यक्त्वी होय है यह विशेष है ॥५३॥

आगे क्षायिकसम्यक्त्वको कहे हैं:—

क्षपयित्वा परः कश्चित्कर्मप्रकृतिसप्तकम् ।

आदत्ते क्षायिकं पूर्वं, सम्यक्त्वं मुक्तिकारणम् ॥ ५४ ॥

अर्थ—बहुते दूजो कोई जीव कर्मप्रकृतिनिका सप्तक जो अनंतानुबन्धी च्यार कषाय अर मिथ्यात्व, मिश्र, सम्यक्त्वप्रकृति इन सात प्रकृतिनिकों खिपाय करि प्रथम मुक्तिका कारण जो क्षायिकसम्यक्त्व ताहि ग्रहण करै है ॥ ५४ ॥

प्रथमे कर्मणा षण्णामुदयस्य क्षये सति ।

आदत्ते वेदकं वंद्यं, सम्यक्त्वस्योदये सति ॥ ५५ ॥

अर्थ—अनंतानुबन्धी कषाय च्यारि अर मिथ्यात्व, मिश्रमिथ्यात्व इन छह कर्मनिका उपशम होतसतैं अर उदयका क्षय होतसतैं अर सम्यक्त्व प्रकृतिका उदय होतसतैं वंदनेयोग्य जो वेदक सम्यक्त्व ताहि ग्रहण करै है ।

भावार्थ—वर्तमानमें उदय आवनेयोग्य निषेकनिका उदयका अभाव है लक्षण जाका ऐसा तो क्षय हो, तैं सतैं अर ता पछैं उदय आवने योग्य निषेकते उदीरणारूप होय वर्तमानमें उदय न आवैं ऐसैं तिनकी सत्ता है लक्षण जाका ऐसा उपशम अर सम्यक्त्वप्रकृति देशघाती है ताका उदय होतैं वेदकसम्यक्त्व होय है जातैं जाके उदयसैं मल उपजै अर गुणका अंश भी बन्या रहै ऐसा देशघातीका लक्षण सर्वत्र कहा है ॥ ५५ ॥

आदिमं त्रितयं हित्वा, गुणेषु सकलेष्वपि ।

सम्यक्त्वं क्षायिकं ज्ञेयं, मोक्षलक्ष्मीसमर्पकम् ॥ ५६ ॥

अर्थ—आदिके मिथ्यात्व सासादन मिश्र ए तीन गुणस्थाननिकों छोड़करि सर्व ही गुणस्थाननिविषै मोक्षलक्ष्मीका देनेवाला क्षायिक सम्यक्त्व जानना ॥ ५६ ॥

तुर्यादारम्य विज्ञेयमुपशांतातमादिमम् ।

चतुर्थे पंचमे षष्ठे, सप्तमे वेदकं पुनः ॥ ५७ ॥

अर्थ—चौथे गुणस्थानतैं लगाय उपशांतकषाय पर्यंत आदिका उपशमसम्यक्त्व जानना । बहुरि चौथे पांचवें छठे सातवें गुणस्थान विष वेदकसम्यक्त्व जानना ॥ ५७ ॥

साध्यसाधनभेदेन, द्विधा सम्यक्त्वमिष्यते ।

कथ्यते क्षायिकं साध्यं, साधनं, द्वितयं परम् ॥ ५८ ॥

प्रथमायां त्रयं पृथग्यामन्यासु क्षायिकं विना ।

सम्यक्त्वमुच्यते सद्भिर्भवभ्रमणसूदनम् ॥ ५९ ॥

अर्थ—साध्य साधनके भेद करि दोय प्रकार सम्यक्त्व कहिये है, क्षायिक साधने योग्य है अर उपशम वेदक ये दोष साधन हैं ॥ ५८ ॥

प्रथम पृथ्वीविषै संसारभ्रमणके नाशक तीनों सम्यक्त्व हैं अर छह पृथ्वीनविषै क्षायिक विना दोय सम्यक्त्व पंडितनि करि कहिए हैं ॥ ५९ ॥

तिर्यङ्मानवदेवानां, सम्यक्त्वं त्रितयं मतम् ।

न नालिपीतिरश्चनां, क्षायिकं विद्यते परम् ॥ ६० ॥

अर्थ—तिर्यच मनुष्य देवनिक्कैं तीनों ही सम्यक्त्व कहे हैं, अर देवांगना तिर्यचनीनिक्कैं एक क्षायिक सम्यक्त्व नाहीं है ॥ ६० ॥

क्षायोपशमिकस्योक्ताः, षट्षष्टिजेज्जराशयः ।

आंतमौहूर्त्तिकी ज्ञेया, प्रथमस्य परा स्थितिः ॥ ६१ ॥

अर्थ—क्षयोपशम सम्यक्त्वकी उत्कृष्ट स्थिति छयाषटि सागरकी कहीं, अर उपशम सम्यक्त्वकी उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त्तकी जाननी ॥ ६१ ॥

पूर्वकोटिद्वयोपेताश्चयस्त्रिंशन्नदीशिनः ।

ईषदूनास्थितिर्ज्ञेया, क्षायिकस्योत्तमा बुधैः ॥ ६२ ॥

अर्थ—किञ्चित् ऊन दोग कोटि पूर्वसहित तेतीस सागरकी क्षायिक सम्यक्त्वकी स्थिति पंडितनि करि जाननी योग्य है ॥ ६२ ॥

अघस्तात् अन्नभूषट्के, सर्वत्र प्रमदाजने ।

निकायत्रितयेऽपूर्णे, जायते न सुदर्शनः ॥ ६३ ॥

अर्थ—नीचै तैं लेकरि छह नरकनिविषैं, सर्वत्र स्त्रीन विषैं अर ज्योतिषी भवनवासी व्यन्तर इन तीन निकाय देवनिविषैं अपर्याप्तमें सम्यग्दर्शन न होय है ॥ ६३ ॥

पंचाक्षं संज्ञिनं हित्वा, परेषु द्वादशस्वपि ।

उत्पद्यते न सद्वृष्टिर्मिथ्यात्वबलभाविषु ॥ ६४ ॥

अर्थ—पंचेंद्रिय संज्ञी पर्याप्त अपर्याप्त, इनि दोग जीवसमासनिर्को बार्जेकरि और मिथ्यात्वके बलकरि उपजनेवाले जे बादर एकेन्द्रिय सूक्ष्म एकेन्द्रिय वे इंद्रिय त्रींद्रिय चतुरिंद्रिय अर असंज्ञी पंचेंद्रिय तिनके पर्याप्त अर अपर्याप्त ऐसैं बारह जीवसमासनि विषैं सम्यग्दृष्टि न उपजे है ॥ ६४ ॥

वीतरागं सरागं च सम्यक्त्वं कथितं द्विधा ।

विरागं क्षायिकं तत्र, सरागमपरं द्वयम् ॥ ६५ ॥

अर्थ—वीतराग अर सराग ऐसैं सम्यक्त्व दोग प्रकार कहा है । तहां क्षायिक सम्यक्त्व वीतराग है, अर क्षयोपशम, उपशम ए दोग सम्यक्त्व सराग हैं ॥ ६५ ॥

संवेगप्रशमास्तिक्यकारुण्यव्यक्तलक्षणम् ।

सरागं पटुभिर्ज्ञेयमुपेक्षालक्षणं परम् ॥ ६६ ॥

अर्थ—संवेग कहिये धर्मतैं अनुराग, प्रशम कहिये कषायनिकी

भेदता, आस्तिक्य कहिये आस आगम पदार्थनिविधैं 'है ऐसे ही है' ऐसा भाव, कारुण्य कहिये दयाभाव, ए हैं प्रगट लक्षण जाका सो वाराग सम्यक्त्व पंडितनिकरि जानना । बहुरि उपेक्षा जो वीतरागता, सो है लक्षण जाका ऐसा दूसरा वीतराग सम्यक्त्व जानना ॥ ६६ ॥

निसर्गाधिगमौ हेतू, तस्य बाह्यावुदाहृतौ ।

लब्धिः कर्मशमादीनामंतरंगो विधीयते ॥ ६७ ॥

अर्थ—ता सम्यक्त्वके निसर्ग कहिए स्वभाव, अधिगम कहिए उपदेश पावना ये दोऊ बाह्य कारण कहे हैं, अर कर्मनिके उपशमा-दिकनिकी जा प्राप्ति सो अंतरंग कारण कहिये हैं ॥ ६७ ॥

सम्यक्त्वाद्युषिते जांवि, नाज्ञानं व्यवतिष्ठते ।

भास्वता भासिते देशे, तमसः कीदृशी स्थितिः ॥ ६८ ॥

अर्थ—सम्यक्त्वकरि सहित जीव विधैं अज्ञान न तिष्ठै है, जैसे सूर्यकरि प्रकाशित क्षेत्रविधैं अंधकार स्थिति कैसी ? ।

भावार्थ—जैसे सूर्यके प्रकाश होते अंधकार न होय तैसे सम्यक्त्व होत अज्ञान न होय है ॥ ६८ ॥

न दुःखबीजं शुभदर्शनक्षितौ, कदाचन क्षिप्तमपि प्ररोहति ।

सदाध्यनुप्तं सुखबीजमुत्तमं, कुदर्शने तद्विपरीतमीक्ष्यते ॥ ६९ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनरूप पृथ्वीविधैं दुःखका बीज बोया भी कदाचित्त न उगै है बहुरि त्रिना बोया भी उत्तम सुखका बीज सदा उगै है । बहुरि मिथ्यादर्शनविधैं सो विपरीत देखिये हे ।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टिकै कोई दुःखका कारण पाप कर्म बंध्या होय तो सोभी सुखका कारण होय परिणमै है ऐसा जानना ॥ ६९ ॥

सम्यक्त्वमेघः कुशलांबुचंदितं, निरंतरं वर्षति धौतकल्मषः ।

मिथ्यात्वमेघो व्यसनान्बुनिदितं, जनावनौ क्षालितपुण्यसंचयः ॥ ७० ॥

अर्थ—धोये हैं पापरूप मल जान ऐसा सम्यक्स्वरूप मेघ है सो निरन्तर जनरूप भूमिविषै पूजनिक कल्याणरूप जलकों बरसै है । बहुरि मिथ्यास्वरूप मेघ, धोया है दूरि किया है पुण्यका संचय जानै सो जनरूप भूमिविष निदनीक कष्टरूप जलकों बरसै है ॥ ७० ॥

न भीषणो दोषगणः सुदर्शने, विगर्हणीयः स्थिरतां प्रपद्यते ।
मुजंगमानां निवहोऽवतिष्ठते, कदा निवासेऽध्युपिते गरुत्मता ॥७१॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनके होतसन्तै भयानक निन्दने योग्य जो दोष-निका समूह सो स्थिरताकों न प्राप्त होय है । जैसे गरुडकरि सहित जो स्थान ताविषै सर्पनका समूह कब तिष्ठै ?

भावार्थ—सम्यग्दर्शन होतै मिथ्यात्वादि दोष न रहै हैं, ऐसा जानना ॥ ७१ ॥

विवर्द्धमाना यमसंयमादयः, पवित्रसम्यक्त्वगुणेन सर्वदा ।
फलन्ति ह्वानि फलानि पादपाः, घनोदकेनेव मलापहारिणा ॥७२॥

अर्थ—जैसे मलका हरणेवाला जो मेघका जल ताकरि वृक्ष हैं ते मनोहर फलनिकों फलै हैं, तैसे विशेषपने बद्धमान जे यमसंयमादिक ते पवित्र सम्यक्त्वगुण करि सदा फलै हैं ॥ ७२ ॥

निषेवते यो विषयाभिलाषुको, निरस्य सम्यक्त्वमधीः कुदर्शनम् ।
स राज्यमत्यस्य भुजिष्यतां स्फुटं, बृहत्त्वकांक्षी वृणुते दुराशयः ॥७३॥

अर्थ—जो विषयाभिलाषी अज्ञानी सम्यक्त्वको त्यागि करि मिथ्यादर्शनको सेवै है सो दुष्टचित्त बड़प्पनका बांछक प्रगट राज्यको छोडि करि चाकरीको अंगीकार करै है ॥ ७३ ॥

आगै संवेगादिक सम्यक्त्वके आठ गुण कहै हैं—
तद्ये घर्मे ध्वस्तहिंसाप्रपंचे, देवे रागद्वेषमोहादिमुक्ते ।
साधौ सर्वप्रयधर्भहीने, धंवेगोऽसौ निश्चलो योऽनुरागः ॥ ७४ ॥

अर्थ—नष्ट भया है हिंसाका विस्तार जा विषै ऐसा जो सांचा-धर्म ताविषै तथा रागद्वेषमोहादि करि रहित देवविषै तथा सर्व परिग्रहसमूह करि रहित साधुविषै जो निश्चल अनुराग सो संवेग कक्षा है ॥ ७४ ॥

देहे भोगे निदिते जन्मवासे, कृष्टेष्वाशुक्षिसवाणास्थिरत्वे ।

यद्वैराग्यं जायते निःप्रकंपं, निर्वेदोऽसौ कथ्यते मुक्तिहेतुः ॥ ७५ ॥

अर्थ—निदित शरीरविषै तथा भोगविष बहुरि शीघ्र घाल्या जो वाण ता समान है अस्थिरपना जा विषै ऐसे क्लेशरूप संघारवासविषै जो निश्चल वैराग्य उपजै है सो यह मुक्तिका कारण निर्वेद कहिये है ॥ ७५ ॥

कांतापुत्रभ्रातृमित्रादिहेतोः, शिष्टद्विष्टे निर्मिते कार्यजाते ।

पश्चात्तापो यो विरक्तस्य पुंसो, निंदा सोक्ताऽवधवृक्षस्य हंत्री ॥ ७६ ॥

अर्थ—स्त्री पुत्र भाई मित्र आदिके कारणतै रागद्वेषरूप कार्यनिके समूहको रचे सतै जो विरक्त पुरुषके पश्चात्ताप होय सो पापवृक्षकी नाश करनेवाली निन्दा कही है ॥ ७६ ॥

जाते द्वेषे द्वेषरागादिदोषे—ग्रे भक्त्या लोचना या गुरूणां ।

पंचाचाराचारकाणामदोषा, सोक्ता गर्हा गर्हणीयस्य हंत्री ॥ ७७ ॥

अर्थ—द्वेष राग आदि दोषनिकरि दोष उपजते सतै पंचाचारके आचरण करावनेवाले जे गुरु तिनके आगै भक्ति सहित जो आलोचना करिये अपने दोष कहिये सो निंदनीक पापके रहनेवाली दोष रहित गर्हा कही है ॥ ७७ ॥

रागद्वेषक्रोधलोभप्रपंचाः, सर्वानर्यावास्यूता दुरंताः ।

यस्य स्वांते कुर्वते न स्थिरत्वं, शांतात्प्राप्तौ शस्यते मव्यसिंहः ॥ ७८ ॥

अर्थ—सर्व अनर्थनिका घरसमान, दूर है अन्त जिनका ऐसे

जे राग द्वेष क्रोध लोभादिकनिके प्रपंच हैं ते जाके चित्तविषै स्थिरताको न करै हैं सो यहु भव्य प्रधान, शांत है आत्मा जाका ऐसा प्रशंसा रूप कीजिए हैं ।

भावार्थ—तीव्र रागद्वेष जाके मनमें न होय सो उपशम गुण कहिये ॥ ७८ ॥

लोकाधीशाम्यर्चनीयांप्रिये, तीर्थाधीशे साधुवर्गे सपर्या ।

या निर्व्याजाऽऽरम्यते भव्यलोकैर्भक्तिः सेष्टा जन्मकांतारशस्त्री ॥७९॥

अर्थ—लोकनिके अधीश जे नरेन्द्र नागेन्द्र देवेन्द्र तिनकरि पूजनीक हैं चरण कमल जाके, ऐसे तीर्थनाथ भए भगवान तिन विषै तथा साधुनिके समूहविषै भव्य जीवनकरि जो कपटरहित पूजा आरंभिये है सो संसारवनके छेदनेवाली भक्ति इष्टरूप कही है ॥७९॥

कर्मारण्यं छेतुकांमैरकामैर्धर्माधारे, व्यापृतिः प्राणिवर्गे ।

भैषाज्याद्यैः प्रासुकैर्वद्वर्धते या, तद्वात्मल्यं कथ्यते तद्यबोधैः ॥८०॥

अर्थ—कमवनके छेदनेके बांछक, बांछकरहित ऐसे पुरुषनि करि धर्मके आधारभूत जीवनिके समूहविषै जो प्रासुक औषधि आदिकनिकरि वैयावृत्त्य बढ़ाइये, करिए सो सत्यार्थज्ञानीनि करि वात्सल्यगुण कहिये हैं ॥ ८० ॥

जन्माभोगौ कर्मणा भ्रम्यमाणे, जीवप्रामे दुःखिते नैकभेदे ।

चित्तार्द्रत्वं यद्विषत्ते महात्मा, तत्कारुण्यं दर्शयते दर्शनीयैः ॥ ८१ ॥

अर्थ—संसारसमुद्रविषै कर्मकरि भ्रमता अर दुःखित ऐसा अनेक प्रकार जो जीवनिका समूह ताविषै जो महापुरुष दयाभावको धारै है सो कारुण्यभाव दर्शन करने योग्य जे आचार्यादिक तिन करि दिखाइये है ।

भावार्थ—संसारी जीवनिको देखि जो करुणा करना सो करुणा-नाम सम्यक्त्व गुण कहिये हैं ॥ ८१ ॥

ऐसे सम्यक्त्वके आठ गुणनिका वर्णन किया, अब तिनका फल दिखावैं हैं—

प्रबद्धयते दर्शनमष्टभिर्गुणैः, शरीरिणोऽमीभिरपास्तदूषणैः ।

गुरुपदेशैरिव धर्मवेदनं, विधीयमानैर्हृदये निरन्तरम् ॥ ८२ ॥

अर्थ—जैसे निरन्तर हृदयविषै रचेभये जे श्रीगुरुनके उपदेश तिनकरि धर्मका जानपणा बढ़ै है तैसें जीवकें दूषणरहित ये संवेगादि आठ गुण तिनकरि सम्यग्दर्शन बढ़ै है ॥ ८२ ॥

अपारसंसारसमुद्रतारकं, वशीकृतं येन सुदर्शनं परम् ।

वशीकृतास्तेन जनेन संपदः, परैरलभ्या विपदामनास्पदम् ॥ ८३ ॥

अर्थ—अपार संसार समुद्रका तारनेवाला अर विपदानिका अनास्पद कहिये ठिकाना नाहीं ऐसा एक सम्यग्दर्शन जानै वश किया, अङ्गीकार किया ता पुरुषकरि औरनि करि न पावने योग्य ऐसी संपदा वश करी ॥ ८३ ॥

सुदर्शने लब्धमहोदये गुणाः, श्रियो निवासा विकसन्ति देहिनि ।

निरस्तदोषोपचये सरोवरे, हिमेतरांशाविव पंकजाकराः ॥ ८४ ॥

अर्थ—पाया है महाउदय जानै ऐसे सम्यग्दर्शनके होतसंतै जीवविषै लक्ष्मीके निवास जे गुण ते विक्रासमान होय हैं, कैसा है सम्यग्दर्शन, निरस्तदोषोपचये कहिये दूरि किया है शोकादि दोषनिका समूह जानै । जैसें सरोवरविष दूरि किया है दोषा जो रात्रि ताका समूह जानै अर पाया है महा उदय जानै अर भला है दर्शन जाका ऐसा सूर्यके होतसंतै कमलनिके वन लक्ष्मीके निवास हैं ते विकसैं हैं ।

भावार्थ—लोक कहै हैं लक्ष्मी कमलनिविषै वसै है ऐसा अलंकार वाक्य है । इहां एक एक सूर्यपक्षविषै अर दर्शनपक्षविषै समान अर्थ होय है ॥ ८४ ॥

दर्शनबन्धोर्नपरो बन्धुदर्शनलाभात्त परो लाभः ।

दर्शनमित्रान्न परं मित्रं, दर्शनसौख्यान्न परं सौख्यं ॥ ८५ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनरूप बांधवतै सिवाय और दूसरा बांधव नहीं अर दर्शनके लाभतै सिवाय और दूसरा लाभ नहीं, अर दर्शनतै सिवाय दूसरा मित्र नहीं, अर दर्शनके सुखतै सिवाय और दूसरा सुख नहीं ॥ ८५ ॥

लब्धा मुहूर्त्तमपि ये परिवर्जयन्ते, सम्यक्त्वरत्नमनवद्यपदप्रदायि ।

भ्राम्यन्ति तेऽपि न चिरं भववारिराशौ,

तद्विभ्रतां चिरतरं किमिह्वास्ति वाच्यम् ॥ ८६ ॥

अर्थ—पापरहित पदका देनेवाला जो सम्यक्त्वरत्न ताहि एक मुहूर्त्त भी पायकरि जो त्यागै है ते पुरुष भी संसार-समुद्रविषै बहुत काल नहीं भ्रमै है तो इहां तौ सम्यग्दर्शनकौ धारते पुरुषनिके कहा अतिशयकरि बहुत भ्रमण कहना योग्य है ?

भावार्थ—एक मुहूर्त्त भी सम्यग्दर्शन ग्रहण हो जाय तो संसार उत्कृष्ट किंचिदून अर्द्धपुद्गलपरिवर्त्तनमात्र रहि जाय सो अनन्तानंतकाल अपेक्षा थोड़ा ही कहिये । बहुरि जो सम्यग्दर्शनतै नहीं छूटै क्षायिक सम्यग्दृष्टि होय सो बहुत कैसै भ्रमै ? याकै तौ अतिनिकट संसार है ऐसा इहां आशय जानना ॥ ८६ ॥

पापं यदजितमनेकभवेर्दुर्गन्तैः, सम्यक्त्वमेतदखिलं सहसा हिनस्ति ।
भस्मीकरेणि महपा तृणकाष्ठराशि, किं नोजितोऽज्वलशिखो दहनः
समृद्धम् ॥ ८७ ॥

अर्थ—जो पाप दूर है अन्त जिनका ऐसे अनेक भवनिकरि उपाज्या सा इम समस्त पापकौ सम्यक्त्व शीघ्र ही नाश करै है । इहां दृष्टांत कहै हैं—बड़ी उज्ज्वल है शिखा जाकी ऐसा जो अग्नि सो

वृद्धिकों प्राप्त होता जो तृण अर काष्ठनका समूह ताहि शीघ्र ही कहा भस्म न करै है ? करै ही है ॥ ८७ ॥

नैवं भवस्थितिवेदिनि जीवे, दर्शनशालिनि तिष्ठति दुःखम् ।

कुत्र हिमस्थितिरस्ति हि देशे, प्रोष्मदिवाकरदीधितिदीप्ते ॥ ८८ ॥

अर्थ—संसारकी स्थितिका जाननेवाला अर सम्यग्दर्शनकरि शोभित ऐसा जो जीव ताविषै दुःख नहीं तिष्ठै है । जैसै प्रोष्मके सूर्यकी किरणकरि तप्त जो क्षेत्र ता विषै शीतकी स्थिति कहातै होय ? अपितु नाहीं होय है ॥ ८८ ॥

भुवनजनताजन्मोत्पत्तिप्रबंधनिषूदनी, जिनमतरुचिश्चितामण्या यकै-
द्वपमीयते । त्रिदशसरणिं ते भावते समां परमाणुना, प्रभवतिमतिमिथ्या
मिथ्यादृशामय वा सदा ॥ ८९ ॥

अर्थ—लोकके जीवनिकै संसारकी उत्पत्तिके प्रबंधकी नाश करनेवाली ऐसी जो जिनमतकी रुचि श्रद्धा सो जिनिकरि चिंतामणि-
करि उपमा दीजिये (जिनमतकी श्रद्धाको चिंतामणिकी उपमा देय हैं) ते आकाशको परमाणुके समान कहै हैं । अथवा मिथ्यादृष्टिकी बुद्धि सदा मिथ्यारूप होय ही है ताका कहा आश्चर्य है ? ॥ ८९ ॥

अवहितनाः सद्मोत्संगं निधानमिवोत्तमं, नयति हृदयंयः सम्यक्त्वं
शशाककरोञ्जलम् । अमितगयः क्षिप्रं लक्ष्म्यः श्रयंति तमादृता, निरुपम-
गुणाः कांतं कांतं स्वयं प्रमदा इव ॥ ९० ॥

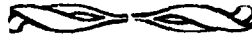
अर्थ—जैसै एकाग्र है मन जाका ऐसा पुरुष घरके मध्यभाग प्रति निधानको प्राप्त करै तैसै जो हृदय प्रति चन्द्रमाकी किरण समान उज्वल सम्यक्त्वको प्राप्त करै है, ता पुरुषको जैसे सुन्दर पतिकों

१—'जन्मोत्पत्ति' के स्थान पर नष्टोत्पत्ति, पाठ ठीक है ।

आदर सहित की हैं ते स्वयमेव शीघ्र ही सेवै है तैसैं उपमा रहित हैं
गुण जिनके अर प्रमाण है ज्ञानदर्शन जिन विषै ऐसी आदर सहित
इंद्रादिपदकी लक्ष्मी स्वयमेव सेवै है ॥ ९० ॥

विपरीताभिनिवेश तजि, भजि निर्मल श्रद्धान ।
याके धारक अमितगति, लहत सकल कल्याण ॥

ऐसैं श्री अमितगति आचार्यकृत भावकाचारविषै
द्वितीय परिच्छेद समाप्त भया ।



तृतीय परिच्छेद ।

आगैं सम्यग्दर्शनके विषय जे जीवादिक पदार्थ तिनिका वर्णन
करै हैं,—

जीवाजीवादितत्वानि, ज्ञातव्यानि मनीषिणा ।

श्रद्धानं कुर्वता तेषु, सम्यग्दर्शनधारिणा ॥ १ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनका धारनेवाला अर तीन जीवादिकनिविषै
श्रद्धानकौ करता ऐसा जो पंडितपुरुष ताकरि जीव अजीव आदि तत्व
हैं ते जानने योग्य हैं ।

भावार्थ—सम्यग्दर्शनकी निर्मलताके अर्थ जीवादि पदार्थ विस्तार-
सहित जानने योग्य हैं ॥ १ ॥

तत्र जीवा द्विधा ज्ञेया, मुक्तसंसारिभेदतः ।

अनादिनिधनाः सर्वे, ज्ञानदर्शनलक्षणाः ॥ २ ॥

अर्थ—तहां जीव हैं ते मुक्त अर संसारी भेदकरि दोय प्रकार
जानना । कैसे हैं जीव आदि, अंत रहित हैं अर सर्व ही ज्ञानदर्शन
लक्षण जिनके ऐसे हैं ।

भावार्थ—द्रव्यार्थिक नय करि जीव अनादिनिघन है अर एकै-
द्वियतै लगाय सिद्ध भगवानपर्यंत सामान्य ज्ञानदर्शन विना कोई भी
जीव नाहीं । ऐषा जानना ॥ २ ॥

तत्र क्षताष्टकर्माणः, प्राप्ताष्टगुणसंपदः ।

त्रिलोकवेदिनो मुक्ता, खिलोकाग्रनिवासिनः ॥ ३ ॥

अनंतरेषदूनांगसमानाकृतयः स्थिराः ।

आत्मनीनजनाभ्यर्था, भाविनं कालमासते ॥ ४ ॥

अर्थ—तहां नष्ट भए हैं अष्ट कर्म जिनके अर प्राप्त भई है
अष्टगुण रूप संपदा जिनके, बहुरि तीन लोकके जाननेवाले अर
द्रव्यभावकर्मनिर्तै मुक्त भए, बहुरि तीन लोकके ऊपरि बसनेवाले ॥३॥

बहुरि अंतका किंचित् ऊन अंग प्रमाण है प्रदेशनिकी आकृति
जिनकी, अर स्थिर हैं कंपरहित हैं, बहुरि आत्मज्ञानी जननि करि
पूजनीक, ऐसे श्री सिद्धभगवान आगामी अनंतकाल तिष्ठै हैं ॥ ४ ॥

संसारिणो द्विधा जीवाः, स्थावराः कथितास्त्रसाः ।

द्वितीयेऽपि प्रजायन्ते, पूर्णापूर्णतया द्विधा ॥ ५ ॥

अर्थ—संघारी जीव स्थावरअर त्रस ऐनै दोय प्रकार कहे हैं, तिन
स्थावर अर त्रसनि विषै भी पर्याप्त अपर्याप्तनें करि दोयप्रकार हैं ॥५॥

आहारविप्रहाक्षाऽऽनवचोमानसलक्षणम् ।

पर्याप्तीनां मतं षट्कं, पूर्णापूर्णत्वकारणम् ॥ ६ ॥

अर्थ—आहार, शरीर, इन्द्रिय, आसोच्छास, वचन और मन
ये है लक्षण जाके ऐषा जो पर्याप्तनिका षट्क सो पर्याप्त अपर्याप्त-
पनेंका कारण कहा है ।

भावार्थ—अपने योग्य पर्याप्तिकी जाकै पूर्णता है सो पर्याप्त जीव कहिये, जाकै पूर्णता नाहीं सो अपर्याप्त कहिये ॥ ६ ॥

चतस्रः पंच षट् ज्ञेयास्तेषां, पर्याप्तयोऽग्निनाम् ।

एकाक्षविकलाक्षाणां, पंचाक्षाणां यथाक्रमम् ॥ ७ ॥

अर्थ—तिन पर्याप्ति सहित एकेंद्रिय विकलेंद्रिय पंचेंद्रिय जीवनिर्कै चार, पांच, छह पर्याप्ति यथाक्रम जाननी ।

भावार्थ—एकेन्द्रियकै मन, वचन बिना च्यार पर्याप्ति है, विकलत्रय असैनीके पांच पर्याप्ति है, पंचेन्द्रिय सैनीके वचन मन सहित छह हैं, ऐसा जानना ॥ ७ ॥

एकाक्षाः स्थावरा जीवाः, पंचधा परिकीर्तिताः ।

पृथिवी सलिष्ठं तेजो, मारुतं च वनस्पतिः ॥ ८ ॥

अर्थ—पृथ्वी १ जल २ अग्नि ३ पवन ४ अर वनस्पति ५ ऐसे पंचेन्द्रिय स्थावर जीव पांच प्रकार कहे हैं ॥ ८ ॥

भेदास्तत्र त्रयः पृथ्व्याः, कायकायिकतद्भवाः ।

निर्मुक्तस्वीकृतागामि, स्वया एव परेष्वपि ॥ ९ ॥

अर्थ—तहां पृथ्वीके भेद तीन हैं—पृथ्वीकाय, पृथ्वीकायिक, पृथ्वीजीव, ऐसै । तहां जीवर्त शरीर त्यागि दिया सो तो पृथ्वीकाय है, अर जो शरीर जीवने प्रहण किया सो पृथ्वीकायिक है, अर जो जीव पृथ्वीकायिक होनेवाला है सो अन्तरालमें पृथ्वी जीव है याही प्रकार जलादिविषै भी जानना ॥ ९ ॥

मता द्वित्रिचतुःपंचदृषीकासकायिकाः ।

पंचाक्षा द्विविधास्तत्र, संश्रयसंज्ञिविकल्पतः ॥ १० ॥

अर्थ—द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय पंचेन्द्रिय जीव हैं ते प्रसकायिक कहे हैं । तहां पंचेन्द्रिय हैं ते संज्ञी असंज्ञी भेद करि दोय प्रकार हैं ॥ १० ॥

शिक्षोपदेशनालापप्राहिणः संज्ञिनो मताः ।

प्रवृत्तमानसप्राणा, विपरीतास्त्वसंज्ञिनः ॥ ११ ॥

अर्थ—शिक्षा उपदेश आलाप इनके ग्रहण करनेवाले, प्रवर्था है मन जिनके, ऐसे जीव हैं ते संज्ञी कहे हैं । बहुरि विपरीत हैं ते असंज्ञी हैं ऐमा जानना ॥ ११ ॥

स्पर्शनं रसनं घ्राणं, चक्षुः श्रोत्रमितीन्द्रियम् ।

तस्य स्पर्शो रसो गन्धो, रूपं शब्दश्च गोचरः ॥ १२ ॥

अर्थ—स्पर्शन, रसन, घ्राण, नेत्र, श्रोत्र, ऐमें पांच इन्द्रिय हैं । बहुरि तिनिका स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शब्द, विषय है ॥ १२ ॥

गन्धूपदजल्लक्षकृमिशंखेद्रगोपकाः ।

गदिता त्रिविधाकारा, द्विद्वेषीकाः शरीरिणः ॥ १३ ॥

अर्थ—गिंडोला, जोंक, कौडी, कृमि, शंख, इन्द्रगोप ये नाना प्रकार हैं आकार जिनके ऐसे द्वीन्द्रिय जीव कहे हैं ॥ १३ ॥

यूक्तापिपीलिकालिक्षाकुन्थुमत्कुणवृश्चिकम् ।

त्रिद्वेषीकं मतं प्राज्ञै, विचित्राकारसंयुतम् ॥ १४ ॥

अर्थ—जूवां, कीड़ी, लीख, कुन्थुवा, खटमल, विच्छू ये बुद्धि-वाननि करि नानाप्रकार संयुक्त त्रीन्द्रिय कहे हैं ॥ १४ ॥

पतंगमक्षिकादंशमशभ्रमरादयः ।

चतुरक्षा विबद्धव्या, विबुद्धजिनशासनैः ॥ १५ ॥

अर्थ—विशेषणै जाण्या है जिन शासन जिनमें ऐसे पुरुषनि करि पतंग, माखी, दंश, मच्छर, भ्रमर आदि जीव हैं ते चतुरिन्द्रिय जानने ॥ १५ ॥

तिर्यग्योनिभवाः शेषाः, श्वाभ्रमानवनाकिनः ।

विभिन्ना विविधैर्भेदैः, स्वीकृतेन्द्रियपंचकाः ॥ १६ ॥

अर्थ—बाकी तिर्यचयोनिविषैँ उपजे तिर्यच बहुरि नारकी मनुष्य देव हैं ते नानाभेदनि करि भिन्न प्रहण किये हैं पंच इंद्रिय जिनमें ऐसैँ जानना ।

भावार्थ—एकेन्द्रिय विकलेन्द्रियविना और सर्व ही तिर्यच अरु नारकी मनुष्य देव ये सब पंचेन्द्रिय जानना ॥ १६ ॥

हृषीकपंचकं भाषा, कायस्वांतबलत्रिकम् ।

आयुरुच्छ्वासनश्चास, द्वंद्वं प्राणादशोदिताः ॥ १७ ॥

अर्थ—इंद्रियप्राण पंच अरु भाषा मन काय ऐसैँ बल प्राण तं न बहुरि आयु अरु उच्छ्वासनश्चास ये दोग्य ऐसैँ प्राण दश कहे हैं ॥ ७ ॥

शरीराक्षायुरुच्छ्वासा, भाषिता निखिलेष्वपि ।

विकलासंज्ञिनां वाणी, पूर्णानां संज्ञिनां मनः ॥ १८ ॥

अर्थ—शरीर इंद्रिय आयु उच्छ्वास ये चार प्राण सर्व ही पर्याप्तनिविषैँ कहे हैं, अरु विकलेन्द्रिय अरु अ संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तनिक भाषा प्राण है, अरु संज्ञी पर्याप्तनिविषैँ मनप्राण है ॥ १८ ॥

एकद्वित्रिचतुः पंचहृषीकाणां विभाजिताः ।

तेऽन्येषां त्रिचतुष्कं च, षट्सतांगायुरिन्द्रियैः ॥ १९ ॥

अर्थ—एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय पंचेन्द्रिय जीवनिके भेदरूप प्राण हैं । एकेन्द्रियकैँ स्पर्शनइंद्रिय शरीर आयु उच्छ्वास ऐसैँ चार, द्वीन्द्रियकैँ रसनाइन्द्रिय अरु वचन मिले छह, त्रीन्द्रियकैँ घ्राण अधिक घात, चतुरिन्द्रियकैँ नेत्र अधिक आठ, असेनी पंचेन्द्रियकैँ श्रवण अधिक नौ, संज्ञी पंचेन्द्रियकैँ मन अधिक दश; ऐसैँ पर्याप्तनिकैँ कहे । बहुरि ते प्राण अपर्याप्तनिविषैँ एकेन्द्रियकैँ स्पर्शनइंद्रिय काय आयु ऐसैँ तीन हैं, द्वीन्द्रियकैँ रचनासहित चार हैं, त्रीन्द्रियकैँ घ्राण सहित पांच हैं, चतुरिन्द्रियकैँ चक्षुसहित छह हैं, पंचेन्द्रियकैँ श्रोत्रसहित घात हैं ऐसा जानना ॥ १९ ॥

जरायुजाड्वाः पोता, गर्भजा देवनामकाः ।

उपपादभमवाः शोभाः, सर्वे सम्मूर्च्छना मताः ॥ २० ॥

अर्थ—जरायुज कहिए जालवत् प्राणीनिकै शरीर ऊपरि आकरण मांस लोहू जामें विस्ताररूप पाइए ता सहित उपजै ते जरायुज, अर अण्डाविष उपजै ते अण्डज, अर योनितै निकालताही चालना आदि सामर्थ्ययुक्त उपजै ते पोतज ये तीन प्रकार ती गर्भज हैं, अर देव नारकी हैं ते उपपादशय्या सो है जन्म जिनका ऐसे हैं, बहुरि इनि सिवाय सर्व जीव सम्मूर्च्छनतै है जन्म जिनका ऐसे कहे हैं ॥२०॥

आःअसम्मूर्च्छिनो जीवा, भूरिपापा नपुंसकाः ।

आःपुंवेदा मता देवाः. सच्चिदेदितया परे ॥ २१ ॥

अर्थ—बहुत है पाप जिनके ऐसे नारकी अर सम्मूर्च्छन जीव हैं ते नपुंसक हैं; अर देव हैं ते स्त्रीवेदी. अर पुरुषवेदी हैं; अर बाकी और जांव तीनों वेद सहित हैं ऐसा जानना ॥ २१ ॥

सच्चित्तः संवृतः शीतः, सेतरो वा विमिश्रकः ।

विभेदैरांतरौर्भेदां, नवधा योनिरंगिनाम् ॥ २२ ॥

अर्थ—सच्चित्त अर संवृत अर शीत, इनितै इतर जो अच्चित्त विवृत, उष्ण, बहुरि इनकरि मिश्र कहिये सच्चित्ताच्चित्तमिश्र संवृतविवृत-मिश्र अर शीतोष्णमिश्र ऐसै अंतर भेदनि करि, भेदरूप जीवनिकै नव प्रकार योनि कही है । जीव जहां उपजै ऐसे पुद्गल स्कंधनिका नाम योनि है, तहां जीव सहित होय ते सच्चित्त है, जीव रहित अच्चित्त है, गुप्तरूप होय ते संवृत है, प्रगट होय ते विवृत, शीतल होय ते शीत, उष्ण होय ते उष्ण है, अर मिले होय ते मिश्र है ऐसा जानना ॥२२॥

भूरुहेषु दश ज्ञेयाः, सप्त निस्त्रान्यघातुषु । नारकामरतिर्यक्षु,
चत्वारो विकलेषु षट् ॥ २३ ॥ चतुर्दश मनुष्येषु, खोनयः संति
मिडिताः । सर्वे शतसहस्राणामशीतिश्चतुस्तराः ॥ २४ ॥

अर्थ—वृक्षनिके विषै दस लक्ष योनि जाननी, अर नित्यनिगोद इतरनिगोद अर घातु कहिए पृथ्वीकाय अपकाय अग्निकाय वातकाय ये च्यारि ऐसै छह स्थाननिकिषै सात लक्ष योनि जाननी, अर नारकी देव तिर्यैच इनि विषै च्यारि च्यारि लक्ष योनि जाननी, विक्लत्रयविषै छह लक्ष योनि है, अर मनुष्यनि विषै चौदह लक्ष योनि है । ऐसै सर्व एकठी करी भई चौरासी लक्ष योनि हैं ये पूर्वोक्त सचित्तादि योनिनके विशेष भेद जानने ॥ २५ ॥

गतीन्द्रियवपुर्योगज्ञानवेदकुवाऽदयः ।

संयमाहारभव्येच्छाभेद्यासम्यक्त्वसंज्ञिनः ॥ २५ ॥

अर्थ—गति च्यारि, इंद्रिय पांच, काय छह, योग पंद्रह, ज्ञान आठ, वेद तीन, क्रोधादिक कषाय च्यार, संयम सात, आहार दोय, भव्य दोय, दर्शन च्यार, छेद्या छह, सम्यक्त्व छह, संज्ञी दोय, ऐसै चौदह मार्गणा कही हैं ॥ २५ ॥

मार्ग्यते सर्वदा जीवा, यासु मार्गणकोविदैः ।

सम्यक्त्वशुद्धये मार्ग्या, स्ताश्चतुर्दश मार्गणाः ॥ २६ ॥

अर्थ—विचारविषै प्रवीण जे पुरुष तिन करि जिनविषै जीव हैं ते सदा विचारिये हैं ते चतुर्दश मार्गणा सम्यक्त्वकी शुद्धिके अर्थ सदा विचारनी योग्य हैं ॥ २६ ॥

मिथ्यादृष्टिः सासनो मिश्रदृष्टिः, सम्यग्दृष्टिः संयतासंयताख्यः ।

ज्ञेयावन्यौ द्वौ प्रमत्ताप्रमत्तौ, सत्रापूर्वेणानिवृत्त्यल्पलोभौ ॥ २७ ॥

शांतक्षीणौ योग्ययोग्यौ जिनेन्द्रौ, द्विः ससैवं ते गुणस्थानभेदाः ।

त्रैलोक्याप्रारूढिसोपानमार्गा, स्तथ्यं येषु ज्ञायते जीवतत्त्वम् ॥ २८ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टि, सासादन, मिश्रदृष्टि, सम्यग्दृष्टि बहुरि संयता-संयत है नाम जाका, प्रमत्त, अप्रमत्त दोय ये जानने योग्य हैं; अर

अपूर्वकरणसहित अनिवृत्तिकरण अर सूक्ष्म लोभ अर उपशांत मोह, क्षीण मोह, सयोगीजिन, अयोगीजिन ऐसे गुणस्थाननिके चौदह भेद हैं, ते त्रैलोक्यका अग्र जो सिद्धपद ताके चढ़नेकू सोपान मार्ग हैं । जिनविषै सांचा जीवतत्व जानिये है ।

भाषार्थ—मोहनीय आदि कर्मनिका उदय उपशम क्षय क्षयो-पशम परिणाम रूप जे अवस्था विशेष तिनकों होत संतै उत्पन्न भये जे भाव कहिए जीवके मिथ्यात्वादिक परिणाम तिनकरि जीव हैं ते “ गुण्यंते ” कहिए लखिए वा देखिए व लक्षित कहिए; ते जीवके परिणाम गुणस्थान संज्ञाके धारक हैं । तहां मिथ्या कहिये अतत्त्वमें है दृष्टि कहिए श्रद्धान जाकैं सो मिथ्यादृष्टि है । बहुरि आसादन जो विराधन ता सहित वत्त सो सासादन है सम्यग्दृष्टि जाकैं सो सासादन सम्यग्दृष्टि है अथवा आसादन कहिए सम्यक्त्वका विराधन ता सहित जो वर्तमान सो सासादन सम्यग्दृष्टि है, बहुरि पूर्व भया था सम्यक्त्व तिष न्याय करि इहां सम्यग्दृष्टिपना जानना । बहुरि सम्यक्त्व अर मिथ्यात्वका मिलाप भाव सो मिश्र है । बहुरि सम्यक् कहिये समीचन है दृष्टि कहिए तत्त्वार्थ श्रद्धान जाकैं सोई सम्यग्दृष्टि, अर सोही अविगत कहिये असंयमी सो अविगत सम्यग्दृष्टि है । बहुरि देशतः कहिए एक देशतै है विरत कहिए संयमी सो देश विरत है संयम असंयम करि मिल्या भाव है । इहांतै ऊपरि सर्व गुणस्थानवर्ती संयमी ही हैं, बहुरि प्रमाद्यति कहिए प्रमाद करै सो प्रमत्त है, बहुरि प्रमाद न करै सो अप्रमत्त है, बहुरि अपूर्व है करण कहिए परिणाम जाके सो अपूर्वकरण है, बहुरि न पाइये है निवृत्ति कहिये, विशेष रूप करण कहिए परिणाम जाके सो अनिवृत्तिकरण है, बहुरि सूक्ष्म है सांराय कहिए लोभ कषाय जाकैं सो सूक्ष्मसांपराय है; बहुरि

उपशांत भया है मोह जाका सो उपशांतमोह है; बहुरि क्षीण भया है मोह जाका सो क्षीणमोह है; बहुरि घातिकर्मनिकों जीतता भया सो जिन, बहुरि केवलज्ञान है जाके सो केवली, सोई केवली सोही जिन, बहुरि योग करि सहित सो सयोग सोही सयोगकेवली जिन है; बहुरि योग जाकें न होय सो योगी नांही सो अयोगी सोही केवली जिन सो अयोग केवली जिन हैं । ऐसैं मिथ्यादृष्टि आदि अयोगी केवलजिन पर्यंत चौदह गुणस्थान जानना । इहां ग्रन्थ बढ़नेके भयतैं नामका अर्थ मात्र स्वरूप कक्षा विशेष अन्य आगमतैं जानना ।

ऐसैं जीवतत्वका वर्णन किया, आगैं अजीवतत्वका वर्णन करै हैं—

धर्माधर्मनभः कालपुद्गलाः परिकीर्त्तिताः ।

अजीवाः पंच सूत्रज्ञैरुपयोगविवर्जिताः ॥ २९ ॥

अर्थ—सूत्रके जाननेवाले नर धर्मद्रव्य अधर्मद्रव्य आकाशद्रव्य कालद्रव्य पुद्गलद्रव्य ये पांच, उपयोग जो दर्शन ज्ञान ताकरि रहित अजीव कहै हैं ॥ २९ ॥

अमूर्त्ता निष्क्रिया नित्याश्चत्वारो गदिता जिनैः ।

रूपगन्धरसस्पर्शशब्दवन्तोऽत्र पुद्गलाः ॥ ३० ॥

अर्थ—धर्म अधर्म काल आकाश ये च्यार द्रव्य अमूर्त्त कहिये वर्ण गंध रस स्पर्श रहित अर निःक्रिय कहिए प्रदेशनिके चलिवेकरि रहित जिनदेवनि करि कहे हैं । बहुरि इहां रूप गन्ध रस स्पर्श शब्द-वान हैं ते पुद्गल हैं, रूप गन्ध रस स्पर्श है जातैं सदा अनुयायी है अर शब्द है सो पर्याय है जातैं पुद्गलस्कंधनितैं कदाचित उपजै है । इहां शब्द कहने करि बंध, सूक्ष्म, स्थूल संस्थान भेद तम छाया आत्म उद्योत ए सर्व पुद्गलके पर्याय जान लेना ॥ ३० ॥

लोकालोकौ स्थितं व्याप्य, व्योमानंतप्रदेशकम् ।

लोकाकाशं स्थितौ व्याप्य, धर्माधर्मौ हसं ततः ॥ ३१ ॥

अर्थ—लोक अलोक दोउनिकों व्याप्त करि अनंत हैं प्रदेश जाकेँ ऐसा आकाश अवस्थित है । बहुरि लोकाकाशकोँ सर्व तरफतें व्याप्त करि धर्मद्रव्य अर अधर्मद्रव्य तिष्ठै है ॥ ३२ ॥

धर्माधर्मैकजीवानामसंख्येयाः प्रदेशकाः ।

अनंतानंतमानास्ते, पुद्गलानामुदाह्वनाः ॥ ३२ ॥

अर्थ—धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य अर एकजीवद्रव्य इनके असंख्याते प्रदेश हैं । बहुरि पुद्गलनिके प्रदेश अनंतानंत प्रमाण कहे हैं ॥ ३२ ॥

जीवानां पुद्गलानां च, गतिस्थिति विधायिनौ ।

धर्माधर्मौ मतौ प्राज्ञैराकाशमवकाशकृत् ॥ ३३ ॥

अर्थ—जीवनिकों तथा पुद्गलनिकों गति अर स्थितिके करावनेवाले धर्म अधर्मद्रव्य बुद्धिवाननि करि कहे हैं, अर आकाश है सो अवकाशका करनेवाला कहि देनेवाला है ।

भावार्थ—जैसेँ स्वयं चालते मच्छनकोँ जल गमन सहकारी है, अर जैसे आप ही तिष्ठते पथिकनिकों लाया तिष्ठनेमें सहकारी है तैसेँ गमन करते वा तिष्ठते जीव पुद्गलनिकों धर्म अधर्म सहकारी है, कछु प्रेरणाकरि चलावते बैठावते नाहीं उदासीन कारण हैं । अर यद्यपि सर्वद्रव्य अपने अपने स्वरूपमें तिष्ठै हैं तथापि सर्व द्रव्यनिकों अवकाश देना ये आकाशका गुण है ऐसा जानना ॥ ३३ ॥

असंख्या भुवनाकाशे, कालस्य परमाणवः ।

एकैका वर्तनाकार्या, मुक्ता इव व्यवस्थिताः ॥ ३४ ॥

अर्थ—लोकाकाशविषै वर्तना है कार्यलक्षण जिनका ऐसे असंख्याते कालके परमाणु एक एक न्यारे न्यारे मुक्ताफलनिकी ज्यों तिष्ठै हैं ।

भावार्थ—वर्तना है लक्षण जिनका ऐसे असंख्याते कालाणू भिन्न लोकविषै तिष्ठे हैं सो तो निश्चयकाल है । अर अन्य द्रव्यनिके पर्यायकरि समयादिभेद करिए सो व्यवहारकाल है ऐसा जानना ॥ ३४ ॥

जीवितं मरणं सौख्यं, दुःखं कुर्वति पुद्गलः ।

अणुस्कांधविभेदेन, विकल्पद्वयभागिनः ॥ ३५ ॥

अर्थ—पुद्गल जे हैं ते जीना मरण सुख दुःखको करै हैं, कैसे हैं पुद्गल अणु स्कन्धके भेदकरि दोय भेदके भजनेवाले हैं । इहां संसारीनिके प्राणनका संयोग सो जीवन अर तिनका त्रियोग सो मरण अर इन्द्रियजनित सुख दुःख इनके कारण पुद्गल करै है ऐसा जानना ॥ ३५ ॥

विश्वंभरा जलं छाया, चतुरिंद्रियगोचराः । कर्माणि परमाणुश्च, षड्विधः पुद्गलो मतः ॥ ३६ ॥ स्थूलस्थूलमिदं स्थूलं, स्थूलसूक्ष्मं जिनेश्वरैः । सूक्ष्मस्थूलं मतं सूक्ष्मं, सूक्ष्मसूक्ष्मं यथाक्रमम् ॥ ३७ ॥

अर्थ—पृथ्वी जल, छाया, चार इंद्रियनिके विषय अर कर्म, अर परमाणु ऐसै छह प्रकार पुद्गल द्रव्य कहा है ॥ ३६ ॥

बहुरि जिनेश्वरनिकरि यथाक्रम कहिए पृथ्वी तो स्थूलस्थूल, अर जल स्थूल, अर छाया स्थूलसूक्ष्म, अर नेत्र विना चतुरिंद्रियके विषय सूक्ष्मस्थूल, अर कार्माण वर्गणा सूक्ष्म, अर परमाणु सूक्ष्मसूक्ष्म कहा है । ॥ ३७ ॥

ऐसै अजीव तत्वका वर्णन किया; आगै आस्रवतत्वको कहै हैं—

यद्वाक्कायमनः कर्म, योगोष्ठावास्रवः स्मृतः ।

कर्मास्रवत्यनेनेति, शब्दशास्त्रविशारदैः ॥ ३८ ॥

अर्थ—जो वचन काय मन इनका कर्म कहिये चलना सो योग है यह आस्रव है । शब्दशास्त्रविषै निपुण पुरुषकरि जाकरि कर्म आस्रवै सो आस्रव है ऐसा कहा है ॥ ३८ ॥

शुभाशुभस्य विज्ञेयस्तज्ञानान्बोध्यस्य कर्मणः ।

कारणस्यानुरूपं हि, कार्यं जगति जायते ॥ ३९ ॥

अर्थ—तहाँशुभयोग शुभकर्मका कारण जानना अर अशुभयोग अशुभ कर्मका; जातँ लोकविषै कारणके अनुरूप कार्य होय है ॥ ३९ ॥

संसारकारणं कर्म, कषायायेन गृह्यते ।

येनान्यथा कषायेण, कषायस्तेन कर्ष्यते ॥ ४० ॥

अर्थ—जा कारणकरि कषायरहित जो जीव ताकरि संसारका कारण कर्म प्रहण करिये है अर कषायरहितकरि संसारका कारण कर्म प्रहण न करिये है ता कारण कषाय त्यागिए है ।

भावार्थ—सांपरायिक आस्रव तौ कषाय जीवके होय है अर ईर्यापथिक आस्रव कषायरहित एकादशमादि गुणस्थाननिविष होय है सो केवल योगकृत है तातँ संसारका कारण नाहीं ऐसा जानना ॥ ४० ॥ ज्ञाताज्ञातामन्दमन्दादिभावैश्चित्रैश्चित्रं बन्धते कर्मजालं ।

नाचित्रत्वे कारणस्येह कार्यं, किञ्चिच्चित्रं दृश्यते जायमानं ॥ ४१ ॥

अर्थ—ज्ञातभाव अज्ञातभाव तीव्रभाव मन्दभाव आदिशब्दकरि अधिकरण अर वीर्य इन प्रकारनि करि नानाप्रकार कर्मजाल उपजाइए है लोकविषै कारणके नानाप्रकारणा न होतँ नानाप्रकार कार्य किये उपज्या न देखिए है ।

भावार्थ—यह प्राणी हिंसनायोग्य है ऐसा जानकरि हिंसामें प्रवर्तना इत्यादिक ज्ञातभाव है, बहुरि प्रसादतँ वा मदतँ विना जानै हिंसादिकमें प्रवर्तना सो अज्ञातभाव है, तीव्र कोषादिकके उदयतँ होय सो तीव्रभाव है, मंदकोषादिकके उदयतँ होय सो मंदभाव है, बहुरि जाके विषै हिंसादिक आधाररूप कीजिए सो अधिकरण कहिए बहुरि द्रव्यकी

उयो निजज्ञामर्थ्य सो वीर्य कहिए, इनिके नानाप्रकार तीव्रमंदादि भेद-
करि आस्रवविषै भी भेद है ऐसा जानना ॥ ४१ ॥

तिरस्कारमात्सर्यपैशून्यविघ्नप्रघातप्रलापादिदोषैरनेकैः ।

विबोधावरोधस्तथेश्वावरोधो, दुरन्तैः कृतैर्गृह्यते गर्हणीयः ॥ ४२ ॥

अर्थ—ज्ञान दर्शनके धारकनिका वा ज्ञानदर्शनका तिरस्कार
करना वा मात्सर्य मद करना वा पैशून्य चुगली खाना, वा अन्तराय
करना वा घात करना वा झूठे दोष कहना इत्यादि अनेक दूर है,
अन्त जिनका ऐसे करे भये दोषनि करि निंदने योग्य ज्ञानावरण तथा
दर्शनावरण ग्रहण कीजिए है ॥ ४२ ॥

बधाक्रन्ददैन्यप्रलापप्रपंचैर्निकृष्टेन तापेन शोकेन सद्यः ।

परात्मोभयस्थेन कर्मांगिवर्गैरसातं सदा गृह्यते दुःस्वपाकम् ॥ ४३ ॥

अर्थ—प्राणनिका वियोग करना सो बध, अर अश्रुपातघटित
खड़ा विलाप करना सो आक्रन्दन, अर दीनपना कहिए जाहि देखे
दया उपजे, तथा प्रलाप कहिये बकवाद इनिके विस्तारनि करि, तथा
परके वचन मुनि मनमे कलुषता सो ताप ता करि, तथा ताकी चिंता
करता इष्टवियोग भये संतै निकृष्ट दुःख जो पीडारूप परिणाम ताकरि,
तथा खेदरूप परिणाम जो निकृष्ट शोक ताकरि दुःस्वरूप है उदय
जाका ऐसा जो असाता वेदनीय कर्म ताकूं जीवनके समूहनि करि
सदा शीघ्र ग्रहण कहिए है । कैसे कहैं पूर्वोक्त कारण, परविषै वा
आपविषै वा पर आप दोऊनिविषै स्थित कहिए वतै है ।

भावार्थ—आपविष-वा परविषै वा पर आप दोऊनिविषै करे भये
बन्धादिक कारण करि असाता वेदनीयका आस्रव होय है ॥ ४३ ॥

साधुपास्या प्रागिरक्षां तितिक्षा, सर्वज्ञार्चा दानशौचादियोगैः ।

सातं कर्मोपवृत्ते शर्मपाकं, शिष्टाभिष्टैः पोषितैः सज्जनैर्वा ॥ ४४ ॥

अर्थ—साधूनकी सेवा अर जीवनकी रक्षा अर क्षमा अर सर्वज्ञकी पूजा अर दान अर निर्लोभ परिणामादिक अर शुभध्यान इन पापरहित क्रियाका आचरण करि सातावेदनीय कर्म उपजे है, जैसे उत्तम है, मनोरथ जिनके ऐसे पोषे भए सज्जननि करि सुखका परिपाक उदय होय है तैसें, यहू दृष्टांत हैं ॥ ४४ ॥

मोक्तव्येनावर्णवादेन देवे, धर्म संघे वीतरागे श्रुते च ।

मद्यैनेवाऽऽस्वाद्यमानेन सद्यो, घोराकारो जन्यते दृष्टिमोहः ॥ ४५ ॥

अर्थ—देवविषै तथा धर्मविषै तथा संघविषै तथा वीतराग केवली विषै तथा शास्त्रविषै त्यागनेयोग्य जो अवर्णवाद ताकरि खाद्य भया जो मदिरा ताकरि जैसे घार है आकार जाका ऐसा देखनेमें गहल-भाव उपजाइए है तैसें दर्शनमोह करि उपजाइए हैं ।

भावार्थ—अन्तरङ्ग कलुषताके दोषतैं न होते दोषनिका प्रगत करना सो अवर्णवाद है, तथा प्यारप्रकार देव है, तिनमें व्यंतर मांसका सेवन करै है इत्यादिक कहना सो देवावर्णवाद है, बहुरि जिनभाषिन दश प्रकार धर्म गुणरहित है ताके सेवनवाले असुर होय है इत्यादिक कहना सो धर्मका अवर्णवाद है, बहुरि जे मुनि है ते स्नानरहित मलकरि लिपट्या है अंग जिनका ऐसे अपवित्र शूद्र हैं इत्यादिक कहना सो संघका अवर्णवाद है बहुरि केवली कबलहारतैं जीयै वा क्रमप्रवृत्त ज्ञानदर्शन सहित हैं इत्यादि कहना सो केवलीका अवर्णवाद है, बहुरि मांस मच्छीका खाना, मदिरा पान सेवना, स्त्री भोगना, रात्रिभोजन इत्यादि पाप रहित हैं ऐसा कहना सो श्रुतका अवर्णवाद है; ऐसैं देवादिकके अवर्णवादतैं दर्शनमोहका बंध होय है, जाकरि संसार विषै अनंत परिभ्रमण होय है ऐसा जानना ॥ ४५ ॥

सौख्यध्वंसी जन्यते निदनीयो, रौद्रो भावो यः कषायोदयेन ।

इत्ते जन्तोरेष चारित्रमोहं, विद्वेषी वा राध्यमानो निकृष्टः ॥ ४६ ॥

अर्थ—जो कषायके उदयकरि निंदने योग्य अर सुखका नाश करनेवाला रौद्रभाव उपजाइये है सो जीवकों चारित्रमोह देय है, जैसे द्वेषभाव सहित आराध्या भया नीच पुरुष आचरणमें प्रचेतपना उपजावै तैसे ।

भावार्थ—क्रोधादिक कषायनके उदयतैं जो तीव्रपरिणाम होय ताकरि जीवकैं चारित्र मोहका आस्रव होय है ऐसे जानना ॥ ४६ ॥

बह्वारंभप्रथसंदर्भदपैः, रौद्राकारस्तीव्रकोपादिजन्यैः ।

अभ्रावासे प्राप्यते जीवितव्यं, किंवा दुःखं दीयते नाघचेष्टैः ॥४७॥

अर्थ—बहुत आरम्भ कहिए हिंसा-कर्म, अर यह मेरी वस्तु, मैं याका स्वामी हूँ ऐसा आत्मीय भाव सो परिग्रह, इनकी ऐसा रचनाके मदनि करि तथा भयानक है आकार जिनके ऐसे तीव्रक्रोधादिके उपजावनेवाले भावनि करि नरक निवास विष जीवितपना पाइये है, अथवा पापरूप चेष्टानि करि कहा दुःख न दीजिये है ? दीजिये ही है ।

भावार्थ—बहुआरंभ बहुपरिग्रहतैं नरकायुका आस्रव होय है ॥४७॥
नानाभेदा कूटमानादिभेदै, मायाऽनिष्टाऽऽराध्यमाना जनानाम् ।

तिर्यग्योन जीवितव्यं विषत्ते, किं वा दत्ते वंचना न प्रयुक्ता ॥ ४८ ॥

अर्थ—कूट कहिये झूठ मान आदि भेदनिकरि नाना भेदस्वरूप आराध्यमान जो अनिष्ट माया सो तिर्यच योनिप्रति जीवितपनाकों धारै है, जस प्रयोगकरि ठिगविकी जो बुद्धिक्रिया सो कहा दुःख न देय है ?

भावार्थ—कुटिलपनेका नाम माया है सो मायाचारतैं तिर्यच आयुका आस्रव होय है ॥ ४८ ॥

अल्पांभप्रथसंदर्भदपैः सौम्याकरैः मंदकोपादिजन्यैः ।

सबो जीवो नीयते मानुषत्वं, किंनो सौख्यं दीयते शांतरूपैः ॥४९॥

अर्थ—मंदक्रोधादिक कषायनिकरि उपजे अर सौम्य है आकार जिनके, ऐसे अल्पारंभ परिग्रहकी रचना अल्पमान इन करि जीव जो है सो शीघ्र मनुष्यपणकों प्राप्त करिए है जैसे शांत है रूप जिनके ऐसे पुरुषनिकरि कहा सुख न दीजिए है ?, दीजिए ही है ।

भावार्थ—अल्प आरंभ अल्पपरिग्रहपनेतैं मनुष्यआयुका आस्रव होय है ॥ ४९ ॥

सम्यग्दृष्टिः श्रावकीयं चरित्रं, चित्राकामानिर्जरा रागवृत्तम् ।

आयुर्देवं प्राणाभाजो ददंते, शांता भावाः किं न कुर्वति सौख्यम् ॥५०॥

अर्थ—सम्यक्त्व अर श्रावक सम्बन्धी चारित्र अर नानाप्रकार अकामनिर्जरा अर सराग चारित्र ये जीवनकों देव सम्बन्धी आयु देय हैं, जातैं शांतभाव कहा सुख न करै है ?, करै ही है ।

भावार्थ—पूर्वोक्त भावनि करि देवायुका आस्रव होय है । इहां कोऊ कहै सम्यक्त्व चारित्र तौ मोक्षमार्ग है इनितैं आस्रव कैसे होय ? ताका उत्तर—एक आधार आत्माविधैं सम्यक्त्व चारित्र अर रागभाव दोऊ आधेय होतैं सम्यक्त्वचारित्रत तौ निर्जरा होय है, अर रागतैं बंध होय है ताका साहचर्य देखि उपचारतैं कड़िए है । सम्यक्त्व चारित्रतैं देवायु बंधै है, निश्चयतैं सम्यक्त्व चारित्रतैं निर्जरा है रागतैं बंध है, जैसे रूढ़तैं कहिये कि यह घृन जलावै है तहां घृन जलावनेका कारण नार्ही घृतमें अग्नि मिल्पा है तातैं जलै है ऐसा जानना ॥५०॥

संवादित्वं प्रांजला योगवृत्तिर्नाम्नो ज्ञेयं कारणं पूजितस्य ।

वक्रो योगोऽवादि संवादहान्या, सार्द्धं हेतुर्निन्दनीयस्य तस्य ॥५१॥

अर्थ—संवादिपना कहिये यथार्थ प्रवर्तकना, कहना अर सरल मन वचनकार्यरूप योगनिकी परिणति सो पूजित जो शुभ नामकर्म ताका कारण जानना, अर यथार्थ कहनेकी हानि जो संवादहानि

ताकरि सहित कुटिल मन वचन कायका योग सो निंदनीक जो अशुभ नामकर्म ताका कारण है; ऐसा जानना ।

भाषार्थ—इहां नामकर्मका विशेष जो अचिरत्य शक्तिसहित तीर्थकर नामकर्म ताके कारण आगम अनुसार कहिए हैं,—जिन-भाषित निप्रथ मोक्षमार्गविषै रुचि निःशंकितादि अष्ट अंग सहित दर्शनविशुद्धि कहिए, बहुरि ज्ञानादिकनिविषै जो परम आदर, कषायनका अमात्र सो विनयसम्पन्नता कहिए, बहुरि अहिंसादिक व्रत अर तिनके पालनेके अर्थ जे जे क्रोधादिक कषायनके त्यागरूप शील तिनविषै निर्दोष प्रवृत्ति सो शीलव्रतेष्वनतीचार कहिये, बहुरि ज्ञान भावना विषै नित्य उपयुक्तपना सो अभीक्षण ज्ञानोपयोग कहिये, बहुरि संसारके दुःखनिर्ते भयभीतपना सो संवेग कहिए, बहुरि आपके वा परके अर्थ देना सो त्याग है, बहुरि नाहीं छिपाया है वीर्य जानै ऐसे पुरुषकै मार्गतै अविरुद्ध कायकेश वरना सो तप है, बहुरि जैसे भांडा-गारमें अग्नि उठते संतै ताका शमन करिए तैसे अनेक व्रत शील करि सहित मुनिनके समूहके तपकौ कहूँ नै विप्र उठते संतै ताका उपशम करि तपकी स्थिरता करिये सो साधुसमाधि कहिए, बहुरि गुणवानकै दुःख आए संतै निर्दोष विधि करि दुःख दूर करना सो वैयाचृत्य कहिए, बहुरि अरहंतनिविषै तथा आचार्यनिविषै तथा बहुश्रुतनिविषै तथा प्रवचन जो जिनवाणी ताविषै भावकी शुद्धतासहित जो अनुगम सो अर्हद्भक्ति आचार्यभक्ति बहुश्रुतभक्ति प्रवचनभक्ति कहिये, बहुरि सामायिकादि छह आवश्यक क्रियानिका यथाकाल करना सो आवश्य-कापरिहाणि कहिए, बहुरि ज्ञान तप जिनपूजाकी विधि इन करि धर्मका प्रकाशना सो मार्गप्रभावना कहिए, बहुरि वच्छाविषै गौकी ज्यो साधमी विषै जो प्रीति सो प्रवचनवात्सल्य कहिए । ऐसै यह

बोडशकारण सम्यग्दर्शनसहित तीर्थकर नामकर्मके अस्रवके कारण जानना ॥ ५१ ॥

नीचैर्गोत्रं स्वप्रशंसान्यनिदे, कुर्वाणोऽसत्सद्गुणोच्छादने च ।

प्राप्तोत्यंगी प्रार्थनीय महिष्ठै, रुच्चैर्गोत्रं मंक्षु तद्वैपरीत्ये ॥ ५२ ॥

अर्थ—आपकी प्रशंसा वा अन्यकी निंदा अर आपके न होते गुण प्रगट करना अर दूसरेके होते गुण ढांकना इनको करता सन्तानिच गोत्रको प्राप्त होय है, बहुरि तिनके विपरीतपना होतसतैं बड़े पुरुषनिकरि प्रार्थने योग्य उच्च गोत्रकू शीघ्र ही पावै है ॥ ५२ ॥

दानं लाभो वीर्यभोगोपभोगा, नो लभ्यन्ते प्राणिना विघ्नभाजा ।

विज्ञायेत्यं विघ्नभीतेन विघ्नो, नो कर्त्तव्यः पंडितेन त्रिधाऽपि ॥ ५३ ॥

अर्थ—विघ्न जो अन्तराय ताका करनेवाला जो जीव ताकरि दान लाभ भोग उपभोग वीर्य न पाइए है ऐसा जानि विघ्नतैं भयभीत पंडितनकरि मन वचन कायनै विघ्न करना योग्य नाहीं ।

भावार्थ—परके दानादिकमें विघ्न करनेतैं अन्तरायका आस्रव होय है ॥ ५३ ॥

इहां कोऊ कहै ये ज्ञानावरणादिकके नियमरूप कारण कहे ते सब ही कर्मनके आस्रवके कारण होय हैं । जाका जातैं आगमनविवै ज्ञानावरणका बन्ध होता युगपत औरनका भी बन्ध कहिए है तातैं आस्रवके नियमका अभाव आया ताको कहिए है—यद्यपि पूर्वोक्त-कारणकरि ज्ञानावरणादिक सर्व कर्मनिका प्रदेशादि बन्धका नियम नाहीं तथापि अनुभाग विशेषके नियमके हेतुपने करि न्यारे कारण कहिए हैं ऐसा जानना ।

आगे बन्ध तत्त्वका वर्णन करै हैं—

ये गृह्यन्ते पुद्गलाः कर्मयोग्याः, क्रोधाषाढ्यैश्चेतनैरैष बन्धः ।

मिथ्यादृष्टिर्निवृत्तत्वं कषायो, योगो ज्ञेयस्तस्य बन्धस्य हेतुः ॥ ५४ ॥

अर्थ—क्रोधादिक कषायनिकरि सहित जीवनिकरि कर्म योग्य पुद्गल ग्रहण करियेहे सो यह बंध है, बहुरि ता बंधके बीजभूत कारण मिथ्यादर्शन, अविगत, कषाय, योग जानना योग्य है ।

भावार्थ—जैसे भूखसहित जीव मुखद्वार करि आहार ग्रहण करै है तैसे मोक्षसहित जीव योगद्वारतै कार्माण वर्गणा ग्रहण करै सो बंध कह्या ॥ ५४ ॥

बंधः स मतः प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदेन ।

पटुभिश्चतुःप्रकारो, येन भवे भ्रम्यते जीवः ॥ ५५ ॥

अर्थ—प्रकृति स्थिति अनुभाग प्रदेश इन भेदनिकरि सो बंध प्रवीण पुरुषनिर्भे चार प्रकार कह्या है, जिस बंध करि जीव संसारविषै भ्रमाइए है ॥ ५५ ॥

स्वभावः प्रकृतिः प्रोक्ता, स्थितिः कालावधारणम् ।

अनुभागो विपाकस्तु, प्रदेशोऽशप्रकल्पनम् ॥ ५६ ॥

अर्थ—स्वभाव तौ प्रकृति कही है जैसे निंबका कटुक स्वभाव है मिश्रीका मिष्ट स्वभाव है ऐसे ज्ञानावरणादिकनिका ज्ञानघातनादिक स्वभाव है सो तो प्रकृतिबन्ध जानना, बहुरि काल जो अवधारण मर्यादा सो स्थितिबन्ध है,

भावार्थ—तिस स्वभावका न छूटना सो स्थिति है। बहुरि विपाक जो रस सो अनुभागबन्ध है,

भावार्थ—तिस प्रकृतिके रसविशेषका नाम अनुभव है जैसे अजा गौ महिषी आदिके दुग्धनिके तीव्र मंदादि भावकरि विशेषता है तैसे बहु अंश जे परमाणु तिनकी संख्याका कल्पना सो प्रदेशबंध है,

भावार्थ—जघन्य तौ अभव्यनितै अनंतगुणा उत्कृष्ट सिद्धनके अनंतवे भाग जो समयप्रबद्ध ताका ज्ञानावरणादि रूप यथायोग्य

ह्रीनाधिक परमाणुनका बटवारा हो जाय सो प्रदेशबन्ध है ऐसा जानना ॥ ५६ ॥

करांति यांगात्प्रकृतिप्रदेशौ, कषायतः स्थित्यनुभागसंज्ञौ ।

स्थिति न बंधः कुरुते कषाये, क्षीणे प्रशांते स ततोऽस्ति हेयः ॥५७॥

अर्थ—योगतै प्रकृति अर प्रदेशबंधकों करै है, बहुरि स्थिति अर अनुभागपना बंधकों कषायतै करै है, बहुरि कषायकों क्षय होतसंतै वा उपशम होतसंतै बंध स्थितिकों न करै हैं तातैं सो कषाय त्यागना योग्य है ।

भावार्थ—कषाय विना केवल योगनत बंध होय है सो एक सातावेदनीयका स्थिति बंध है सो अनंतर समयमें खिर जाय है सो संसारका कारण नाहीं । बहुरि कषाय सहितके बंध होय है, सो स्थिति अनुभाग सहित होय है सो संसारका कारण है । तातैं कषाय त्यागना योग्य है ऐसा जानना ॥ ५७ ॥

स्वीकरोति स कषायमानसो, मुञ्चते च विकषायमानसः ।

कर्म जन्तुरिति सूचितो, विधिबंधमोक्षविषयो विबंधनेः ॥ ५८ ॥

अर्थ—कषाय सहित है मन जाका ऐसा पुरुष है सो कर्मकों अंगीकार करै है । बहुरि कषाय रहित है मन जाका ऐसा जीव है सो कर्मकों त्यागे है; ऐसैं बन्ध मोक्षकी विधि बन्धन रहित जे सर्वज्ञदेव तिनकरि कहाँ है ।

भावार्थ—रागभावतैं तो बंध है अर वातराग भावतैं मोक्षहै ऐसा सर्वज्ञका उपदेश है तातैं राग त्यागि वीतराग होना योग्य है ॥ ५८ ॥

ऐसैं बन्धतत्वका वर्णन किया; आगैं संवरतत्वका वर्णन करै हैं—

आस्रवस्य निरोधो यः, संवरः स निगद्यते ।

भाषद्रव्यविकल्पेन, द्विविधः कृतसंबधैः ॥ ५९ ॥

अर्थ—करवा है संवर जिननै ऐसे मुनिस्वग्निकरि आस्रवका रोकना सो संवर द्रव्य भावके भेदकरि दोयप्रकार कहिए है ॥ ५९ ॥

क्रोधलोभभयमोहरोषनं, भावसंवरमुशन्ति देहिनाम् ।

भाविकल्मषनिवेशरोषनं, द्रव्यसंवरमपास्तकल्मषाः ॥ ६० ॥

अर्थ—नाश किए है पाप जिननै ऐसे आचार्य है ते क्रोधलोभ भय मोह इनिका जो रोकना ताहि भाव संवर कहै हैं, बहुरि आग मी कर्मके प्रवेशका रोकना ताहि द्रव्य संवर कहै हैं ।

भावार्थ—रागादिभाव रोकना सो भावसंवर कहिए ऐसा जानना अर ताके निमित्त करि बद्ध जे कर्मपुद्गल तिनका रोकना सो द्रव्यसंवर कहिए, ऐसा जानना ॥ ६० ॥

धार्मिकः समिति गुप्तो विनिजितपरीषहः ।

अनुप्रेक्षापरः कर्म, संघृणोति संसंयमः ॥ ६१ ॥

अर्थ—धर्मसहित अर समितिसहित अर गुप्तिसहित अर जीते हैं परीषह जानै, ऐसा बहुरि अनुप्रेक्षामें तत्पर अर संयमसहित ऐसा जीव है सो कर्मको संवरै है—रोकै है ।

भावार्थ—कषायनिके अभावरूप उत्तमक्षमादि दशधर्म अर प्रमादरहित प्रकृतिरूप पंचमिति अर भलेप्रकार मन, वचन, कायके योगनिका निग्रह रूप तीन गुप्ति, अर मार्गतैं न छूटनेके अर्थि तथा निर्जराके अर्थि सहने योग्य क्षुधादि बाईम परीषह, बहुरि स्वभावका वारम्बार चिन्तनरूप अनित्यादि द्वादशानुप्रेक्षा, बहुरि प्राणीनिकी हिंसा अर इन्द्रियनके विषय इनिके त्यागरूप सामाधिक्यादि पंचप्रकार संयम ये भाव संवरके विशेष हैं, जातैं इनिकरि रागादि आस्रव रुकै है ऐसा जानना ॥ ६१ ॥

मिथ्यात्वाव्रतकोपादियोगैः कर्म यदुच्यते ।

तन्निरस्यंति सम्यक्त्वव्रतनिग्रहरोधनैः ॥ ६२ ॥

अर्थ—मिथ्यात्व अर अत्रत अर क्रोधादि कषाय अर योग इनकरि जो कर्म उपार्जन करिये है सो कर्म सम्यक्त्व व्रत क्रोधादिकका निग्रह योगनिका रोकना इनि करि दूरि करिए है । मिथ्यात्वादि भावकरि द्रव्यकर्मका आस्रव होय है ताहि सम्यक्त्वादि भाव करि रोके द्रव्यसंवर होय है ॥ ६२ ॥

ऐसा द्रव्यसंवरका स्वरूप जानना, आगैं निर्जरा तत्वका वर्णन करै हैं;—

पूर्वोपाजितकर्मैकदेशसंक्षयलक्षणा ।

सविपाकाऽविपाका च, द्विविधा निर्जराऽकथि ॥ ६३ ॥

अर्थ—पूर्वोपाजित कर्मनिकी एकदेश क्षय है लक्षण जाका ऐसी नाना प्रकार (दोय प्रकार) सविपाका अर अविपाका निर्जरा कही ॥ ६३ ॥

तिनका स्वरूप कहै हैं;—

यथा फलानि पच्यन्ते, कालेनोपक्रमेण च ।

कर्माण्यपि तथा जन्तोरुपात्तानि विसंशयम् ॥ ६४ ॥

अर्थ—जैसे फल हैं ते अपने कालकरि तथा पाळ आदि उपक्रम करि पकै हैं तैसे जीवके ग्रहण करे कर्म हैं ते भी अपनी स्थितिरूप कालकरि तथा तपश्चरणादिककरि निःसंदेह पकै-खिरै हैं ॥ ६४ ॥

अनेहसा या दुरितस्य निर्जरा, साधारणा सा परकर्मकारिणी ।

विधीयते या तपसा महीयसा, विशेषणी सा परकर्मवारिणी ॥६५॥

अर्थ—ज्यो कालकरि कर्मकी निर्जरा है सो साधारण है सर्व जीवनक है अर और कर्मनके करनेवाली है ।

भावार्थ—सविपाक निर्जरा तौ अपनी स्थिति पूरि करि समय-प्रबद्ध मात्र कर्म सबहीकै खिरै हैं तातैं साधारण है, अर ताके उदयतैं

जीवकै राग द्वेष होय है ताकरि आगामी कर्मबन्ध होय है । अर जो सम्यग्दर्शनादिकके प्रयोग करि विना स्थिति पूरी भए ही अनेक समय-प्रबद्ध एकै काल खिरै सो अविपाक निर्जरा है, इहां जीवकै रागादिकके अभावतैं आगामी कर्म न बन्धै है तातैं मोक्षहीकी करनेवाली है ऐषा जानना ॥ ६५ ॥

वितप्यमानस्तपसा शरीरी, पुराकृतानामुपयाति शुद्धिम् ।

निधायमानः कनकोपलः किं, सप्तार्चिषा शुद्धयति कश्मलेभ्यः ॥६६॥

अर्थ—तप करि तप्तायमान जीव है सो पूर्वकृत कर्मनकी शुद्धिताकौ प्राप्त होय है, जैसे अग्नि करि घम्या भया सुवर्णका पाषाण सो मलनितैं कहा शुद्ध न होय है ? होय ही है ॥ ६६ ॥

घातिकर्म विनिहृत्य केवलं, स्वीकरोति भुवनावभासकम् ।

चेतनः सकललोकसम्मतं, ध्वांतराशिमिव भास्करो दिनम् ॥ ६७ ॥

अर्थ—चेतन आत्मा है सो घातिकर्मनिकौ नाशकरि लोकका प्रकाशक अर समस्त लोककरि मान्या ऐसा जो केवलज्ञान, ताहि अङ्गीकार करै है । जैसे अन्धकारके समूहकौ नाशकरि सूर्य दिनकौ अङ्गीकार करै तैसे ॥ ६७ ॥

निर्मूलकाषं स निकृष्य कल्मषं, प्रयाति सिद्धिं कृतकर्मनिर्जरः ।

विनिर्मलध्यानसमृद्धपावके, निवेश्य दग्ध्वाऽखिलबन्धकारणम् ॥६८॥

अर्थ—विशेषकरि निर्मल ध्यान जो शुद्धध्यान सो ही भया वृद्धिकौ प्राप्त अग्नि, ताविषैं प्रवेश कराय समस्त बन्धके कारणनिकौ जलायकरि करी है कर्मकी निर्जरा जानै ऐसा जो आत्मा सो कल्मष उयो समस्त कर्म ताहि निर्मूल जैसे होय तैसे उखाडकरि मोक्ष अवस्थाकौ प्राप्त होय है । ६८ ॥

निर्घर्गतो गच्छति लोकमस्तकं, कर्मक्षयानन्तरमेव चेतनः ।

घर्मास्तिकायेन समीरतोऽनघं, समीरणेनैव रजश्चयः क्षणात् ॥ ६९ ॥

अर्थ—कर्मक्षयके अनन्तर ही धर्मास्तिकाय करि प्रेरणा आत्मा क्षणमात्रमें निर्मल होय लोकके मस्तक परि गमन करै है । जैसे पवन करि उड़ाया रजका समूह ऊपरको जाय तैसे ।

भाचार्य—आत्माका उर्द्धगमन स्वभाव है, कर्म नष्ट भये निज स्वभाव प्रगटै है ताकरि धर्मास्तिकायके सहायतै लोकके शिखर ताई धर्मास्तिकाय है तहां ताई जाय तिष्ठै है ताके प्रभावतै न जाय है । इहां धर्मास्तिकाय करि प्रेरणा गमनका सहकारीपना ही जानना जातै धर्मद्रव्य किछू जबरीसौ न चलावै है, स्वयमेव चलतेनको सहकारी कारण है ऐसा जानना ॥ ६९ ॥

निरस्तदेहो गुरुदुःखपीडितां, विलोकमानो निखिलां जगत्त्रयीम् ।

स भाविनं तिष्ठति कालमुज्ज्वलो, निराकुलानंतसुखाब्धिमध्यगः ॥७०॥

अर्थ—त्याग किया है शरीर जाने ऐसा सो सिद्धात्मा महादुःख करि पीडित जो जगतको प्रयी कहिये तीन लोक ताहि विलोकता सन्ता आगामी काल तिष्ठै है, कैमा है । सो आत्मा, द्रव्य भावकर्मरहित उज्ज्वल है अर निराकुल अनंत सुखसमुद्रके मध्य प्राप्त है ॥७०॥

यदस्ति सौख्यं भुवनत्रये परं, सुरेन्द्रनागेन्द्रनरेन्द्रभोगिनाम् ।

अनन्तभागोऽपि न तन्निगद्यते, निरेनमः सिद्धिसुखस्य सूरिभिः ॥७१॥

अर्थ—तीन लोकके भोगनिका सुख एकठा करिये सो सिद्ध भोगसहित हैं तिनका ज उच्छ्रुत सुख है सो सुख कर्मरहित जो सिद्धात्मा ताके मुक्तिसुखके अनंतवें भाग भी आचार्यनिकरि नहीं कहिए है ।

भाचार्य—तीन लोकके भोगनिका सुख एकठा करिये सो सिद्ध सुखके अनंतवें भाग नाही ऐसा जानना, भोगनिका सुख तो आकुलतामय है अर सिद्धसुख है सो निराकुल है, तातैं इन सुखनिका एक जाति नाहीं, परन्तु निराकुल सुख तो संसारकी दृष्टिमें आवै नाहीं

अर ताके सिद्धपद उत्कृष्ट बताया जाइए तातें उपचारतें भोगनका सुख सिद्धनका सुखतें अनंतवें भाग भी नाहीं ऐसा जानना ॥ ७१ ॥

ऐतें मोक्षतत्वका वर्णन किया। इहां प्रयोजन ऐसा है कि चैतन्य लक्षण आपकों जानै चेतनारहित समस्त देहादि परद्रव्यनिमें अहंकार ममकार त्यागना योग्य है, अर रागादिक आस्रव है तिनतें दुःख अवस्था स्वरूप बंध होय है सो तिनकों अहित जानि जैसे आस्रव बंध न होय तैसे प्रवर्तना योग्य है, अर वैराग्य भावना संवर है, तापूर्वक कर्मनका एकदेश नाश होना सो निर्जरा है इनकों हितरूप जानि संवर निर्जराके कारणनिमें प्रवृत्ति करना योग्य है, अर सकल कर्मनिमें रहित ज्ञानानंदमयी जो आत्माकी अवस्था सो मोक्ष है आत्माका परमहित है ताहिके अर्थ अन्य समस्त वांछा त्यागि यत्न करना यह ही सबे तत्व कथनका प्रयोजन है ऐसा निश्चय करना ॥

इमे पदार्थाः कथिता महर्षिभिर्यथायथं, सप्त निवेशिताः हृदि ।

विनिर्मलां तत्वरुचि वितन्वते, जिनोपदेशा इव पापहारिणीं ॥७२॥

अर्थ—महाऋषीनकरि कहे जे सप्त पदार्थ ते यथायोग्य हृदयविव प्रवेशरूप क्रिये संते निर्मल पापकी हरनेवाली रुचि-प्रतीतिकों विस्तारैं हैं । जैसे जिनेंद्रके उपदेश रुचि विस्तारैं तैसे ।

भावार्थ—तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षण सम्यग्दर्शनकी शुद्धिता इन तत्व-निके विशेष जाने अधिक अधिक होय है ऐसा जानना ॥ ७२ ॥

आगैं सम्यक्त्वके निःशंकितादि अष्ट अंगनिका वर्णन करैं हैं;—विरागिणा सर्वपदार्थवेदिना, जिनेशिनैते कथिता न वेति यः ।

करोति शंकां न कदापि मानसे, निःशंकितोऽसौ गदितो महामनाः ॥७३॥

अर्थ—वीतराग अर सर्वपदार्थनिका ज्ञाता जिनेन्द्र देवता करि ये सर्व पदार्थ बड़े हैं ते हैं? वा नाहीं हैं? ऐसी शंकाकों जो कदाचिद्

मनविषै नहीं करै सो यहू महामुनि (महामना) निःशंकित बह्यो है ।

भावार्थ—जिन वचनमें वा आत्म स्वरूपमें संवेह न होना सां निःशंकित अंग है ऐसा जानना ॥ ७३ ॥

विधीयमानाः शमशीलसंयमाः, श्रियं ममेमे वितरंतु चिंतिताम् ।

सांसारिकानेकसुखप्रवर्द्धिनीं, निःकांक्षितो नेति करोति कांक्षणाम् ॥७४॥

अर्थ—ये उपशम शील संयम हैं ते करे भये संसारीक अनेक सुखनिकी बढ़ावनेवाली वांछित लक्ष्मीकों मेरें विस्तारहू ऐसी वांछा, निःकांक्षिन पुरुष है सो न करै है ।

भावार्थ—कर्मके फलकी वांछा त्यागिये सो निःकांक्षित अंग जानना ॥ ७४ ॥

तपस्विनां यस्तनुमस्तसंस्कृति, जिनेन्द्रधर्म सुतरां सुदुष्करम् ।

निरीक्षमाणो न तनोति निंदनं, स भण्यते धन्यतमोऽचिकित्सकः ॥७५॥

अर्थ—जो तपस्वीनके मलिन शरीरकूं देख तथा अति कठिन जिनेन्द्रभाषित धर्मकों देखि निंदाको नाहीं विस्तारै है सो जीव विचि- कित्सारहित अतिशयकरि धन्य कहिए है ।

भावार्थ—तपस्वीनके मलिन शरीरकूं देखिकैं तथा अनशनादि घोर तप देख करि ग्लानि नहीं करनी सो निर्विचिकित्सानाम सम्य- क्तवका अंग जानना ॥ ७५ ॥

देवधर्मप्रमयेषु मूठता, यस्य नास्ति हृदये कदाचन ।

चित्रदोषकलितेषु सन्मतेः, सोच्यते स्फुटममूढदृष्टिकः ॥ ७६ ॥

अर्थ—नाना प्रकार दोषन करि व्याप्त जे देव अर धर्म अर समय कहिए सर्व मत इन विषै सुबुद्धिके हृदय विषै कदाचित् मूढता कहिये मूर्खता नहीं है सो अमूढदृष्टि कहिए हैं ।

भावार्थ—देवपनेकी आभास धरें ऐसे हरिहरादिक अर धर्मा-

भाष यज्ञादिक अर समयभाष वैष्णवमत आदिक इन विषै ये भी देवादिक हैं ऐसी मूढ़ताका अभाव सो अमूढ़दृष्टि जानना ॥ ७६ ॥

यो निरीक्ष्य यतिलोकदूषणं, कर्मपाकजनितं विशुद्धधीः ।

सर्वथाप्यवति धर्मबुद्धितः, कोविदास्तमुपगूहकं विदुः ॥ ७७ ॥

अर्थ—जो निर्मल बुद्धि पुरुष कर्मके उदय करि उपज्या ज्यो यतिजननिका दूषण ताहि देख करि धर्मबुद्धितें सर्व प्रकार गोपै है ताहि पंडितजन उपगूहन कहैं हैं ।

भावार्थ—जो परके दोष वा अपने गुण ढांकना सो उपगूहन अंग जानना तथा इस ही अंगका नाम उपबृंहण भी बह्या है तहां 'आत्मशक्तिका पुष्ट करना' अथ ग्रहण किया है ॥ ७७ ॥

निवर्त्तमानं जिननाथवर्त्मनो, निपीड्यमानं विविधैः परीषहैः ।

विलोक्य यस्तत्र करोति निश्चलं, निरुच्यतेऽसौ स्थितिकारकोत्तमः ॥७८॥

अर्थ—जो नानाप्रकार परीषहनि करि पीडित भया संता जिननाथके मार्गतें चिगते पुरुषकों देख करि तिष जिनमार्ग विषै निश्चल करै सो यह स्थिति करनेवाला उत्तम कहिए है ।

भावार्थ—जिन धर्मतें वा आत्मस्वरूपतें आपकों वा परकों चिगतेकों स्थिर करना स्थितिकरण अंग कह्या है ॥ ७८ ॥

करोति संघे बहुधोपसर्गै, रुपद्रुते धर्मधियाऽनपेक्षः ।

चतुर्विधे व्यापृतिमुज्ज्वलां यो, वात्सल्यकारी स मतः सुदृष्टिः ॥७९॥

अर्थ—मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका ऐसे चार प्रकार संघकों बहुत प्रकार उपसर्ग करि पीडित भए संते जो वांछारहित धर्म-बुद्धि करि निर्मल वैयावृत्त्याचार करै है सो सम्यग्दृष्टि वात्सल्य करने-वाला कह्या है ।

भावार्थ—जिन धर्मान विषै वा आत्मस्वरूप विषै अति प्रीति करना सो वात्सल्य अंग जानना ॥ ७९ ॥

निरस्तदोषे जिननाथशासने, प्रभावनां यो विदधाति शक्तिः ।

तपोदयाज्ञानमहोत्सवादिभिः, प्रभावकोऽसौ गदितः सुदर्शनः ॥८०॥

अर्थ—दूरि भये हैं रागादिक दोष जाके ऐसा जो जिननाथका शासन ताविषै जो शक्तिसारू तप, दया, ज्ञान, महोत्सव इत्यादिकनि करि प्रभावनाकों करै है उद्योग करै है सो यहु सम्यग्दृष्टि प्रभावना करनेवाला कह्या है । सर्व जीव मानै कि जिनमत घन्य है तामे ऐसे तपश्चरणादि पाइए है, ऐसे तपश्चरणादिक करि जिनमतका उद्योत करना तथा निश्चयतै आत्माकूँ रत्नत्रयतै आभूषित करना सो प्रभावना अङ्ग जानना ॥ ८० ॥

गुणैरमीभिः शुभदृष्टिकंठिकां, दधाति बद्धां हृदि योऽष्टभिः सदा ।

करोति वश्याः सकलाः स संपदो, बधूरिवेष्टाः सुभगो वशंवदः ॥८१॥

अर्थ—जो पुरुष इन निःशंकितादि अष्टगुण कहिए सूत्रनि करि बन्धी सम्यग्दृष्टिरूप मालाकों हृदयविषै सदा धारै है सो समस्त सम्पदानकों वश करै है । जैसे भले वचननिका बोलनेवाला सुन्दर पुरुष वाञ्छित बधूनिनै वश करै तैसें ।

भावार्थ—जैसें माला पहरे सुन्दर पुरुष भलेवचननिका बोलनेवाला स्त्रीनिकों वशि करै है तैसें निःशंकितादि सूत्रनि करि बन्धी सम्यग्दृष्टिरूप माला पहरनेवाला जीव इंद्रादि सम्पदाकों वशि करै है ऐसा जानना ॥ ८१ ॥

सुदर्शनं यस्य स ना सुभाजनः, सुदर्शनं यस्य स सिद्धिभाजनः ।

सुदर्शनं यस्य स धीविभूषितः, सुदर्शनं यस्य स शीलभूषितः ॥८२॥

अर्थ—जाकेँ सम्यग्दर्शन है सो पुरुष भला पात्र है, अर जाके सम्यग्दर्शन है सो सिद्धिका भजनेवाला है, अर जाके सम्यग्दर्शन है सो शीलकरि भूषित है ॥ ८२ ॥

नो जायते पावने ज्ञानवृत्ते, सम्यक्त्वेन प्राणिनो वर्जितस्य ।
शर्माधारे कोषराज्ये न दृष्टे, नूनं कापि न्यायहीनस्य राज्ञः ॥ ८३ ॥

अर्थ—जैसै सुखके आधार जे भण्डार अर राज्य ते न्यायरहित-
राजाके निश्चयकरि कहूं भी न देखिए तैसै सम्यक्त्व करि वर्जित
जीवके पवित्र ज्ञान अर चारित्र न होय हैं ।

भावार्थ—सम्यक्त्व विना ज्ञानचारित्र सम्यक्पनेको न पावै तातै
सम्यक्त्व सवनिमें प्रधान है ऐसा जानना ॥ ८३ ॥
सुदर्शनेनेह विना तपस्या, मिच्छंति ये सिद्धिकरीं विमुढाः ।
काक्षंति बीजेन विनापि मन्ये, कृषिं समृद्धां फलशालिनीं ते ॥ ८४ ॥

अर्थ—जो लोग इहां सम्यग्दर्शन विना सिद्धि करनेवाली तपस्याकूं
चांछे हैं सो मैं मानूं हूं कि ते पुरुष बीजविना फल करि शोभित
वृद्धिकों प्राप्त ऐसी खेतीकूं चाहै हैं ।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन विना अनशनादि क्रिया ताका विना
शून्यवत्, शून्य ही है तातै सम्यग्दर्शन सहित क्रिया करनी योग्य
है ॥ ८४ ॥

लोकालोकविलोकिनीमकलितां गीर्वाणवर्गाचिंतां,

दत्ते केवलसम्पदं शमवतामानीय या लीलया ।

सम्यग्दृष्टिरपास्तदोषनिवहा यस्यास्ति सा निश्चला,

तेन प्रापि न किं सुखं बुभुजनैरभ्यर्ध्यमानं चिरम् ॥ ८५ ॥

अर्थ—नाश भये है शंकादिक दोषनिके समूह जाके ऐसी
निर्दोष निश्चल सम्यग्दृष्टि जाके है ता पुरुष करि पंडित जननि करि
बहुत काल ताई प्रार्थना किया ऐसा जो सुख सो कहा न पाया ?
अपि तु पाया ही। कैसी है सम्यग्दृष्टि जो लीलामात्र करि मुनिराजनिकों
केवलज्ञानकी जो सम्पदा ताहि न्याय करि देय है, कैसी है केवलज्ञान

संपदा लोकोलोककी देखनेवाली अर पापमल रहित अर देवनिके समूहनि करि पूजित ऐसी है ।

भाषार्थ—सम्यक्त्व भए केवलज्ञानकी प्राप्ति शीघ्र ही होय है ऐसा जनाया है ॥ ८५ ॥

सम्यक्त्वोत्तमभूषणोऽमितगतिर्द्वैते व्रतं यस्त्रिधा, भुक्त्वा भोगपर-
म्परामनुपमां गच्छत्यसौ निर्वृतिम् । सर्वापापनिदूषिणीमपमलां चिंतामणिं
सेवते, यः पुण्याभरणोचितः स लभते पूर्तां न कां संपदम् ॥ ८६ ॥

अर्थ—सम्यक्त्व है उत्तम आभूषण जाके अर अमितगति कहिए न जानी जाय है महिमा जाकी ऐसा जो जीव मन वचन काय करि व्रतको धारण करे है सो उपमारहित भोगनिकी परंपराको भंग करि मोक्षको प्राप्त होय है, जो पुण्य आभरण करि अर्जित पुण्योदय सहित पुरुष सर्व दरिद्रकी नाश करनेवाली चिंतामणिको सेवे है सो कौन पवित्र संपदाको न पावे है ? पावे ही है ॥ ८६ ॥

ऐसे सम्यग्दर्शनके विषय सततत्व सम्यक्त्वके अंगका इहां ताई निरूपण किया ।

छुपय ।

वीतराग सर्वज्ञ कहे जीवादि तत्व इम,
करि प्रतीति बसु अंगसहित अति होय अचल जिम ।
यह कारण व्यवहार कार्य आत्म लखि लीजे,
षट् द्रव्यनितै भिन्न नियति सम्यक् रस पंजे ॥
इस विना विफल अवगम चरण, अंक विना विंदी यथा ।
ता सहित सार सुख भोग फिर, होय अमितगति सर्वथा ॥
इत्युपासकाचारे तृतीयः परिच्छेदः ।

ऐसे श्री अमितगति आचार्यकृत भावकाचारविषे
तृतीय परिच्छेद समाप्त भया ।

चतुर्थ परिच्छेद ।

आगै अन्यमतिनके एकांत पक्षका निराकरण करि जीवादिकका वर्णन हेतुवाद सहित करेंगे । तहां हेतुके स्वरूप जाननेकूं प्रथम प्रमाणका वर्णन संक्षेप मात्र करिए है । तहां आप वा अपूर्व अर्थ कहिए अनिश्चित पदार्थ इनिका निश्चय स्वरूप जो सम्यक् ज्ञान सो प्रमाण है, सो प्रत्यक्ष परोक्षके भेदकरि दोय प्रकार है । सामान्य विशेषनिः सहित वस्तुका स्पष्ट जानना सो प्रत्यक्षका लक्षण है, अर सामान्य विशेष सहित वस्तुको अस्पष्ट व्यवधान सहित जानना परोक्षका लक्षण है । तहां सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष अर पारमार्थिक प्रत्यक्ष ऐसैं प्रत्यक्ष दोय प्रकार है, तहां इंद्रिय मनसैं उत्पन्न भए तीनसै लच्छीस भेदरूप मतिज्ञान सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष है जातैं इनिमें दोय प्रकार विशदता पाइए है, अर परमार्थ प्रत्यक्षमें अवधि, मनःपर्यय देशप्रत्यक्ष हैं जातैं इनमें एकदेश विशदता पाइए है अर केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है जातैं सर्वको विशद जानै है । बहुरि परोक्ष प्रमाणके भेद पांच हैं—स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान, आगम । तहां पूर्व अनुभवमें आया वस्तुका स्मरण हो आदि भावना सो स्मृति है; अर दोऊनितैं एकपना अर सदृशपना आदि कोऊ रूपज्ञान होना सो प्रत्यभिज्ञान है; बहुरि साध्य साधनकी व्याप्ति जो अविनाभाव ताको जानै सो तर्क है; बहुरि साधनतैं साध्य पदार्थका ज्ञान होना सो अनुमान है, ताके भेद स्वार्थानुमान, परार्थानुमान; तहां साधनतैं साध्यको आप ही निश्चयकरि जानै सो स्वार्थानुमान है । बहुरि परके उपदेशतैं निश्चयकरि जानै सो परार्थानुमान है । ताके पांच अवयव हैं; प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन, तहां साध्य अर साधनका आश्रय दोऊको पक्ष कहिये ऐसैं पक्षके वचनको प्रतिज्ञा कहिए

है तहां साध्यका स्वरूप शक्य अभिप्रेत अप्रसिद्ध ऐसैं तीनरूप है । अर साध्यका आश्रय प्रत्यक्षादिक करि प्रसिद्ध होय है । बहुरि साध्यतैं अविनाभाव प्राप्ति जाक होय ऐषा साधनका स्वरूप है ताका वचनकौ हेतु कहिए । बहुरि पक्ष सरीखा तथा विलक्षण अन्य ठिकाणा होय ताकूं दृष्टांत कहिए ताका वचनकूं उदाहरण कहिए सो पक्ष सारिखेकूं अन्वयी कहिए विपरीतकूं व्यतिरेक कहिये । बहुरि हेतु-पूर्वक पक्षका नियम करि कहना निगमन है । इनका उदाहरण ऐषा है—यह पर्वत अग्निमान् है यह तो प्रतिज्ञा है; जातैं यह धूमवान हैं यह हेतु है; बहुरि जो धूमवान नाहीं सो अग्निमान नाहीं । जैसे जलका निवास, यह व्यतिरेक दृष्टांत है; ऐषा वचन यह उदाहरण है । बहुरि यह पर्वत भी वैसा ही धूमवान है यह उपनय है; बहुरि तातैं यह अग्निमान है यह निगमन है । ऐसैं पांच प्रयोगका परार्थानुमान है सो अन्युत्पन्नके अर्थ है अर व्युत्पन्नके अर्थ प्रतिज्ञा अर हेतु ऐसैं दोय अवयवस्वरूप ही हैं । बहुरि आस जो सर्वज्ञ ताके वचनतैं वस्तुका निश्चय करना सो आगम प्रमाण है । ऐसैं प्रमाणकी संख्या कही । बहुरि प्रमाणका विषय सामान्य विशेष स्वरूप पदार्थ है । बहुरि वीतरागता वा प्रहण त्याग बुद्धि वा अपने विषयमें अज्ञानका नाश यह कथंचित् अभिन्न कथंचित् भिन्न प्रमाण फल है ।

ऐसैं प्रमाणका संक्षेप स्वरूप बद्धा, विशेष आक्षेप समाधान खण्डन मंडनादि प्रमाण निर्णय परीक्षामुखादि ग्रन्थनिर्तैं जानना, यहां हेतु आदि आधैंगे तिनिकौं यथार्थ जान लेना ।

आगैं चार्वाक मतवाले अपना पक्ष स्थापै हैं;—

केचिद्वदन्ति नास्त्यात्मा, परलोकगमोद्यतः । तस्याभावे विचारोऽयं,
तत्वानां घटते कुतः ॥१॥ विद्यते परलोकोऽपि, नाभावे परलोकिनः ।

अभावे परलोकस्य, धर्माधर्मक्रिया वृथा ॥ २ ॥ इह लोकसुखं हित्वा,
ये तपस्यन्ति दुर्धियः । हित्वा हस्तगतं प्रांसं, ते लिहन्ति पदा-
गुलिम् ॥ ३ ॥ विहाय कलिं शंकां, यथेष्टं चेष्टतां जनः । चेतनस्य
हि नष्टस्य, विद्यते न पुनर्भवः ॥ ४ ॥ नान्यलोके मतिः कार्या,
मुक्त्वा शर्मैहलौकिकम् । दृष्टं विहाय नादृष्टे कुर्वते धिषणां
बुधाः ॥ ५ ॥ पृथिव्यभोग्निवातेभ्यो, जायते यंत्रवाहकः । पिष्टोदक-
गुडादिभ्यो, मदशक्तिरिव स्फुटम् ॥ ६ ॥ जन्मपंचत्वयोरस्ति, पूर्वापर-
योरियम् । सदा विचार्यमाणस्य, सर्वथानुपपत्तिः ॥ ७ ॥

अर्थ—कोई कहै है परलोकका आगम जो जाना तात्रिवै उद्यमी
ऐसा जो आत्मा सो नाहीं है, अर ता आत्माके अभाव होतसंतै यह
कह्या जो तत्त्वनिका विचार सो काहेतै बनै ? ॥ १ ॥

बहुरि परलोकवाले आत्माके अभाव होतसंतै परलोक भी नाहीं
है, अर परलोकके अभाव होतसंतै धर्म अधर्मकी क्रिया वृथा है ॥ २ ॥

अत्र इम लोकके सुखको त्याग करि जे दुर्बुद्धी तपस्या करै हैं
ते हस्तमें आए प्रासको छोडि अंगुलीको चाटे है ॥ ३ ॥

तात पापकी शंकाकूं छोडकरि मनुष्य हैं ते जैसें होय तैसें चेष्टा
करो, नष्ट भया जो चेतन ताका फेर जन्म नाहीं ॥ ४ ॥

इम लोकके सुखको छोडि अन्य लोक विष बुद्धि कानी योग्य
नाहीं जातै पंडित हैं ते प्रत्यक्षको छंड़ करि अप्रत्यक्ष त्रिवै बुद्धि न
करै हैं ॥ ५ ॥

जैमै पीठी जल गुड़ इत्यादिकतै प्रगटभनै यदशक्ति उपजै है तैमै
पृथ्वी, जल, अग्नि, पवन इनितै चैतन्य जीव उपजै है ॥ ६ ६

जन्मके अर मरणके पहलै अर पीछै जीव सदा नहीं है, जातै
विचारते भए जीवकी सर्वथा अनुपपत्ति है ॥ ७ ॥

नास्तिक कहै है कि जैसे चून गुड़ आदितैं मदशक्ति उपजै है पृथ्वी आदितैं चेतना उपजै है । अनादिनिघन जीव नाहीं ताका परलोक नाहीं तातैं पापकी शंका छोड़ि यथेष्ट विषयनिमें प्रवर्तौ । ऐसी स्वच्छन्द प्रवृत्ति पोषी । अब आचार्य ताके वचनका खण्डन करै हैं—

परात्मवैरिणां नैतन्नास्तिकानां कदाचन ।

जायते वचनं तथ्यं, विचारानुपपत्तितः ॥ ८ ॥

अर्थ—यह परके वा आपके वैरी जे नास्तिक तिनका पूर्वे कह्या जो यह वचन सो कदाचित् सांचा न सोय है, जातैं विचार विषै अनुपपत्ति है ॥ ८ ॥

भावार्थ—पूर्वे कह्या नास्तिकका वचन विचार किये झूठा भासै है ।

आगैं जीवका अस्तित्व साधैं हैं—

विद्यते सर्वथा जीवः, स्वसंवेदनगोचरः ।

सर्वेषां प्राणिनां तत्र, बाधकानुपपत्तितः ॥ ९ ॥

अर्थ—स्वसंवेदनके गोचर कहिए जाननेमें आवै ऐसा जीव है सो सर्वथा विद्यमान है, जातैं तहां सर्व जीवनिकों बाधक प्रमाणकी अनुपपत्ति है ।

भावार्थ—स्वसंवेदन विषै कोई प्रकार बाधा नहीं आवै है ।

आगैं ताही अर्थकों पुष्ट करै हैं—

शक्यते न निराकर्तुं, केनाप्यात्मा कथंचन ।

स्वसंवेदनवेद्यत्वात्सुखदुःखमिव स्फुटम् ॥ १० ॥

अर्थ—कोऊ करि भी आत्मा है सो निराकरण करनेकूँ कोई प्रकार समर्थ न हूजिये है, जातैं आत्माकौँ स्वसंवेदन करि प्रगट जाननेकौँ योग्यपनां है, सुख दुःखकी उयो ।

भावार्थ—जैसेँ सुख दुःख आपकरि जाननेमें आवै है तैसेँ आप भी आप करि जाननेमें आवै है तातैं अभाव रूप नाहीं ॥ १० ॥

आगैं ताही अर्थकों पुष्ट करै हैं—

अहं दुःखी सुखी चाहमित्येषः प्रत्ययः स्फुटम् ।

प्राणिनां जायतेऽध्यक्षो, निर्वाधो नात्मना विना ॥ ११ ॥

अर्थ—मैं सुखी हूँ मैं दुःखी हूँ ऐसी यह जीवनिकेँ प्रगट बाधारहित प्रत्यक्ष प्रतीत है सो आत्मा विना न होय है ॥ ११ ॥

आगैं जैसेँ आपके शरीरमें आत्मा है तैसेँ परशरीरमें परके आत्माकोँ सिद्ध करै हैं—

स्वसंवेदनतः सिद्धे, निजे वपुषि चेतने ।

शरीरे परकीयेऽपि, संसिद्धयन्नुमानतः ॥ १२ ॥

अर्थ—स्वसंवेदनतैं अपने शरीरमें चेतनकी सिद्धि होत सतैं परके शरीरमें अनुमानतैं चैतन्य सिद्धि होय है ॥ १२ ॥

आगैं ता अनुमानकोँ दिखावैं हैं—

परस्य जायते देहे, स्वकीय इव सर्वथा ।

चेतनो बुद्धिपूर्वस्य, व्यापारस्योपलब्धितः ॥ १३ ॥

अर्थ—परके देहविषैँ चैतन्य निश्चयतैं बुद्ध होय है, जातैं बुद्धि-पूर्वक व्यापारकी उपलब्धि है । जैसेँ अपने देहविषैँ बुद्धिपूर्वक व्यापार होय तैसेँ, यह दृष्टान्त है ॥ १३ ॥

जन्मपंचत्वयोरस्ति, न पूर्वपरयोरयम् ।

नैषा गीर्युज्यते तत्र, सिद्धत्वादानुमानतः ॥ १४ ॥

अर्थ—बहुरि जन्ममरणके पहले अर पीछैं यह आत्मा नाहीं है ऐसी वाणी युक्त नाहीं जातैं तहां अनुमानतैं सिद्धिपना है ।

भावार्थ—जन्म मरणके पहले पीछैं आत्मा सिद्ध है ॥ १४ ॥

सोही कहैं हैं—

चैतन्यमादिमं नूनमन्यचैतन्यपूर्वकम् ।

चैतन्यत्वाद्यथा मध्यमंल्यमन्यस्य कारणम् ॥ १५ ॥

अर्थ—आदिका चैतन्य है सो निश्चयकरि अन्य चैतन्यपूर्वक है, जातैं चैतन्यपना है जैसे अन्यका कारण मध्यका चैतन्य अर अन्तका चैतन्य है तैसें ।

भावार्थ—जीवकी मनुष्यादि नवीन पर्याय उपजै है सो जीव-द्रव्य अगली पर्याय छोड़करि नवीन धारण करै है सर्वथा असत् न उपजै है, जातैं चेतनपना है यहु हेतु है; जैसे मध्यका चैतन्य वा अन्तका चैतन्य प्रत्यक्ष अन्य चैतन्यपूर्वक है तैसें यहु दृष्टांत है । इहां प्रयोजन ऐसा है जो अगले पर्याय अपेक्षा पहला पर्याय कारण है अर पहले पर्याय अपेक्षा सो ही कार्यरूप है, अर द्रव्यदृष्टि करि सर्व एक ही वस्तु है न्यारा नाहीं । ऐमें स्याद्वाद समझे यथार्थ ज्ञान होय है ॥ १५ ॥

आगैं इस ही अर्थकों पुष्ट करै हैं—

तत्रैव वासरे जातः, पूर्वकेणात्मना विना ।

अशिक्षितः कथं बालो, मुखमर्ययति स्तने ॥ १६ ॥

अर्थ—पूर्व आत्मा विना नवीन ही आत्मा होय तौ तिस ही दिन विषै भयो जो बालक सो विना सिखाया स्तनविषै मुख कैसे लगावै है ।

भावार्थ—जो प्रथम आत्मा न होय अर नवीन ही उपज्या होय तो उपज्या सन्ता ही बालक दूध कैसें चूखने लगी जाय है तातैं मनुष्यादि पर्याय नवीन उपजै है । जीवद्रव्य तौ अनादिनिघन ही है ऐसा निश्चय करना ॥ १६ ॥

भूतेभ्योऽचेतनेभ्योऽयं, चेतनो जायते कथम् ।

विभिन्नजातितः कार्यं, जायमानं न दृश्यते ॥ १७ ॥

अथ—अचेतन जे पृथ्वी आदि भूत तिनतैं चेतन कैसें उपजै है, जातैं भिन्न जातितैं कार्य उपज्या न देखिए है ।

भावार्थ—जैसें माटीतैं स्वजातीय घटतौ उपजै है परंतु विजातीय जो घट सो उपज्या न देखिए है तैसें अचेतन पृथ्वी आदितैं अचेतन शरांगारतौ उपजै परंतु चेतन जीव कैसें उपजै तातैं जीवकों भूत-जनित कहना मिथ्या है ॥ १७ ॥

आगें दोय पक्ष पूछकरि जीवकें भूतजनितपनकों निराकरण करै है;—

प्रत्येकं युगपद्वैभ्यो, भूतेभ्यो जायते भवी ।

विकल्पे प्रथमे तस्य, तावत्त्वं केन वार्यते ॥ १८ ॥

विकल्पे सद्वितीयेऽपि, कथमेकस्वभावकः ।

भिन्नस्वभावकैरेभि, जैन्यते वद चेतनः ॥ १९ ॥

अर्थ—आचार्य पूछैं हैं जीव है सो पृथ्वी आदि भूतनितैं प्रत्येक न्यारे न्यारे उपजै है कि युगपत् एकठा ही उपजै है; सो न्यारा न्यारा उपजै है ऐसा प्रथम विकल्प कहेगा तौ तिस जीवकें तावन्मात्रपना कौन करि निवारिए है ।

भावार्थ—पृथ्वी आदि न्यारे न्यारेनित जीव उपजै तौ पृथ्वी, जल, अग्नि, पवन इनि विष कोई एकठा ही स्वभाव लीए जीव होय सो बनै नाहीं ॥ १८ ॥

बहुरि युगपत् एक ही कर उपजै है ऐसा दूसरा विकल्प प्रहण करैगा तौभी न्यारे न्यारे है स्वभाव जिनके ऐसे पृथ्वी आदि भूत तिनकरि एकस्वभाव चेतन कैसें उपजाइए है सो कहिए ।

भावाथ—पृथ्वी आदि अनेक स्वभाव हैं तिनमें एकस्वभाव चेतन्यका उपजना बने नहीं । ऐसैं दोय पक्ष पूछ करि निर्वेद किया ॥ १९ ॥

आगैं फेर वादी कहै है,—

चेतनोऽचेतनेभ्योऽपि, भूतेभ्यो न विरुध्यते ।

भिन्नानां मौक्तिकादीनां, तोयादिभ्योऽपि दर्शनात् ॥ २० ॥

अर्थ—अचेतन जे पृथ्वी आदि भूत तिनमें चेतन हैं सो नाहीं विरोधकों प्राप्त होय हैं, जातैं भिन्न जे मुक्ताफल आदि तिनका जलादिकतैं भिन्न दर्शन है ।

भावार्थ—अचेतन जे पृथ्वी आदि तिनमें चेतनके उपजनेमें किछु विरोध नाहीं जातैं जलादि न्यारे जाति हैं तिनमें मोती न्यारे जाति उपजते देखिय है । २० ॥

ताकूं आचार्य कहैं हैं—

तदयुक्तं यतो मुक्ता, तोयादीनां विलोक्यते ।

एका पौद्गलिकी जाति, भिन्नताऽनः कुतस्तनी ॥ २१ ॥

अथ—जो तूने कह्या कि मुक्ताफलादिक अर जलादिक इनिकी भिन्न जाति है सो अयुक्त है, जातैं मुक्ताफल अर जल इत्यादिकनिकी एक पुद्गलसम्बन्धिनी जाति देखिए है इस कारणतैं तिनमें भिन्नता काहेकी ।

भावार्थ—मुक्ताफल जलादिक इत्यादिकनिकी एक जाति है, तातैं पुद्गलतैं पुद्गलका ही पर्याय भया किछु जीवतौ न उपज्या तातैं तेरा दृष्टांत विषम है ऐसा जानना ॥ २१ ॥

यतः पिष्टोदकादिभ्यो, मदशक्तिरचेतना ।

संभूताऽचेतनेभ्योऽतो, दृष्टांतस्ते न चेतने ॥ २२ ॥

अर्थ—जातैं अचेतन चून गुड आदितैं अचेतन ही मदशक्ति

प्रगट होय है तातैं तेरा यह दृष्टांत चेतनकैं विषैं नहीं लगि सकै है ॥ २२ ॥

न शरीरात्मनोरकैयं, वक्तव्यं तत्त्ववेदिभिः ।

शरीरे तदवस्थेऽपि, जीवस्यानुपलब्धतः ॥ २३ ॥

अर्थ—तत्त्वकौ जाननेवारे पुरुषनिकरि शरीर आत्माकूं एक कहना योग्य नाही, जातैं शरीरकौ तहां अवस्थित होतैं भी बाकी अनुपलब्धि है अप्राप्ति है ।

भावार्थ—जीव परलोककूं जाय है तत्र शरीर इहां रहि जाय है अर जीव न देखिए है तातैं शरीर जीव एक नाही ऐसा निश्चय करना ॥ २३ ॥

आगैं विज्ञानाद्वैतका निषेव करै है—

ज्ञानं विहाय नात्मास्ति, नेदं वचनमंचितम् ।

ज्ञानस्य क्षणिकत्वेन स्मरणानुपपत्तितः ॥ २४ ॥

अर्थ—ज्ञान बिना और आत्मा नाही ऐसा कहना सत्यार्थ नाही, जातैं ज्ञानके क्षणिकपने करि स्मरणकी अनुपपत्ति है ।

भावार्थ—पर्यायका एकान्त पकडि करि विज्ञानाद्वैतवादी कहैं हैं—निरंश अर क्षणिक एक ज्ञान ही है या सिवाय और आत्म वस्तु नाही ताकौ आचार्यने क.ह्या जो ऐसा है तौ “पूर्वें मैंने जान्याथा सो अब जानुंहुँ” ऐसा स्मरण न ठहरैगा, तातैं अनंतधर्मका समुदायरूप अनादिनिघन आत्मा कथंचित् ज्ञानतैं न्यारा मानना योग्य है ॥ २४ ॥

आगैं ब्रह्माद्वैतकौ निषेवैं हैं—

नात्मा सर्वगतो वाच्यस्तत्स्वरूपविचारिभिः ।

शरीरव्यतिरेकेण येनासौ दृश्यते न हि ॥ २५ ॥

अर्थ—तिष आत्मस्वरूपके विचारनेवाले पुरुषनि करि सर्वव्यापी आत्मा कहना योग्य नाही जा कारण करि यह आत्मा शरीरतैं न्यारा नहीं देखिए है ।

भावार्थ—सर्वव्यापी आत्मा मानै है सो मिथ्या है, जातैं शरीरके बाहिर आत्मा न दीखै है ॥ २५ ॥

आगैं दोय पक्ष पूछकरि निषेध करै हैं—

शरीरतो बहिस्तस्य, किं ज्ञानं विद्यते न वा ।

विद्यते चेत्कथं तत्र, कृत्याकृत्यं न बुध्यते ॥ २६ ॥

यदि नास्ति कुतस्तस्य, तत्र सत्तावगम्यते ।

लक्षणेन विना लक्ष्यं, न कापि व्यवतिष्ठते ॥ २७ ॥

अर्थ—शरीरके बाहिर तिस आत्माका ज्ञान है कि नाहीं है, जो शरीरके बाहिर ज्ञान है तो तहां करनेयोग्य न करनेयोग्य क्यों न जानिए है ॥ २६ ॥

अर जो शरीरके बाहिर ज्ञान नहीं है तौ तहां शरीरके बाहिर तिस आत्माकी सत्ता काहेतैं कहिए है जातैं लक्षण विना लक्ष्य कभी न तिष्ठै है ।

भावार्थ—ज्ञान लक्षण है आत्मा लक्ष्य है सो जहां लक्षण नाहीं तहां लक्ष्य भी नाहीं, तातैं सर्वव्यापी आत्मा कहना मिथ्या है ॥ २७ ॥

अर्थ—बहुरि सबनिका एक ही आत्मा है ऐसैं कहना युक्त नाहीं, जातैं जन्म मरण सुख दुःख इनि न्यारे न्यारेनिका उपलंभ है ।

सर्वेषामेक एवात्मा, युज्यते नेति जल्पितुम् ।

जन्ममृत्युपुम्बादीनां, भिन्नानामुपलब्धितः ॥ २८ ॥

अर्थ—बहुरि सबनिका एक ही आत्मा है ऐसैं कहना युक्त नाहीं, जातैं जन्म मरण सुख दुःख इनि न्यारे न्यारेनिका उपलंभ है ।

भावार्थ—जन्म मरण सुख दुःख इत्यादि सबनिकैं न्यारे न्यारे देखिए हैं तातैं सबनिका एक आत्मा कहना मिथ्या है ॥ २८ ॥

न वक्तव्योऽणुमात्रोऽयं, सर्वैर्येनानुभूयते ।

अभीष्टकामिनास्पर्शे, सर्वांगीणः सुखेदयः ॥ २९ ॥

अर्थ—बहुत्र यह आत्मा अणुमात्र है ऐसा कहना योग्य नहीं, जा कारण करि वांछिन स्त्रीके स्पर्श विषे सर्वांगतै उपज्या सुखका उदय भवनिकरि अनुभव कीजिए है ।

भावार्थ—स्त्रीके स्पर्शविषे सुखका उपजना सर्व अंगविषे प्रत्यक्ष देखिए हे तातै अणुमात्र आत्मा कहना है सो मिथ्या है ॥ २९ ॥

समीरणस्वभावोऽयं, सुन्दरा नेति भारती ।

सुखज्ञानादयो भावाः, संति नाचेतने यतः ॥ ३० ॥

अर्थ—बहुत्र वह कहै है जो यह सर्वांगसुख होना है सो पवनका स्वभाव है ताकूं आचार्य कहै हैं ऐसी वाणां सुन्दर नहीं, जातै सुख ज्ञान इत्यादि चेतन भाव हैं ते अचेतन पवनविषे नहीं हैं ॥ ३० ॥

न ज्ञानविकलो वाच्यः, सर्वथात्मा मनःषिभिः ।

क्रियाणां ज्ञानजन्यानां, तत्राभावप्रसंगतः ॥ ३१ ॥

अर्थ—बहुत्र ज्ञानरहित आत्मा पंडितनि करि सर्वथा कहना योग्य नहीं जातै तिस आत्मविषे ज्ञान जनित क्रियानिका अभावका प्रसंग ठहरै है ।

भावार्थ—ज्ञानरहित आत्मा होय तो ज्ञानजनित क्रियाका अभाव आवै अर ज्ञानजनित क्रिया आत्मविषे देखिए ही है, तातै ज्ञानरहित आत्मा कहना मिथ्या है ॥ ३१ ॥

प्रधानज्ञानतो ज्ञानी, वाच्यो ज्ञानशालिभिः ।

अन्यज्ञानेन न ह्यन्यो, ज्ञानी कापि विलोक्यते ॥ ३२ ॥

अर्थ—बहुत्र प्रधान ज्ञानकरि आत्मज्ञानी है ऐसा ज्ञानवन्तनि करि कहना योग्य नहीं, जातै और केवलज्ञान करि और ज्ञानी कहूं भी न देखिए है ॥ ३२ ॥

बहुरि कहै हैं:—

न शुद्धः सर्वथा जीवो, बन्धाभायप्रसंगतः ।

न हि शुद्धस्य मुक्तस्य, रेश्यते कर्मबन्धनम् ॥ ३३ ॥

अर्थ—सर्वथा जीव शुद्ध नहीं जातें बंधके अभावका प्रसंग आवै है, शुद्ध मुक्त जीवके कर्मबन्धन नहीं देखिए है ।

भावार्थ—सर्वथा शुद्ध जीव होय तौ बन्धका अभाव ठहरै, पुण्य पापरूप कर्मबन्ध कौनके होय ? रागादिक भाव कौनके होय ? तातें सर्वथा जीवको शुद्ध कहना मिथ्या है ॥ ३३ ॥

प्रदानेन कृते धर्मे, मोक्षभागी न चेतनः ।

परेण विहिते भोगे, तृप्तिभागी कुनः परः ॥ ३४ ॥

अर्थ—बहुरि वह कहै है धर्म प्रधान करै है आत्मा तौ शुद्ध अकर्ता ही है ताकूँ आचार्य कहै हैं—प्रधानकरि धर्मको करते सन्ते चेतन मोक्षगामी न होय जातें और करि भोग किए संते और तृप्ति भजनेवाला कैसे होय ?

भावार्थ—जैसे भोग और भोगे अर सुखी और ऐसो बने नाही तैसे प्रधान तौ धर्म करै अर चेतनका मोक्ष होय ऐसी बने नाही ॥ ३४ ॥

प्रधानं यदि कर्माणि, विधत्ते मुंचते यदि ।

किमात्मानर्थकः सांख्यैः, कल्प्यते मम कथ्यताम् ॥ ३५ ॥

अर्थ—जो प्रधान कर्मनिकों करै है अर त्य गे है, बन्ध मोक्ष प्रधानके होय है, तो सांख्यमतवालेनि करि निष्प्रयोजन आत्मा क्यों कल्पिए है ? तो मोकूँ कहिए ॥ ३५ ॥

न ज्ञानभात्रतो मोक्षस्तस्य जालुपपद्यते ।

भैषज्यज्ञानमात्रेण न व्याधिः कापि नश्यति ॥ ३६ ॥

अर्थ—सांख्यमती कहै है द्वैतरूप भ्रम करि भया जो बंध सो

अद्वैतके ज्ञान मात्र करि नसि जाय है, ताकों आचार्य कहै है—तिस सांख्यके ज्ञानभावतें मोक्ष कदाचित् न प्राप्त होय है जैसे औषधिके ज्ञान करि रोग कहुँ नहीं विनसै है ।

भावार्थ—जैसे औषधिका जानना अर प्रतीति अर आचरण तीनों ही भावनि करि रोग विनसै है सुखी होय है, अर केवल जानना वा केवल प्रतीति करना वा केवल आचरण करना इन न्यारे न्यारेनि करि रोग न विनसै है सुखी न होय है तैसें ज्ञान दर्शन चारित्र तीनोंकी एकता करि बंध नसि मोक्ष होय है ज्ञानादिक न्यारे न्यारेन करि बंध नसि मोक्ष न होय है ऐसा निश्चय करना ॥ ३६ ॥

आगै ज्ञानकों प्रधानका धर्म मानै है ताका निवेदन करै है:—

अचेतनस्य न ज्ञानं, प्रधानस्य प्रवर्तते ।

स्तम्भकुम्भादयो दृष्टा, न कापि ज्ञानयोगिनः ॥ ३७ ॥

अर्थ—अचेतन प्रधानकें ज्ञान नाहीं प्रवर्तै है, जातें स्तम्भ घट इत्यादि अचेतन पदार्थ हैं ते ज्ञानसहित कहुँ भी न देखे ॥ ३७ ॥

फेर कहै हैं:—

उक्त्वा स्वयमकर्तारं, भोक्तारं चेतनं पुनः ।

भाषमाणस्य सांख्यस्य न ज्ञानं विद्यते स्फुटम् ॥ ३८ ॥

अर्थ—आप ही अचेतनवों अकर्ता कहकरि बहुरि चेतनकों भोक्ता कहता जो सांख्य ताकूं ज्ञान प्रगट नाहीं हैं, अज्ञानी है ।

भावार्थ—सांख्य आत्माकूं आप ही अकर्ता कहै बहुरि ताहीकूं भोक्ता बतावै सो यहू प्रगट अज्ञान है तातें अन्य करै अन्य भोगै यह बात असंभव है ॥ ३८ ॥

आगै सर्व गुणरहित होय सो मोक्ष है ऐसे श्रद्धानकूं निषेधे हैं:—

सकलैर्न गुणैर्मुक्तः, सर्वथात्मोपपद्यते ।

न जातु दृश्यते वस्तु, शशशृङ्गमिवागुणम् ॥ ३९ ॥

अर्थ—समस्त गुणनिकरि रहित सर्वथा आत्मा न होय है जातैं शशाके शृंगकी ज्यों निर्गुण वस्तु कदापि न देखिए है ।

भावार्थ—गुणका समूह ही गुणी है अरु सर्वथा गुणका अभाव होतैं गुणीका भी अभाव है तातैं गुणरहित मोक्ष कहना भिन्ना है ॥ ३९ ॥

आगैं ज्ञानका अरु ज्ञानीका सर्वथा भेद मानै है ताका निषेध करै हैं,—

न ज्ञानज्ञानिनोर्भेदः, सर्वथा घटते स्फुटम् ।

संबंधाभावतो नित्यं, मेरुकैलाशयोरिव ॥ ४० ॥

अर्थ—सम्बन्धके अभावतैं सर्वथा सुमेरु अरु कैलाशकी ज्यों प्रगटपनें ज्ञान और ज्ञानीका सर्वथा भेद बनै है ।

भावार्थ—जैसैं मेरु अरु कैलाश भेदरूप हैं तिनका सम्बन्धका अभाव है तैसैं ज्ञानका अरु ज्ञानीका भेद मानै सम्बन्धका अभाव आवै है ॥ ४० ॥

बहुरि कहैं हैं जो समवायकरि संबन्ध होय है ताका निषेध करै हैं,—

समवायेन संबन्धः, क्रियमाणो न युज्यते ।

नित्यस्य व्याधिनस्तस्य, सर्वत्राप्यविशेषतः ॥ ४१ ॥

अर्थ—समवायकरि कग्था भया संबन्ध नाहीं युक्त होय है, जातैं नित्य अरु व्यापक जो समवाय ताका सर्वत्र अविशेष है ।

भावार्थ—नैयायिक समवाय पदार्थको नित्य अरु व्यापक मानै है ताको आचार्य कहै है,—

जो समवायकरि आत्मा अरु ज्ञानका सम्बन्ध होय है तो घट-पटादि अचेतन पदार्थ विषैं ज्ञानका सम्बन्ध क्यों न भया ? समवाय तौ नित्य अरु व्यापक भया भेद रहित मानै है अरु घटपटादि विषैं

समवायका भेद मानैगा तौ नित्य व्यापक समवाय कहना न बनेगा तातैं समवाय करि सम्बन्ध मानना मिथ्या है ॥ ४१ ॥

आगैं आत्माकैं समवायकैं तिस सर्वथा नित्यपनामें वा अनित्यपनामें दूषण दिखावैं हैं;—

नित्यताऽनित्यता तस्य, सर्वथा न प्रशस्यते ।

अभावादर्थनिष्पत्तेः, क्रमतोऽक्रमतोऽपि वा ॥ ४२ ॥

अर्थ—तिस समवायकैं सर्वथा नित्यपना वा अनित्यपना न सराहिए है जातैं क्रमसैं वा युगपत अर्थकी उत्पत्तिका अभाव है ।

भावार्थ—समवायको सर्वथा नित्य माननेमें क्रमसैं वा युगपत अर्थ क्रियाका अभाव आवै है ॥ ४२ ॥

सो ही दिखाइए हैं—

न नित्यं कुरुते कार्यं, विकारानुपपत्तितः ।

नानित्यं सर्वथा नष्टमारोग्यं मृतवैद्यवत् ॥ ४३ ॥

अर्थ—नित्य है सो कार्यको न करे है जातैं नित्यके अवस्था जो विकार विशेषताकी अनुपपत्ति है, बहुरि अनित्य सर्वथा विनाशरूप सो भी कार्यको न करे है जेवैं मृत वैद्य नीरोगपनेको न करे तैसैं, जो आप ही नष्टि गया सो कार्य कैसे करैं, तातैं नित्य वा अनित्य दोउ एकांत मिथ्या है ॥ ४३ ॥

आगैं अमूर्त्तिकपनेको एकांतको निषेध करे है—

नामूर्त्तः सर्वथा युक्तः, कर्मबन्धप्रसंगतः ।

नभसो न ह्यमूर्त्तस्य, कर्मलेपो विलोक्यते ॥ ४४ ॥

अर्थ—सर्वथा आत्मा अमूर्त्तिक कहना युक्त नांही, जातैं कर्मबन्धका प्रसंग आवै है । बहुरि अमूर्त्तिक आकाशके कर्मनिका लेप न है विलोकिए है ।

भावार्थ—आकाशवत् सर्वथा संसारी जीव मुक्त होय तौ जाँत आकाशके कर्मलेप नाहीं तस आत्माके भी कर्मबन्ध न ठहरै ताँतै सर्वथा अमूर्त मानना मिथ्या है ॥ ४४ ॥

स यतो बंधतो भिन्नो, भिन्नो लक्षणतः पुनः ।

अमूर्तता ततस्तस्य, सर्वथा नोपपद्यते ॥ ४५ ॥

अर्थ—जातै सा आत्मा बंधतै कथंचित् अभिन्न है बहिर लक्षण करि भिन्न है ताँतै तिस आत्माके सर्वथा अमूर्तपना नाहीं सिद्ध होय है ।

भावार्थ—बंधका लक्षण जड़ता है आत्माका लक्षण चैतन्य है ऐसे लक्षण भेद करि आत्मा अरु बंध भिन्न है तथापि बंध दृष्टि करि अभिन्न है जातै बंधका निमित्त पाप आत्माके क्रिया होय है अरु आत्माका निमित्त पाप बंधका परिणमन होय है, ऐसा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध देखिए है, ताँतै सर्वथा संसारी जीवकों अमूर्त मानना योग्य नाहीं ॥ ४५ ॥

निर्बाधोऽस्ति ततो जीवः, स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मकः ।

कर्ता भोक्ता गुणी सूक्ष्मो, ज्ञाता द्रष्टा तनुप्रमा ॥ ४६ ॥

अर्थ—तात जीव है सो बाधरहित है, इस विशेषण करि शून्यवादका निराकरण किया, बहुरि स्थिति उत्पत्ति विनाश स्वरूप है ।

भावार्थ—क्रमभावी पूर्व पर्यायका नाश होय है उत्तर पर्याय उपजै है भावी पर्याय करि स्थिर है ऐसै युगपत तीनों ही धर्म करि युक्त है, इस ही विशेषण करि सर्वथा नित्य कूटस्थ कहनेवालोंका निराकरण किया । बहुरि निश्चय करि चैतन्य भावनिका व्यवहार करि पुद्गल कर्मनिका कर्ता है अरु भोक्ता है इस विशेषण करि सर्वथा अकर्ता वा अभोक्ता माननेवालेका निराकरण किया । बहुरि सूक्ष्म है

ग्रहणमें न आवै है इस विशेषण करि शरीर रूप आत्मा माननेवाले-
निका निराकरण किया । बहुरि जाननेवाला देखनेवाला है इस
विशेषण करि ज्ञान दर्शनतैं भिन्न आत्मा माननेवालेनिका निराकरण
किया ॥ ४६ ॥

स्थिते प्रमाणतो जीवे, परेऽप्यार्याः स्थिता यतः ।

क्रियमाणा ततो युक्ता, सप्ततत्त्वविचारणा ॥ ४७ ॥

अर्थ—जातैं जीवकों प्रमाणतैं सिद्ध होत सन्तैं और भी पदार्थ
हैं ते सिद्ध हैं तातैं करी नई जो सप्ततत्त्वनिकी विचारणा सो युक्त है ।

भावार्थ—या प्रकार पूर्वोक्त प्रमाणतैं जीवकों सिद्ध होत सतैं
और भी पदार्थ सिद्ध होय हैं तातैं जीवकै विकार हेतु अजीव है अर
दोऊनके पर्याय आश्रवादि पंच तत्व और हैं ते सिद्ध भये । तब
प्रथम वादीनै कह्या था जो जीव ही नांही, तत्वका विचार करना
निरर्थक है; ऐसैं कहनेका निराकरण भया ॥ ४७ ॥

आगैं सर्वज्ञका अभाव मानैं हैं तिनका निराकरण करै हैं—तहां
वादी अपना पक्ष कहै है—

परे वदंति सर्वज्ञो, वीतरागो न दृश्यते ।

किंचिज्ज्ञत्वादेशोषाणां, सर्वदा रागवत्त्वतः ॥ ४८ ॥

अर्थ—और केई कहैं हैं सर्वज्ञ वीतराग नाहीं देखिए है जातैं
सबनिकै किंचित् जानपना है अर सदाकाल रागवानपना है ।

भावार्थ—कोउ सर्वज्ञ वीतराग नाहीं जातैं सब जीव अल्पज्ञ वट
सरागी देखिए है ॥ ४८ ॥

आगैं ताका निषेध करै है—

तदयुक्तं वचस्तेषां, ज्ञानं सर्वार्थगोचरम् । ३

न विना शक्यते कर्तुं सर्वेषु ज्ञानवारणम् ॥ ४९ ॥

समस्ताः पुरुषा येन, कालत्रितयवर्तिनः ।

निश्चिताः स नरः शक्तः, सर्वज्ञस्य निषेधने ॥ ५० ॥

अर्थ—वो पूर्वोक्त वचन तिनका अयुक्त है जातैं सर्व पदार्थ हैं विषय जाके ऐसे ज्ञान विना सबनिविषैं ज्ञानका निषेध करनेको समर्थ नाही है, जानैं कालत्रयवत्ती समस्त पुरुष निश्चय किये होय सो सर्वज्ञके निषेध करनेमें समर्थ होय ।

भावार्थ—त्रिकालवर्ती समस्त पुरुषनिकों जो जानता होय सो सर्वत्र सर्वज्ञका निषेध करै सो ऐसा जाननेवाला तू मानै नाही, अर मानै है तौ सोही सर्वज्ञा भया । तातैं सर्वज्ञ वीतरागका निषेध करना मिथ्या है ॥ ५० ॥

न चाभावप्राणेन, शक्यते स निषेधितुम् ।

सर्वज्ञेऽतीन्द्रिये तस्य, प्रवृत्तिविगमत्वतः ॥ ५१ ॥

अर्थ—बहुरि सर्वज्ञ वीतराग है सो अभाव प्रमाणकरि भी निषेधनेकूं समर्थ न हूजिए है, जातैं अतीन्द्रिय जो सर्वज्ञ ता विषैं तिस अभाव प्रमाणकी प्रवृत्तिका अभाव है ।

भावार्थ—निषेधने योग्य अर न निषेधने योग्य वस्तुका आधार इन दोउनिका जाके ज्ञान होय सो आधारविषैं आधेयको न देखि आधेयको निषेध अभावप्रमाणकरि करै है, जैमें कोऊ पृथ्वी अर घट दोऊनिको जानै है सो पृथ्वीविषैं घटको न देखि अभाव प्रमाणकरि घटका निषेध करै जो इहां पृथ्वीविषैं घट नाही, सो सर्वज्ञ अतीन्द्रिय है ता विषैं ऐसे अभाव प्रमाणकी प्रवृत्ति नाही, ऐसे अभाव प्रमाणकरि सर्वज्ञका निषेध करना मिथ्या है ॥ ५१ ॥

प्रमाणाभावतस्तस्य, न च युक्तं निषेधनम् ।

अनुमानप्रमाणं हि साधकं तस्य विद्यते ॥ ५२ ॥

अर्थ—बहुरि प्रमाणके अभावतैं तिस सर्वज्ञका निषेध योग्य नहीं, जातैं तिस सर्वज्ञका साधनेवाला अनुमान प्रमाण है ।

भावार्थ—सर्वज्ञाभाववादी कहै है—प्रत्यक्ष प्रमाणका विषय सर्वज्ञ नहीं जातैं इन्द्रियकरि सो जान्या जाय नहीं। बहुरि अनुमानका भी विषय नहीं जातैं सर्वज्ञका लिंग किछु दीखै नहीं। बहुरि आगमभी ताका सद्भाव न साधै हैं जातैं आगम है सो तौ कर्मकांड-हीका कथन करै है ताकै सर्वज्ञके जाननेका अयोग है अर अनादि आगम सादि पुरुषका कहनेवाला बनें नहीं। बहुरि अनित्य आगम सर्वज्ञको साधै है सो तिस सर्वज्ञकरि कहे आगमके सर्वज्ञके निश्चय विना प्रमाणताका अनिश्चय है, बहुरि आगमकी प्रमाणता होतैं सर्वज्ञकी प्रमाणता होय अर सर्वज्ञकी प्रमाणता होतैं आगमकी प्रमाणता होय ऐसे इतरेतराश्रय दूषण भी आवै है, बहुरि सर्वज्ञप्रणीत अप्रमाण-भूत जो आगम ताको सर्वज्ञ कहना अत्यन्त असम्भव है। बहुरि सर्वज्ञ समान अन्य पदार्थका ग्रहणका असम्भव है तातैं उपमानप्रमाण भी सर्वज्ञका जनावनेवाला नहीं। तातैं पांचौं ही प्रमाणका विषय न होतैं अभाव प्रमाणहीका प्रवृत्ति है तातैं ताका अभाव ही आवै है, ताको आचार्य कहै है ऐसे निषेध करना युक्त नहीं जातैं सर्वज्ञका साधक अनुमान विद्यमान है ॥ ५२ ॥

सो ही अनुमान दिखावै है—

वीतरागोऽस्ति सर्वज्ञः, प्रमाणावाधितत्वतः ।

सर्वदा विदितः सद्भिः, सुखादिकमिव ध्रुवम् ॥ ५३ ॥

अर्थ—संतनि करि सर्वदा जान्या ऐसा वीतराग सर्वज्ञका जाननेवाला है, जातैं प्रमाण करि अबाधितपना है निश्चय करि सुखादिककी ज्यों ।

भावार्थ—जैसे सुखादिक स्वसंवेदन ग्राह्य निर्वाह सिद्ध है तैसे सर्वज्ञ वीतराग भी प्रमाणसिद्ध है ॥ ५३ ॥

सो ही कहै है—

क्षीयते सर्वथा रागः, कापि कारणहानितः ।

ज्वलनो हीयते क्लिन्नः, काष्ठादीनां वियोगतः ॥ ५४ ॥

अर्थ—कोई आत्मविषे कारणकी हानिसे सर्व प्रकार भी राग क्षीण होय है; जैसे काष्ठिकके वियं गते क्लेशरूप अग्नि क्षीण होय है ।

भावार्थ—जैसे काष्ठादिकके अभावसे अग्निका अभाव होय है तैसे कर्मनिके अभावसे रागका अभाव होय है । इहां अतिशायक हेतु दिया है कि कोईके किंचित् कर्मके अभावसे किछु रागादिकका अभाव देखिए है तो कोईके सर्व कर्मके अभावसे सर्व रागकामो अभाव होयगा, ऐसे निश्चय किया है ॥ ५४ ॥

आगे सर्वज्ञपनेका निश्चय कराये है;—

प्रकर्षस्य प्रतिष्ठानं, ज्ञानं कापि प्रपद्यते ।

परिमाणमिवाकाशो, तारतम्योपलब्धितः ॥ ५५ ॥

अर्थ—ज्ञान है सो कोई आत्मा विषे प्रकर्ष जो वृद्धि ताकी प्रतिष्ठाको प्राप्त होय है जाते तारतम्यकी उपलब्धि है जैसे आकाश विषे परिमाणकी वृद्धिकी हदको प्राप्त होय है तैसे ।

भावार्थ—जो तारतम्य पाइए है सो वृद्धिकी सीमाको प्राप्त भया भी पाइए ताते अनुमान किया कि ज्ञानका अंश बधती बधती है तो ज्ञान अपनी वृद्धिकी हदको प्राप्त भया भी होयगा, जैसे परमाणु एक प्रदेशमात्रसे बंधती है ताका उत्कृष्टपना सर्व आकाश विषे है, यह दृष्टांत दिया है ऐसा जानना ॥ ५५ ॥

प्रकर्षावस्थितिर्यत्र, विश्वदृश्या स गीयते ।

प्रणेता विश्वतत्त्वानां, कषिताशेषकल्मषः ॥ ५६ ॥

अर्थ—बहुरि जाविषे ज्ञानके बंधनेकी अवस्थिति है इह है सो विश्वदर्शी कहिये कैसा है सो समस्त तत्त्वनिका जाननेवाला है अरु नाश किये हैं समस्त रागादिक जानें ऐसा है ॥ ५६ ॥

बोधयमप्रतिबन्धस्य, बुध्यमानस्य न श्रमः ।

बाधस्य दहतो दह्य, पावकस्येव विद्यते ॥ ५७ ॥

अर्थ—जैसैं दहने योग्य जो काष्ठादिक ताहि दहता जो अग्नि ताकै श्रम नाहीं है तैसैं ज्ञेयको जानता जो आवरणरहित ज्ञान ताकै श्रम नाहीं है ॥ ५७ ॥

अनुपदेशसंवादि, लाभालाभादिवेदनम् ।

समस्तज्ञमृतेऽन्यस्य, मिलिगे शोभते कथम् ॥ ५८ ॥

अर्थ—अंतरीक्ष दूरवर्ती पदार्थ अरु लाभ अलाभ इत्यादिकका जानना सर्वज्ञविना औरकै उपदेशविषै कैसे सोहै, न सोहै है ॥ ५८ ॥

आगैं वादी कहै हैं अपौरुषेयवेदतैं सर्वका उपदेश है । ताका निषेध करै है;—

अपौरुषेयतो युक्तमेतदागमतो न च ।

युक्त्या विचार्यमाणस्य सर्वथा तस्य हानितः ॥ ५९ ॥

अर्थ—बहुरि यह सर्वथा उपदेश है सो अपौरुषेय आगमतैं युक्त नाहीं, जातैं युक्तिकरि विचारया भया तिस आगमकी सर्वथा हानि है ।

भावार्थ—युक्ति करि अपौरुषेय आगम खंड्या जाय है ॥ ५९ ॥
सो ही दिखावै है;—

आगमोऽकृत्रिमः कश्चिन्न कदाचन विद्यते ।

तस्य कृत्रिमतस्तस्माद्विशेषानुपलम्भतः ॥ ६० ॥

अर्थ—कोई आगम विना किया कदाच न होय है, जातैं ताकै तिष्ठ करि भए आगमतैं विशेषका अनुपलम्भ है ।

भावार्थ—जे शब्द वेदविषै हैं तेही अन्य कृत्रिम आगमविषै हैं दोउनिमें किछु भेद दीसै नाहीं तातें वेदकों अकृत्रिम कहना मिथ्या है ॥ ६० ॥

आगैं केर कहै है—

पश्यंतो जायमानं, यत्तात्वादिक्रमयोगतः ।

वदन्त्यकृत्रिमं चेदमाश्चर्यं किमतः परम् ॥ ६१ ॥

अर्थ—तालु आदिके क्रमके योगतें उपजतेकों देखते वेदकों अकृत्रिम कहै है इसतें दूजा और कहा आश्चर्य है ।

भावार्थ—प्रत्यक्षकों भी और प्रकार कहैं या सिवाय और आश्चर्य कहा ॥ ६१ ॥

आगैं वादी कहै है, अक्षर तौ त्रिलोकव्यापी नित्य ही हैं परंतु जब तिनकी प्रगट करनेवाली वायु प्रगटै है तब वर्ण प्रगट होय है । ताका आचार्य निषेध करै है—

त्रिलोकव्यापिनो वर्णा, व्यज्यंते व्यंजकैरिति ।

न समा भाषिणी भाषा, सर्वव्यक्तिप्रसंगतः । ६२ ॥

अर्थ—तीन लोकविषै व्यापक जे अक्षर हैं ते व्यंजक जे प्रगट करनेवाले वायु तिनकरि प्रगट करिए है ऐसी बानी यथार्थ कहनेवाली नाहीं, जातें सर्व अक्षरनिकी व्यक्तिका प्रसंग आवै है ।

भावार्थ—त्रिलोकव्यापक जे सर्व वर्ण तिनकों अभिव्यंजक वायु प्रगट करै है तौ जब वायु प्रगटै तब सर्व ही अक्षर सुनिषेमें आए चाहिए सो बने नाहीं, तातें तू कहै है सो मिथ्या है ॥ ६३ ॥

एकत्र भाविनः केचित्, व्यज्यंते नापरे कथम् ।

न दीपव्यज्यमानानां, घटादीनामयं क्रमः ॥ ६३ ॥

अर्थ—बहुतरि एक ठिकाने वर्तते जे वर्ण ते केई प्रगट करिए है

और प्रगट क्यों न करिए है, जाते दीपक करि प्रगट होते जे घटादिक-
निन है यहु क्रम नाही

भावार्थ—दीपक है सो एकस्थानवर्ती घट पट आदि सर्वहीकों
प्रकामे है, ऐसा नाही जो घटकों प्रकासे पटकों न प्रकामे तैमें वायु
अक्षरनिकौ प्रकामे है तौ सर्व ही कों प्रकामे, इहां तौ कोई अक्षर
सुनिए है कोई न सुनिए है । ताते वायु अक्षरनिकों प्रकामे है ऐसी
बहना बने नाही ॥ ६३ ॥

फेर कहै है,—

व्यंजकव्यतिरेकेण, निश्चयंते घटादयः ।

स्पर्शप्रभृतिभिर्जातु, न वर्णाश्च कथंचन ॥ ६४ ॥

अर्थ—घटादि पदार्थ है ते स्पर्शादिकनि करि व्यंजक विना
निश्चय करै है, बहुरि वर्ण हैं ते कदाचित् कोई प्रकार नाही निश्चय
काजिए हैं ।

भावार्थ—घटादि पदार्थ हैं ते प्रगट करनेवाले विना ही स्पर्शादि
करि निश्चय करिए है, अर सर्वव्यापी वर्ण नित्य हैं तिनका निश्चय कदाच
कोई प्रकार भी न होय है । ताते सर्वव्यापक नित्य अक्षरनकों मानना
मिथ्या है ॥ ६४ ॥

व्यज्यंते व्यंजकैर्वर्णा, न जन्यंते पुनर्ध्रुवम् ।

इत्यत्र विद्यते काचिन्न प्रमा वेदवादिनः ॥ ६५ ॥

अर्थ—व्यंजक कहिये प्रगट करनेवाले जे वायु तिनकरि वर्ण
हैं ते प्रगट करिए हैं, बहुरि निश्चय करि उपजाइए नाही है ऐसी वेद-
वादीकी प्रमाणता कोई इहां नाही विद्यमान होय है ॥ ६५ ॥

आगे फेर कहै है—

विना सर्वज्ञदेवेन, वेदार्थः केन कथ्यते ।

स्वयमेवेति नो वाच्यं, संवादित्वाप्रसंगतः ॥ ६६ ॥

अर्थ—आचार्य कहै है सर्वज्ञदेव विना वेदका अथ कौनकरि कहिए है । स्वयमेव कहिए है ऐसा कहना युक्त नाहीं जातैं भले वक्तापनाका अप्रसंग आवै है ।

भावाथ—सर्वज्ञ विना वेदका अर्थ कहना बने नाहीं जातैं सर्वज्ञ विना औरका ज्ञान प्रमाण नाहीं और कों और कहि देय, अर वेद आप ही अर्थ कहै है तौ ताका कोई वक्ता न ठहरा, तब यह अर्थ है यह अर्थ नहीं है ऐसी कौन कहै जातैं वेद तौ जड़ है तातैं स्वयमेव अर्थ कहना मिथ्या है ॥ ६६ ॥

न पारंपर्यतो ज्ञानं, सर्वज्ञानां प्रवर्त्तते ।

समस्तानामिवांधानां, मूलज्ञानं विना कृतम् । ६७ ॥

अथ—बहुरि वह कहै है जां असर्वज्ञनिका ज्ञान परंपरायतैं सत्यार्थ प्रवर्त्तै है । ताकूं आचार्य कहै है—जो सब असर्वज्ञनिका ज्ञान परंपरायतैं न प्रवर्त्तै है, जैसें समस्त अन्धेनिका मूलज्ञान कहाया विना कार्य न प्रवर्त्तै तैसें ।

भावार्थ—बहुत भी अन्धे पुरुष परंपरायतैं चलैं तौभी मूलज्ञान विना बांछित स्थान पावै नाहीं तैसें परंपरायतैं भी अल्पज्ञानीनिको वचन प्रमाण नाहीं ॥ ६७ ॥

कृत्रिमेष्वप्यनेकेषु, न कर्ता स्मर्यते यतः ।

कर्तृस्मरणतो वेदो, युक्तो नाकृत्रिमस्ततः ॥ ६८ ॥

अर्थ—बहुरि वह कहै है जो वेदकों कर्ता काहूकै स्मरण नाहीं तातैं वेद अकृत्रिम है । ताकूं आचार्य कहै है—जो ऐसा नाहीं जातैं अनेक करे पदार्थनिविषै भी कर्ता स्मरण न कीजिए है, अथवा ताके कर्ताके स्मरणतैं वेद कृत्रिम युक्त है ।

भावार्थ—कोई कहै वेदके कर्ताको याद नाहीं तातैं अकृत्रिम

है, ताकूँ कहा है । जो ऐसे तो पुराने मंदिर का ऋरे भए मोती इत्यादिकका भी कर्ताकी मद नहीं से भी अकृत्रिम ठहरे । बहुरि वेदके तो कर्ता भी ब्रह्मादिक कहे हैं तसैं श्री कृत्रिम वेद ठहरे । तातैं अकृत्रिम वेद कहना मिथ्या है ॥ ६८ ॥

हिंसादिवादकत्वेन, न वेदो धर्मकास्मिभिः ।

वृकोपदेशवन्नूनं, प्रमाणीक्रियते बुधैः ॥ ६९ ॥

अर्थ—धर्मके बाँछक पंडितनि करि हिंसादिकके उपदेशापूर्णे जो खारपट ताके उपदेशकी ज्यों वेद है सो प्रमाण करना योग्य नहीं ॥ ६९ ॥

वीतरागश्च सर्वज्ञो, जिन एवावशिष्यते ।

अपरेषामशेषाणां, रागद्वेषादिदृष्टितः ॥ ७० ॥

अर्थ—वीतराग अर सर्वज्ञ ऐसा जिनेन्द्र ही एक न्यारा कीजिए है जातैं और सर्वनिकै रागद्वेषादि दीसै है ॥ ७० ॥

न विरागा न सर्वज्ञा, ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ।

रागद्वेषमदक्रोधलोभमोहादियोगतः ॥ ७१ ॥

अर्थ—ब्रह्मा विष्णु महेश्वर हैं ते न वैरागी हैं न सर्वज्ञ हैं, जातैं रागद्वेष मद क्रोध लोभ मोह इत्यादिक सहित हैं तातैं ॥ ७१ ॥

रागवन्तो न सर्वज्ञा, यथा प्रकृतिमानवाः ।

रागवन्तश्च ते सर्वे, न सर्वज्ञास्ततः स्फुटम् ॥ ७२ ॥

अर्थ—रागसहित हैं ते सर्वज्ञ नहीं जैसें संचारी मनुष्य हैं तैसैं, बहुरि जे ब्रह्मादिक हैं ते सर्व रागसहित हैं यातैं ते प्रगटपनें सर्वज्ञ नाही ॥ ७२ ॥

आश्लिष्टास्तेऽखिलैर्दोषैः, कामकोपभयादिभिः ।

आयुषप्रमदाभूषाकमंडलवादियोगतः ॥ ७३ ॥

अर्थ—ब्रह्मादिक हैं ते कामक्रोधभय इत्यादिक समस्त दोषनि करि युक्त हैं, जातैं आयुष स्त्री आभूषण कमंडल इत्यादि छहित हैं ॥ ७३ ॥

प्रमदा भाषते कामं, द्वेषमायुषसंग्रहः ।

अक्षसूत्रादिकं मोहं, शौचाभावं कमंडलुः ॥ ७४ ॥

अर्थ—स्त्री तौ कामकों कहै है अर आयुषका धारण द्वेषभावों जनावै है अर माला यज्ञोपवीतादिक मोहकों दिखावै है अर पवित्रपनेरु अभावकों कमंडलु दिखावै है ।

भावार्थ—जो कामादिक विकार न होय तौ स्त्री आदि काहेकों राखै, तातैं स्त्री आदि हैं ते कामादिविकारनिकों ब्रह्मादिकनिमें प्रगट दिखावै है ऐसा जानना ॥ ७४ ॥

आगैं पुरुषाद्वैतवादी कहै है ताका निषेध करै है—

परमः पुरुषो नित्यः, सर्वदोषैरपाकृतः ।

तस्यैतेऽवयवाः सर्वे, रागद्वेषादिभाजिनः ॥ ७५ ॥

नैवाधिराचते भाषा, विचारोद्यतचेतसाम् ।

रागित्वेऽवयवानां द्वि, नीरागाऽवयवी कुतः ॥ ७६ ॥

अर्थ—परवादी कहै हैं जो पुरुष नित्य है सो सर्व दोषनि करि रहित है बहुरि ताके ये ब्रह्मादिक सर्व अंग हैं ते रागद्वेष भजनेवालं हैं ॥ ७५ ॥

ताकूं आचार्य कहै है—यह वाणी विचार विषै उद्यमी है चित्त जिनके ऐसे पुरुषनकों नहीं रुचै है, जातैं अंगनिके रागीपना होतैं अंगी बीतराग कैसे होय ॥ ७६ ॥

आगैं वैशेषिक लोकका कर्ता ईश्वरकों मानै है ताका निषेध करै है । तहां बह अपना पक्ष कहै है—

बुद्धिमद्देतुकं विश्व, कार्यत्वात्कलशादिवत् ।

बुद्धिमांस्तस्य यः कर्ता, कथ्यते स महेश्वरः ॥ ७७ ॥

न विना शंभुना नून, देहद्रुमनगादयः ।

कुलालेनेव जायंते, विचित्राः कलशादयः ॥ ७८ ॥

ततोऽस्ति जगतः कर्ता, विश्वदृश्या महेश्वरः ।

वचनं युज्यते नेदं, चित्त्यमानं विचक्षणैः ॥ ७९ ॥

अर्थ—विश्व है सो बुद्धिमान है हेतु (कारण) जाका ऐसा है ।

भावार्थ—बुद्धिमानके निमित्ततैं उपज्या है, जातैं लोकके कार्य-पना है, जो जो कार्य है सो सो बुद्धिमानके निमित्ततैं उपजै है जैसें घटादिक । बहुरि ता लोकका जा बुद्धिमान कर्ता है सो महेश्वर कहिए है ॥ ७७ ॥

जैसें कुम्हार विना विचित्र घटादिक न उपजै तैसें ईश्वर विना शरीर वृक्ष पर्वत इत्यादिक है ते निश्चय करि न उपजै है ॥ ७८ ॥

तातैं जगतका कर्ता सर्वदर्शी महेश्वर है । अब ताकूं आचार्य कहै है—यहु वचन पंडितनिकरि विचाऱ्या भया युक्त न होय है ॥ ७९ ॥

सो ही कहैं हैं—

कार्यत्वादित्ययं हेतुस्तस्य साधयते यथा । बुद्धिमत्त्वं तथा तस्य,
देहवत्वमपि ध्रुवम् ॥ ८० ॥ नाशरीरी मया दृष्टः, कुम्भकारः क्वचित्
यतः । कुलालस्तस्य दृष्टांतस्ततो ब्रूते सदेहताम् ॥ ८१ ॥ सदेहस्य
च कर्तृत्वे, सोऽस्मदादिषमो यतः । दृश्यतां प्रतिपद्येत, कुम्भकारादि-
वत्ततः ॥ ८२ ॥ भुवनं क्रियते तेन, विनोपकरणैः कथम् । कृत्वा
निवेश्यते कुत्र, निरालम्बे बिहायसि ॥ ८३ ॥ विचेतनानि भूतानि,
सिसृक्षावशतः कथम् । विनिर्माणाय विश्वस्य, वर्त्तते तस्य कथ्यताम् ॥ ८४ ॥

अर्थ—आचार्य कहै है जो ऐसा यह कार्य हेतु है सो तैं

ईश्वरके जैसे बुद्धिमानपना साधे है तैसे देहवानपना भी निश्चयकार साधे है ॥ ८० ॥

जातैं कुम्भकार मैंने कहुँ शरीररहित न देख्या तातैं कुलाळ दृष्टांत है सो ता ईश्वरके सदेहपनेको कहै है ॥ ८१ ॥

बहुँरि देहसहितके कर्त्तापना होतसन्तैं हम आदि सरीसा भया जातैं सो ईश्वर कुम्भकारादिककी ज्यों देखने योग्यपनेको प्राप्त भया तातैं ॥ ८२ ॥

बहुँरि उपकरणविना ताकरि लोक कैसे करिए है, बहुँरि करिके निराधार आकाशविषै कहां धरिए है ॥ ८३ ॥

बहुँरि वह कहै है—जो ताकी उपजावेकी इच्छा होतैं पृथ्वी आदि हैं ते लोकको रचे हैं, ताकुँ कष्टिए है;—जो ताकी उपजावेकी इच्छाके बरातैं पृथ्वी आदि भूत अचेतन हैं ते लोकके बनावनेके अर्थ कैसे प्रवर्तैं है सो कडि । तातैं लोकका कर्त्ता ईश्वर मानना मिथ्या है ॥ ८४ ॥ आगैं बौद्धका निषेध करै है;—

बुद्धोऽपि न समस्तज्ञः, कथ्यते तथ्यवादिभिः ।

प्रमाणादिविरुद्धस्य, शून्यत्वादेर्निवेदनात् ॥ ८५ ॥

अर्थ—बहुँरि तथ्यवादीनि करि बुद्ध भी सर्वज्ञ न कहिए है, जातैं प्रमाणादि करि विरुद्ध ऐसा शून्यपना आदि जनावै है तातैं ॥ ८५ ॥

प्रमाणेनाप्रमाणेन, सर्वशून्यत्वपात्रने ।

सर्वस्यानिश्चितं सिद्धयेत्तत्त्वं केन निषिध्यते ॥ ८६ ॥

अर्थ—सर्वके शून्यपना साधनेमें प्रमाणकरि वा अप्रमाणकरि सर्वके अनिश्चित तत्त्व सिद्ध होय, निषेध कौनकरि करिए ।

भावार्थ—सबे शून्य मानैं तत्र प्रमाण अप्रमाण भी न ठहरै, तब सबके अनिश्चित ही तत्त्वसिद्धि होय प्रमाण विना संशयका निषेध काहे करि करै तातैं सर्व शून्य मानना मिथ्या है ॥ ८६ ॥

सर्वत्र सर्वथा तत्त्वं, क्षणिके स्वीकृते षति ।

फलान् सह सम्बन्धो, धार्मिकस्य कुतस्तनः ॥ ८७ ॥

अर्थ—सर्व जायगा । सर्व प्रकार तत्त्वकों क्षणिक अंगीकार करे संते धर्मात्मा जीवकै फलकरि सहित सम्बन्ध कहातैं होय ।

भावार्थ—सर्व प्रकार तत्त्वकों क्षणिक अंगीकार करे संतैं धर्मात्मा जीवकै फलकरि सम्बन्ध कहातैं होय । सर्वप्रकार तत्त्वकों क्षणिक माने धर्मात्मा जीव धर्मका फल न पावै जातैं वह तौ क्षणमें ही विनसि गया । बहुरि ऐसे होतैं धर्मका साधन निरर्थक ठहरया । तातैं सर्वथा क्षणिक मानना योग्य नाहीं ॥ ८७ ॥

वधस्य वधको हेतुः, क्षणिके स्वीकृते कथम् ।

प्रत्यभिज्ञा कथं लोकव्यवहारप्रवर्तनी ॥ ८८ ॥

अर्थ—बहुरि क्षणिककों अंगीकार करे संतैं हिंसक जीव है सो हिंसाका कारण कैसैं होय । बहुरि लोकमें व्यवहार चलावनेवाली प्रत्यभिज्ञा कैसैं होय ।

भावार्थ—क्षणिक माने हिंसा करनेवाला हिंसक न ठहरै जातैं वह तौ वा ही क्षण विनसि गया, बहुरि बालक था जो जबान भया; इसपर मेरा लेना है सो लेऊँ, देना है सो देऊँ इत्यादिक लोकव्यवहार चलावनेवाली प्रत्यभिज्ञाका भी अभाव ठहरै, जातैं वह तो वाही क्षण विनसि गया व्यवहार काहेका चलैं तातैं क्षणिक मानना मिथ्य है ॥ ८८ ॥

व्याघ्रघाः प्रयच्छतो देहं, निगद्य कृमिमंदिरम् ॥

दातृदेहविमूढस्य, करुणा वत कीदृशी ॥ ८९ ॥

अर्थ—यहू शरीर लटनिका घर है ऐसा कहकैं शरीरकों बघेरीके बर्षि देय ऐसे दाता अर देहमें मूर्ख ऐसे के करुणा कैसी है ? यहू बड़े खेदकी बात है ॥ ८९ ॥

बहुरि कहे है—

जननी जगतः पूज्या, हिचिता धेनू जन्मभिः ।

मासोपदेशिनस्तस्य, दया शौहीदमैः कथम् ॥ ९७ ॥

अर्थ—जगतके पूजने योग्य जो माता सों जानै जन्मविषे मारी
ता मासके उपदेश करनेवाले बुद्धके दया कैसे होय ।

भावार्थ—बौद्धमतमें कहा है कि बुद्ध माताका उदर फाड़कर
निकल्या है अर मास भक्षणमें दोष नाही ताकूं आचार्यने कहा ऐसे
बुद्धके दया काहेकी ॥ ९० ॥

ऐसे बुद्धका निराकरण किया, अगों कपिलका निराकरण
करै है—

यो ज्ञानं प्राकृतं धर्मं, भाषतेऽधौ निरर्थकः ।

निर्गुणो निष्क्रियो मूढः, सर्वज्ञः कपिलः कथम् ॥ ९१ ॥

भावार्थ—कपिल ज्ञानकों तो प्रकृतिका धर्म कहे है अर
आत्माकों निर्गुण क्रिया रहित प्रयोजनरहित अज्ञान कहे है ताकूं
आचार्यने कहा जो ऐसा सर्वज्ञ कपिल कैसे होय । ताते कपिलका
मत मिथ्या है ॥ ९१ ॥

अगों और भी कुदेवादिक हैं तिनका निषेध करै है—

आर्यास्कंदानलादित्यसमीरणपुरः सराः ।

निगद्यते कथं देवः, सर्वदोषपयोधयः ॥ ९२ ॥

अर्थ—सर्वदोषमिके समुद्र ऐसे जे देवी स्कंद कश्चिपुः स्वामि-
कार्तिकेय अग्नि सूर्य वायु इत्यादिक हैं ते देव कैसे कहिए है ।

भावार्थ—राग द्वेषादि दोष जिनमें पाइये ऐसे कुदेविकों
देव कैसे कहिए ॥ ९२ ॥

अगों पेश कहे है—

गूयमश्वानि या हन्ति, खुरशृंगैः शरीरिणः ।

सा पशुगौः कथं बंधा, वृषस्यन्ती स्वदेहजम् ॥ ९३ ॥

अर्थ—जो गौ भ्रष्टा स्त्राय है अर प्राणीनिकों खुरसींगनिकरि हनै है अर अपने पुत्रसँ काम सेवै है, सो ऐसी पशु अज्ञान गौ कैसे बन्दनेयोग्य होय ॥ ९३ ॥

चेदुदुग्धदानतो बंधा, महषी किं न बंधते ।

विशेषो दृश्यते नास्यां, महिषीतो मयाधिकः ॥ ९४ ॥

अर्थ—ब्रह्मरि वह कहै जो गौ दुग्ध देय है तातँ बन्दनेयोग्य है तो महिषी क्यों न बंदिए, जातँ इसकै महिषीतँ अधिक विशेष मो करि न देखिए है, दुग्ध देनेमें दोनों समान है ॥ ९४ ॥

या तीर्थ मुनिदेवानां, सर्वेषामाश्रयः सदा ।

दुह्यते हन्यते सा गौर्मूढैर्विक्रीयते कथम् ॥ ९५ ॥

अर्थ—जो गौ तीर्थ मुनि देवनिका सबनिका सदा आश्रय सो गौ मूढनिकरि कैसे पीडिए है अर हानिए है अर बेचिए है, तातँ गौकों पूजना मिथ्या है ॥ ९५ ॥

आग और भी कहै हैं—

मुशलं देहली चुल्ली, पिपलश्चक्रोजलम् ।

देवा यैरभिधीयन्ते, वर्ज्यन्ते तैः परेऽत्रके ॥ ९६ ॥

अर्थ—मूसल देहली चूल्हा पीपल चम्पा जल इनकों जिनकरि देव कहिए है तिनकरि इहां कौन बंदिए है ।

भावार्थ—जो मूसलादिक जड़ अर पापके कारण जिनविषै देवपनाका लेश भी नाहीं तिनकों भी पूजं है तो वे और कौनकों न पूजै है ? सर्वकों ही पूजै है ॥ ९६ ॥

आगों अधिकारकों संकोचे है—

इत्थं विविच्य परिमुच्य कुदेववग, गृह्णांति यो जिनपत्तिं भजते स

तत्त्वम् । गृह्णाति यः शुभमतिः परिमुच्य काचं, चिन्तामणिं स लभते
खलु किं न सौरुयम् ॥ ९७ ॥

अर्थ—ऐसे जो विचार करि कुदेवनिके समूहकों त्यागिके
जिनेन्द्रदेवकों ग्रहण करै है सो पुरुष परमतत्वकों भज है, सेवे है,
इहां दृष्टांत कहै है—जो बुद्धिमान काचकों छोडकरि चिन्तामणि-
रत्नकों ग्रहण करै है सो कहा निश्चयकरि सुखकों न पावै है, पावै
ही है ॥ ९७ ॥

मिथ्यात्वदूषणमापस्य विचित्रदोष, संरूढसंसृष्टिवधूपरितोषकारि ।

सम्यक्तरत्नममलं हृदि यो विधत्ते, मुक्तयंगनामितगतिस्तमुपैति सद्यः ॥९८

अर्थ—वृद्धिकों प्राप्त जो संसारवधू ताका परितोष करनेवाला,
प्रसन्न करनेवाला अर अनेक दोषस्वरूप ऐसा मिथ्यात्व रूप दूषणकों
त्यागकरि जो पुरुष निर्मल सम्यक्तरत्नकों हृदय विषै धारै हैं, ता पुरुष
प्रति अनंत है ज्ञान जाकै ऐसी मुक्तिही है सो शीघ्र प्राप्त होय है ।

भावार्थ—मिथ्यात्वकों त्यागकरि जो सम्यक्त धारै है ताकू
मुक्तिकी प्राप्ति शीघ्र होय है । ९८ ॥

छाप्य ।

पोषत विषयकषाय पक्ष एकान्त चित्तरखि,

नास्तिकादि मत एम सकल मिथ्यात्वस्वरूप लाख ।

हरिहरादि सबही कुदेव रागादिचिह्नयुत,

त्यागि, भजहु सर्वज्ञदेव रागादिदोषच्युत ॥

संसारहेतु मिथ्यात्व इम त्यागि सुदर्शन जे धरें ।

ते जीव अमितगति शंभ्रही भागचन्द शिवतिय वरें ॥

इत्युपासकाचारे चतुर्थः परिच्छेदः ।

इस प्रकार श्री अमितगति आचार्यकृत भावकाचारविषै

चतुर्थ परिच्छेद समाप्त भया ।

पंचम परिच्छेद ।

आगें व्रतनिका वर्णन करें हैं,—

मद्यमांसमधुरात्रिभोजनं, क्षीरवृक्षफलवर्जनं त्रिधा ।

कुर्वते व्रतजिघृक्षया बुधास्तत्र, पुष्यति निषेविते व्रतम् ॥ १ ॥

अर्थ—पंडित हैं ते व्रतग्रहणकी इच्छा करि मदिरा मांस अर मधु अर रात्रिविषै भोजन अर क्षीरवृक्ष कष्टिए जिनमें दूध निकसै ऐसे बट पीपर ऊमर इत्यादिकनिके फल इनका त्याग मन वचन कायकरि करै है, जातैं तिनके त्यागका सेवन करे संतैं व्रत पुष्ट होय है ।

भावार्थ—जाके व्रतकी चाह है सो प्रथम मदिरादिकनिका त्याग अवश्य करै इनके त्यागे व्रत पुष्ट होय है ॥ १ ॥

आगें प्रथम ही मदिराका निषेध करै है,—

मद्यपस्य घिषणा पलायते, दुर्भगस्य वनितेव दूरतः ।

निषता च लभते महोदयं, क्लेशतेव गुरुवाक्यमोचिनः ॥ २ ॥

अर्थ—जैसैं दरिद्री पुरुषकी स्त्री भाग जाय है तैसैं मदिरा पीनेवालेकी बुद्धि भाग जाय है, बहुरि निंदा वृद्धिकों प्राप्त होय है जैसैं गुरुके वचन न माननेवालेके दुःख वृद्धिकों प्राप्त हो जाय हैं तैसैं ।

भावार्थ—मदिरा पीनेवालेकी बुद्धि बिगड़ जाय है अर निंदा होय है ॥ २ ॥

विह्वलः स जननीयति प्रियां, मानसेन जननीं प्रियीयति ।

किं करीयति निरीक्ष्य पार्थिवं, पार्थिवीयति कुचीः स किंकरम् ॥ ३ ॥

अर्थ—सो मदिरापानी मन करि विह्वल भया संता स्त्रीकों माता-वत् आचरै है अर माताकों स्त्रीवत् आचरण करै है । बहुरि सो कुबुद्धि राजाको देखकरि चाकरवत् आचरै है अर चाकरकों राजावत् आचरै है ।

भाषार्थ—मदिरापानी सर्व पदार्थनिको विपरीत देखै है ॥३॥

सर्वतोऽप्युपहसति मानवा, वाससी व्यपहरति तस्कराः

मूत्रयति पतितस्य मंडला, विस्तृते विवरकाक्षया मुखे ॥ ४ ॥

अर्थ—बहुरि मद्यपानीकी सर्व ही तरफतें मनुष्य हास्य करै है
अर चौर बख डरै है, बहुरि स्वान हैं ते पड़ेके विस्ताररूप मुखविषै
छिद्रकी बाछा करि मूतै है ॥ ४ ॥

मंशु मूर्च्छति विभेति कंपते, पूत्करोति रुदति प्रछर्दति ।

खिद्यते खलति विक्षते दिशो, रोदिति स्वपिति जक्षितीर्ष्यति ॥५॥

अर्थ—बहुरि मदिरापानी शीघ्र ही मूर्छित होय है, डरवै है,
कापै है, पूत्कार करै है, रोवै है, वमन करै है, खेदरूप होय है,
गिर पड़े है, दिशानकुं देखे है, रुदन करै है, सोवै है, जकड़ी लगि—
जाय है ईर्षा करै है ।

भाषार्थ—मदिराकरि नाना कुचेष्टा उपजे है ॥ ५ ॥

ये भवति विविधाः शरीरिणस्तत्र सूक्ष्मवपुषो रसांगिकाः ।

तेऽखिला झटिति याति पंचतां, निदितस्य सरकस्य पानतः ॥ ६ ॥

अर्थ—तिस्र मदिराविषै सूक्ष्म हैं शरीर जिनके ऐसे जे रसकरि
उपजे नानाप्रकार जीव हैं ते समस्त निदनीक मदिराके पानतैं शीघ्रः
मरणको प्राप्त होय हैं ।

भाषार्थ—मदिरा पानीके द्रव्यहिंसा भी तीव्र होय है ॥ ६ ॥

वारुणी निहितचेतसोऽखिलाः, याति कातिमतिकीर्त्तिसम्पदः ।

वेगतः परिहरति योषितो, वीक्ष्य कातमपरागनागतम् ॥ ७ ॥

अर्थ—जैसैं स्त्री है ते परस्त्री प्रति गए पतिकों देख करि शीघ्रः
ही परिहरै है तैसैं मदिराविषै लया है चित्त जाका ऐवा जो पुरुषः
ताकी समस्त काति बुद्धि कीर्त्ति संपदा जाती रहै है ।

भावार्थ—मदिरापानीकी कांति बुद्धि कीर्ति संपदा सर्व बिगड़ि जाय है ॥ ७ ॥

गायनि भ्रमति वक्ति गद्गदं, रौति धावति बिगाहते क्लमम् ।

हंति दृष्यति बुध्यते हितं, मद्यमोहितमतिर्विषीदति ॥ ८ ॥

अर्थ—मदिरा करि मोहित है बुद्धि जाकी ऐसा पुरुष है सो गावै है, भ्रम है, गद्गद वचन बोले है, रोवै है, दौड़े है, कष्टको अत्रगाहे है, हिंसा करै है, हर्ष करै है, हितको न जानै है, विषादरूप होय है ।

भावार्थ—मद्य पानीके नाना कुचेष्टा होय है ॥ ८ ॥

तोतुदीति भविनः सुरारतो, वावदीति वचनं विनिदितम् ।

मोमुषीति परवित्तमस्तधी, वींभुजौति परकीयकामिनीम् ॥ ९ ॥

अर्थ—मदिराविषै आशक्त पुरुष है सो जीवनको पीडा उपजावै है, निदित वचन बोले है अर परधन चौरै है अर अज्ञानी परकी स्त्रीको भोगै है ।

भावार्थ—मदिरा पांवे है सो हिंसादि सर्व पाप करै है ॥ ९ ॥

नाणटीति कृतचित्र वेष्टितो, तन्नमीति पुरतो जनं जनम् ।

लेलुठीनि भुवि रप्सभोपमो, रारंटीति सुरया विमोहितः ॥ १० ॥

अर्थ—मदिरा करि मोहित पुरुष है सो करी है नानाप्रकार चेष्टा जानै ऐसा नाचै है, अर आगेतै जन जन प्रति नर्म है, अर गर्दभ समान पृथ्वीविषै लंठै है अर शब्द करै है ॥ १० ॥

सीधुलालसधिया वितन्वते, धर्मसंयमविचारणा यके ।

मेरुमस्तकनिविष्टमूर्त्तयस्ते स्पृशंति चरणैर्भुस्तलम् ॥ ११ ॥

अर्थ—जैसै कोई पुरुष मदिरादिकी लालसासहित बुद्धि करि धर्मक वा संयमका विचार विस्तारै हैं ते मेरुके मस्तक परि तिष्ठते चरणन करि पृथ्वीलकौ स्पर्शै है ।

भावार्थ—जैसे मेरुपर बैठकर कोई पृथ्वीको चरण करि स्पश चाहे सो मूर्ख है तैसे मदिरा पीवता संता घर्मादिकका विचार करै सो मूर्ख है, ऐसा जानना ॥ ११ ॥

दोषमेवमवगम्य वारुणो, सर्वथा न हि धयति पंडिताः ।

कालकूटमवबुध्य दुःखदं, भक्षयंति किमुजीवितार्थिनः ॥ १२ ॥

अर्थ—या प्रकार दोषको जान करि पंडित हैं ते सर्वथा मदिराको नहीं पावें हैं जैसे जीनेके बांछक जीव दुःखदाई कालकूट विषको जान करि कहा भक्षण करै है ? अपितु न करै है ॥ १२ ॥

मांसभक्षणविषक्तमानसो, यः करोति करुणां नरोऽधमः ।

भूनले कृलिशवह्निनापिते, नूनमेष वितनोति बल्लरीम् ॥ १३ ॥

अर्थ—मांसत्रिवें आशक्त है चित्त जाका ऐसा जो नीच पुरुष करुनाको करै है सो यह निश्चय करि बज्राग्नि करि तस जो पृथ्वी ताविषे वेलिको विस्तार है ।

भावार्थ—अग्नि करि तस पृथ्वी विष जैसे बेल न होय तैसे मांस भक्षकके दया न होय ऐसा जानना ॥ १३ ॥

जायते न पिशितं जगत्रये, प्राणिघातनमृते यतस्ततः ।

मंक्षु मूलमुदखानि खादता, हि दया झटिति धर्मशाखिनः ॥ १४ ॥

अर्थ—जातैं तीनलोकमें मांस है सो जीवनीकी हिंसा बिना न उपजै है तातैं मांस भक्षक पुरुष करि तोड्या जो निश्चय करि धर्मवृक्ष ताका मूल जो दया सो शीघ्र खोद्या ।

भावार्थ—जीव हिंसा बिना मांस न उपजै तातैं जानैं मांस खाया तातैं दयामूल जो धर्म ताका नाश किया ॥ १४ ॥

देहिनो भवति पुण्यसंचयः, शुद्ध्या न कृपया विया ध्रुवम्

दृश्यते न लतया विना मया, सार्द्धया जगति पुण्यसंचयः ॥ १५ ॥

अर्थ—इस दयाविना जीवकै निश्चय करि पुण्यका संचय न होय है जैसे मोकरि लोक विष हरित बेल बिना पुष्पनिका संचय न देखिए है तैसें ।

भावार्थ—जैसें बेल बिना पुष्प न होय है तैसें दया विना व्रत न होय है ॥ १५ ॥

भक्षयंति पिशितं दुराशयाः, ये स्वकीयबलपुष्टकारिणः ।

घातयंति भवभागिनस्तके, खादकेन न विनास्ति घातकः ॥१६॥

अर्थ—जे अपने बलके पुष्ट करनेवाले दुष्टचित्त मांसकों भक्षे हैं ते जीवनकों घाते हैं जाते खानेवाले बिना घातनेवाला नहीं है ।

भावार्थ—कोउ कहे मांस खानेमें तो हिंसा नहीं ताको कहा है । जो मांस खावे है सो अवश्य हिंसा करै है ॥ १६ ॥

हंति खादति पणायते पलं, मन्यते दिशतिसंस्कारोति यः ।

याति ते षडपि दुर्गति स्फुटं, न स्थितिः खलु परत्र पापिनाम् ॥१७॥

अर्थ—जो मांसकों हनें है जीव मारे है अर खाद्य है, बेचै है, भला मानै है, उपदेश करै है, संस्कारोति कहिए मांसका वा मांस भक्षीनका संस्कार करै है । ते पूर्वोक्त छह प्रकारके जीव परजन्मविषे दुर्गतिकों प्राप्त होय है, जाते पापीनिकी निश्चयकरि स्थिरता नहीं ॥१७॥

अत्ति यः कृमिकुलाकुलं पलं, पूयशोणितवसादिमिश्रितम् ।

तस्य किञ्चन न चारमेयतः, शुद्धबुद्धिभिरवेक्ष्यतेऽनरम् ॥ १८ ॥

अर्थ— जो पुरुष लटनके समूहकरि भरथा अर दुर्गंध रुधिर वसा आदि करि मिश्रित ऐसा जो मांस ताहि भस्त्रे है ताके स्वानते किछ अन्तर शुद्धबुद्धिनकरि न देखिए है ।

भावार्थ—मांस खाय है सो कुत्ता समान है किछ विशेष नहीं, जाते वह भी निम्ब वस्तु खाय हैं अर यह भी निम्ब वस्तु खाय है; ग्लानि दोऊनिके नहीं ॥ १८ ॥

आमिषाशनपरस्य सर्वथा, विद्यते न कर्णुणा शरीरिणः ।

पापमर्जति तथा विना परं, वंशमीति भवसागरे ततः ॥ १९ ॥

अर्थ—मांसके खाने विषे तत्पर जो पुरुष ताके जीवकी कर्णुणा सर्वथा न होय है । बहुरि ता दया विना बड़ा पाप उपजावै है ता पापते अतिशयकरि संसारसमुद्रविषे भ्रमै है ॥ १९ ॥

नास्ति दूषणमिहामिषाशने, यैर्हृषीक वशगैर्निगद्यते ।

व्याघ्रशूकरकिरातधीवरा, स्तैर्निकृष्टहृदयैर्गुरूकृताः ॥ २० ॥

अर्थ—जिन इंद्रियनिके आधीन भए पुरुषनि करि “ मांसभक्षण-विषे दूषण नाहीं ” ऐसा कहिये है तिन नीचचित्तनकरि व्याघ्र शूकर भील डीमर है ते गुरुकी ष्यो करे ।

भावार्थ—जे मांस भक्षणको निदोष बतावै हैं तो तिनके मांस-भक्षी सिंहादिक पूज्य ठहरैं । तातैं मांसभक्षण सर्वथा भला नाहीं ॥ २० ॥

मांसवलभन निविष्टचेतसः, संतिपूजिततमा नरा यदि ।

गूधमृतकृतदेहपुष्टयः, शूकरा न नितरां तदा कथम् ॥ २१ ॥

अर्थ—मांसके भक्षणविषे लगाया है चित्त जिननैं ऐसे पुरुष जो पूजने योग्य होय तो विष्टा अर मूत्र करि करी है देहपुष्टि जिननैं ऐसे शूकर पूज्य कैसे न होय ॥ २१ ॥

भक्षयति पलमस्तचेतनाः, सप्तधातुमयदेहसंभवम् ।

यद्वदन्ति च शुचित्वमात्मनः, किं विडम्बनमतः परं बुधाः ? ॥ २२ ॥

अर्थ—जो बुद्धिरहित सप्तधातुमय देहतैं उपज्या जो मांस ताहि-स्त्राय है अर आत्माके पवित्रपना कहै है सो हे पंडित हो ! यासिवाय और विडम्बना कहाँ है ? अपि तु या सिवाय और विडम्बना नाहीं है ॥ २२ ॥

भुञ्जते पलमघौषकारि ये, ते व्रजन्ति भवदुःखमूर्जितम् ।

ये पिबन्ति गरलं सुदुर्जरं, ते श्रयन्ति मरणं किमद्भुतम् ॥ २३ ॥

अर्थ—जे पापके समूहका करनेवाला जो मांस ताहि भखै हैं ते तत्र संसारके दुःखकों प्राप्त होय हैं । इहां दृष्टांत कहै हैं—जे पुरुष दुःखते है जरना उतरना जाका ऐसा जो विष ताहि पावं हैं ते मरणकों प्राप्त होय सो कहा आश्चर्य है ।

भावार्थ—मांसभक्षक संसारमें भ्रमें ताका अचरज नाहीं ॥ २३ चित्र दुःखसुखदान पंडिते, ये वदन्ति पिशिताशने समे ।

मृत्यु जीवितविवर्द्धनोद्यते, ते वदन्ति सदृशे विषामृते ॥ २४ ॥

अर्थ—नानाप्रकारके दुःख अरु सुखके देनेमें प्रवीण जे मांस अरु भोजन तिनहि समान कहै हैं ते मरण अरु जीवनके बढ़ावने दिवें उद्यमी जे विष अरु अमृत तिनहि समान कहै हैं ।

भावार्थ—जे मांस खाना अरु अन्न खाना समान कहै हैं ते विष अरु अमृत समान कहै हैं । ते समान नाहीं जातैं मांस खानेमें तो तीव्रराग है अरु अन्न खानेमें मन्द राग है तातैं बड़ा भेद है ऐसा जानना ॥ २४ ॥

जायते द्वितयलोक दुःखदं, भक्षितं पिशितभगसंगिनाम् ।

भक्षितं द्वितयजन्मशर्मदं, जायतेऽशनमपास्त दूषणम् ॥ २५ ॥

अर्थ—जीवनि मांस खाया संता इस लोक विषैं अरु परलोक विषैं दुःखदायक होय है, अरु दूषण रहित भोजन खाया भया इस लोक परलोक विषैं सुखदायक होय है ॥ २५ ॥

मांसमित्थमवबुध्य दूषितं, त्यज्यते हितगवेषिणा त्रिधा ।

मंदिरं न विदता निषेव्यते, तीव्रदृष्टिविषपन्न गाकुलम् ॥ २६ ॥

अर्थ—हितके हेरनेवाले पुरुष करि या प्रकार मांसकों दूषित जान करि सदा त्याग करिए है । इहां दृष्टांत कहै हैं—जानता जो पुरुष ताकरि तीव्र दृष्टि विष चर्षकरि व्याकुल जो घरसो न सेईए है ॥ २६ ॥

ऐसे मांसका निषेध किया, आगे मधुका निषेध करे हैं—

माक्षिकं विविध जन्तुघातजं, खादयन्ति बहुदुःस्कारि ये ।

स्वल्पजन्तुविनिपातिभिः समारते भवन्ति कथमत्र खादिकैः ॥२७॥

जे पुरुष नानाप्रकार जीवनके घातते उपर्या अर महादुःस्का देनेवाला ऐसा जो मधु ताहि खाय है ते थोड़े जीवनके घातक जे खटीक तिनकरि समान कैसे होय हैं ।

भावार्थ—मधु खानेवाला खटीकते भी महापापी है ऐसा जानना ॥ २७ ॥

ग्राममत्तकविदाहरेपमा, तुल्यता न मधुभक्षिरेपसः ।

तुल्यमंजलिजलेन कुत्रचिन्निम्नगापतिजलं न जायते ॥ २८ ॥

अर्थ—घात ग्रामके जलावनेके पाप करि मधुभक्षकके पापकी समानता नाहीं, जाते अंजलिके जल करि समुद्रका जल असंख्यात गुण है तैसें मात ग्रामके दाहके पापते भी असंख्यातगुणा पाप मधु भक्षण करनेमें बताया है ॥ २८ ॥

म्लेच्छलोकमुखलालयाविलं, मद्यमांसचितभाजनास्थितम् ।

सारघं गतघृणस्य खादतः, कीदृशं भवति शौचमुच्यताम् ॥ २९ ॥

अर्थ—म्लेच्छ भील लोकनिके मुखकी लाल करि मलिन अर मद्य मांस जामें संचय कीये ऐसे भाजनमें धरया अर पुण्यकों नाश करनेवाला जो मधु ताहि ग्लानि रहित खाते पुरुषके पवित्रपना कैसा है सो कहि ॥ २९ ॥

यश्चिखादिषति सारघं कुधीर्मक्षिकागणविनाशनस्पृहः ।

पापकर्दमनिषेधनिम्नगा, तस्य हंत करुणा कुतस्तन्वी ॥ ३० ॥

अर्थ—मक्षिकानके समूहके विनाशनेकी है इच्छा जाके ऐसा जो कुबुद्धी मधु खानेकी इच्छा करे है, बड़े आश्चर्यकी बात है ताके

करुणा काहेकी, कैसी है करुणा पापरूप कीचके दूर क. नेकों नदी समान है ॥ ३० ॥

भक्षितो मधुकणोऽपि संचिनं, सूदते झटिति पुण्यमंचयम् ।

काननं विषमशोचिषः कणः, किं न भक्षयति वृक्षमंकटम् ॥ ३१ ॥

अर्थ—मधुका कणा भी भक्षण क्रिया संता निश्चय करि पुण्यके समूहको शीघ्र नाश करे है । इहां दृष्टांत कहै है—अग्निका जो कणा सो वृक्षनिका है समूह जा विषै ऐसे वनको कहा नहीं भक्षण करै है (नहीं टहै है) ? टहै ही है ॥ ३१ ॥

योऽस्ति नाम मधु भेषजेच्छया, सोऽपि याति लघु दुःखमुल्वणम् ।

किं न नाशयति जीवितेच्छया, भक्षिनं, झटिति जीवितं विषम् ॥ ३२ ॥

अर्थ—जो औषधकी इच्छा करि भी प्रसिद्ध मधुको खाय है सो भी तीव्र दुःखको शीघ्र प्राप्त होय है । इहां दृष्टांत कहै है;—जीवनेकी इच्छा करि खाय जो विष सो कहा शीघ्र जीवनेको न नाशै है ? नाशै ही है ॥ ३२ ॥

घरदुःखदमवेत्य कोविदा, वर्जयंति मधु शर्मकाक्षिणः ।

कुत्र तापकमत्रय पावकं, गृह्यते शिशिरलोलमानसाः ॥ ३३ ॥

अर्थ—सुखके बांछक पंडित जन हैं ते घोर दुःखदायक जानि मधुको त्याग करै है । ताका दृष्टांत कहै है—शीतलपनेमें है लालसा जिनके ऐसे पुरुष हैं ते अग्निको ताप करि जानकरि कहा मइण करै है, नहीं करै है ॥ ३३ ॥

ऐमें मधुका निषेध किया, आगै नवनीतका निषेध करै है;—

संस्रंति विविधाः शरीरिणो, यह सूक्ष्मतनत्रो निरन्तराः ।

तद्दाति नवनीतमंगिनां, पापतो न परमत्र सेवितम् ॥ ३४ ॥

अर्थ—जा विषै सूक्ष्म है शरीर जिनके ऐसे नाना प्रकार जीव

हैं ते निरन्तर उपजै है सो लूणी घी सेया सन्ता जीवनिकों सो पाप देय है, जा पापतैं लोक विषे और पाप नाहीं ॥ ३४ ॥

चित्रजीवगणसूदनास्पदं, यैत्रिलोक्य नवनीतमद्यते ।

तेषु संयमलवो न विद्यते, धर्मसाधनपरायणा कुतः ॥ ३५ ॥

अर्थ—जिन पुरुषनि करि नाना प्रकार जीवनिके समूहके विनाशका ठिकाणा देख करि लूणी खाय है तिन पुरुषनि विषैं संयमका अंश भी नाहीं है, धर्मसाधन विषैं तत्परता काहेतैं होय ? नाहीं होय ॥ ३५ ॥

यन्मुहूर्त्तयुगतः परः सदा, मूर्च्छति प्रचु(जीवराशिभिः) ।

तद्विलंति नवनीतमत्र ये, ते व्रजंति खलु कां गति मृताः ॥ ३६ ॥

अर्थ—जो लूणी दोय मुहूर्त्त पाउँ प्रचुर जीवनिके समूहनि करि मूर्च्छित होय है सन्मूर्च्छन जीव जा विषैं सो लूणी इहां जे खाय है ते मरे भए निश्चय करि कौन गतिकों जाय हैं, तिनकी कहा गति होय है जैसी आचार्यनैं आशंका करि है ।

भावार्थ—इहां दोय मुहूर्त्त लूणीकी मर्यादा कही सो तपावनेकी अपेक्षा है, किल्लू खानेकी अपेक्षा न कही है, जातैं रागादिकके कारनपनेतैं खाना तो कौई प्रकार योग्य नाहीं ऐसा जानना ॥ ३६ ॥

ये जिनेन्द्रवचनानुपाणिनां, धारजन्मवनपातभीरवः ।

तैश्चतुष्टयमिदं विनिर्दितां, जांवितावधि विमुच्यते त्रिधा ॥ ३७ ॥

अर्थ—जे जीव संसार वनके पाततैं भयभीत हैं अर जिनेन्द्रके वचनके अनुसार है तिन करि निन्दनीक मद्य गांस मधु लोणी ये चार हैं ते जीवन पर्यंत मन, वचन काय करि लगिए है ॥ ३७ ॥

मद्यमांसनवनीतसारधं, यैश्चतुष्टयमिदमद्यते सदा ।

गृह्णिरागवधसंगवृंहकं, तैश्चतुर्गतिभवो विगाह्यते ॥ ३८ ॥

अर्थ—जिन करि अति आसक्तता राग हिसाके संगके बढ़ापने-
वाले मद्य मांस मधु लौणी ए च्यार सदा खाइए है तिन करि चतुर्गति
संसार अवगाहिए है (भ्रमिए है) ॥ ३८ ॥

यः सुरादिषु निषेवतेऽधमो, निद्यमेकमपि लोलमानसः ।

सोऽपि जन्मजलधावताड्यते, कथ्यते किमिह सर्वभक्षिणः ॥ ३९ ॥

अर्थ—जो चञ्चल चित्त नीच पुरुष मदिरादिकनिविषै निन्दनीक
एककों भी सेवन करे सो भी संसार समुद्र विषै भ्रमण करे है, तो
इहां सर्वके खानेवालेकी कहा कहिए ॥ ३९ ॥

ऐसै मदिरादिक च्यार महाविकृतिका निषेध किया । आर्गे
रात्रिभोजनका निषेध करे है;—

यत्र राक्षसपिशाचसंचगो, यत्र जन्तुनिवहो न दृश्यते ।

यत्र मुक्तमपि वस्तु मश्यते, यत्र धारतिमिरं विजृम्भते ॥ ४० ॥

यत्र नास्ति यतिवर्गसंगमो, यत्र नास्ति गुरुदेवपूजनम् ।

यत्र संयमविनाशि भाजनं, यत्र संसजति जीवभक्षणम् ॥ ४१ ॥

यत्र सर्वशुभकर्मवर्जनं यत्र सास्ति गमनागमक्रिया ।

तत्र दोषनिलये दिनात्यये, धर्मकर्मकुशला न भुञ्जते ॥ ४२ ॥

अर्थ—जा विषै राक्षस पिशाचनिका संचार होय है, अर जा
विषै जीवनिका समूह न देखिए है, अर जा विषै छेड्या भी वस्तु
भक्षण करिए है अर जा विषै घोर अन्धकार फैले है ॥ ४० ॥

अर जा विषै यतीनके समूहका संगम नाहीं, अर जाविषै गुरु
देवका पूजन नाहीं, अर जा विषै संयमका करनेवाला भोजन होय है
अर जा विषै जीवनका भक्षण उपजै है ॥ ४१ ॥

अर जा विषै सर्व शुभ कर्मका वर्जन होय है, अर जा विषै
गमनागमन क्रिया नाहीं है; ऐसा दोषनिका ठिकाना दिनका अभाव

रूप रात्रि ताविषे धर्म कर्ममें प्रवीण पुरुष हैं ते भोजन न करै हैं ॥ ४३ ॥

मुञ्चते निशि दुराशया यके, गृद्धिदोषवशवर्तिनो जनाः ।

भूतराक्षसपिशाच शाकिनी, संगतिः कथममीभिरस्य ॥ ४३ ॥

अर्थ—जे दुष्टचित्त लोलुपतारूप दोषके वशभूत जन रात्रि विषे भोजन करै हैं तिन करि भूत राक्षस पिशाच शाकिनीकी संगति केंधे त्यागिए है ।

भावार्थ—रात्रिभोजन करै हैं तिनके भूनादिककी संगति अवश्य होय है ॥ ४३ ॥

बलमते दिननिशीथयोः सदा, यो निरस्तयमसयमक्रियः ।

शृंगपुच्छशफभंगवर्जितो, भण्यतेपशुरयं मनीषीभिः ॥ ४४ ॥

अर्थ—जा पुरुष दूर करी है यम, संयम, क्रिया जानें ऐसा रात्रि दिन विषे सदा खाय है सो यह पंडितनि करि सींग पूँछ रहित पशु कहिए है ॥ ४४ ॥

आमनंति दिवसेषु भोजनं, यामिनीषु शयनं मनीषिणः ।

ज्ञानिनामवसरेषु जलग्नं, शान्तये गुरुषु पूजनं कृतम् ॥ ४५ ॥

अर्थ—पंडित हू ते दिवसनि विषे भोजनकों सुखरू अर्थ कहै हैं, अर रात्रिनि विषे सोवना शांतिके अर्थ कहै हैं, अर ज्ञानिनेके अवसर विषे बोलना शांतिके अर्थ कहै हैं, गुरुनविषे करया पूजन शांतिके अर्थ कहै हैं ॥ ४५ ॥

मुञ्चते गुणवतैकदा सदा, मध्यमेन दिवसे द्विरुज्ज्वले ।

येन रात्रिदिवयोरनारतं, मुञ्चते स कथितो नरोऽधमः ॥ ४६ ॥

अर्थ—गुणवान उत्तम पुरुष करि सदा एकवार भोजन करिए है, अर मध्यम पुरुष करि उज्ज्वल दिन विषे दोयवार भोजन करिए है अर जा करि दिनरात निरन्तर भोजन करिए है सो मनुष्य अधम नीच कहा है ॥ ४६ ॥

ये विवर्ष्य वदनावसानयो, वासरस्य घटिकाद्वयं सदा ।

भुंजते जितहृषीकवाजिन, स्ते भवंति भवभारवर्जितः ॥ ४७ ॥

अर्थ—जे पुरुष दिनके आदि अर अन्त विषै सदा दोय घडीक बर्ज करि भोजन करै हैं ते जीते हैं इंद्रिय रूप घोड़े जिननै संसारकै भार करि रहित हांय हैं मुक्त हांय हैं ॥ ४७ ॥

ये विधाय गुरुदेवपूजनं, भुंजतेऽहि विमले निराकुलाः ।

ते विधूय लघु मोहतामसं, संभवंति सहस्रा महोदयाः ॥ ४८ ॥

अर्थ—जे पुरुष निर्ग्रन्थ गुरुका अर्हत देवका पूजन करकै निर्मल दिवस विषै निराकुल भए संते भोजन करै हैं ते शीघ्र मोह अन्धकारको नाश करि सहस्रा महान् उदयरूप होय हैं, केवलज्ञानको पावै हैं ॥ ४८ ॥

यो विमुच्य निशि भोजनं त्रिधा, सर्वदापि विदधाति वासरे ।

तस्य याति जनार्द्धमंचितं, मुक्तिवर्जितमपास्तरेपमः ॥ ४९ ॥

अर्थ—जो पुरुष मन वचन काय करि सदा रात्रि विषै भोजन त्याग करि दिन विषै भोजन करै है तिस पाप रहित पुरुषका मुक्ति रहित उपवास रूप आधा जन्म व्यतीत होय है ॥ ४९ ॥

यो निवृत्तिप्रविधाय बलभनं, वासरेषु वितनोति मूढधोः ।

तस्य किंचन न विद्यते फलं, भाषित न विना फलंतराम् ॥ ५० ॥

अर्थ—जो मूढ बुद्धि पुरुष दिननि विषै निवृत्ति जो व्रत ताहि न करि रात्रि विषै भोजन करै है ताकै किछु फल न होय है, जातै जिनभाषित विना अतिशय करि फल न होय है ।

भावार्थ—कोऊ कहै कि दिन विषै भोजन न करना अर रात्रि विषै करना यह भी व्रत है ताकूं कहा है कि ऐसा मार्ग नहीं, जातै रात्रि भोजन विषै द्रव्यभाव हिंसाकी विशेषतातै ऐसे व्रततै किछु फल

नाही, पाप ही होय है । जैसे कोऊ अन्न छोड करि मांस भक्षण करे तैसे ऐसा व्रत पापहीके अर्थ जानना ॥ ५० ॥

ये व्यवस्थितमहःसु सर्वदा, शर्वरीषु रचयंति भोजनम् ।

निम्नगामि सलिलं निस्सर्गत, स्ते नयंति शिखरेषु शाखिनाम् ॥५१॥

अर्थ—जे पुरुष स्थाप्या है दीपकादि प्रकाश जिन विषै ऐसी रात्रनिविषै भोजनका रचै है ते स्वभावरै नीचेको चलनेवाला जो जल ताहि शिखरनि विषै वृक्षनको प्राप्त करै है ।

भावार्थ—इहां ऐसा है कि कोऊ कहै हम रात्रि विषै दीपकादि करि हिंसा निवारि लेइंगे ताकूं कह्या है । रात्रि विषै हिंसा अनिवार्य होय है, जातै भोजनके आश्रय जीव वा दीपकादि करि और जीव अवश्य घाते जाय हैं, अर गगादिककी तावता होय है, तातै रात्रि विषै हिंसा अवश्य है सा निवारी न जाय । ताका दृष्टांत दिया है कि जलका स्वभाव नांचै पड़नेका है सो ऊपर चढै ऐसा कोई प्रकार होय सकै, ऐसा जानना ॥ ५१ ॥

सूचयंति सुखदायि येंगिनां, रात्रिभोजनमपास्तचेतनाः ।

पात्रकाद्धतशिखाकरालितं, ते वदंति फलदायि काननम् ॥ ५२ ॥

अर्थ—जे अज्ञानी रात्रि भोजन जीवनको सुखदायक कहै है ते अग्निकी उद्धत शिखा करि जलया जा वन ताहि फलदायक कहै है, सो हाय नाहीं ॥ ५२ ॥

ये ब्रुवंति दिनरात्रिभागयो, स्तुल्यतां रचिनपुण्यपापयोः ।

ते प्रकाशतमसोः समानतां, दर्शयंति सुखदुःखकारिणोः ॥ ५३ ॥

अर्थ—रचै हैं पुण्य अर पाप जिननै ऐसे जे दिन विषै भोजन अर रात्रि विषै भोजन दोऊनको समान कहै हैं ते सुख अर दुःखके करनेवाले ऐसे प्रकाश अर अंधकार दोऊनको समान दिखावै है ।

भावार्थ—दिनमें भोजन धर्मरूप है अर रात्रि भोजन पापरूप है जैसे प्रकृश अर अंधकार समान कदाच नाहीं ॥ ५३ ॥

रात्रिभोजनमपिअसंति ये, धर्मबुद्धिमपिकृत्य दुर्धियः ।

ते क्षिपंति पक्विह्मंडले, वृक्षपद्धतिविवृद्धये ध्रुवम् ॥ ५४ ॥

अर्थ—जे धर्मबुद्धि करि रात्रि भोजनको सेवन करै हैं ते निश्चय करि वृक्षनिकी पद्धतिकी वृद्धिके अर्थ वज्राग्निके समूहको खेपै हैं ।

भावार्थ—कोई मिथ्यादृष्टि दिनमें व्रत करै है रात्रि त्रिवै भंजन करै है ताकू कहा है—जैने अग्नितें कोई प्रकार वृक्षनिकी वृद्धि न होय तैने रात्रि भोजन त्रिवै कोई प्रकार धर्म नाहीं, अर्धम ही है ऐमा जानना ॥ ४५ ॥

ये विधृत्य सकलं दिनं क्षुधां, भुंजते सुकृतकाक्षया निशि ।

ते विवृध्य फलशास्त्रिणीं लतां, भस्मयंति फलकाक्षया पुनः ॥ ५५ ॥

अर्थ—जे जीव पुण्यकी बांछा करि सर्व दिन क्षुधावौ धारि रात्रि त्रिवै भोजन करै है ते फल करि शोभित लताको बठाय फेर फलकी बांछा करि भस्म करै हैं ॥ ५५ ॥

ये सदापि घटिकाद्वयं त्रिधा, कुर्वते दिनमुखांतयोर्वुत्राः ।

भोजनस्य निषमं विधीयते, मामि तैः स्फुटमुपाधिनद्वयम् ॥ ५६ ॥

अर्थ—जे पंडित पुरुष सदा ही दिनके आदि अर अंत त्रिवै दोय घडो भोजनका नियम करै हैं तिन करि प्रगटने एक माममें दोय उपवास करिण है ।

भावार्थ—दिन विष दोय दोय मुहूर्त भोजनका त्याग भये मासमें घाठ मुहूर्तका त्याग हातें दोय उपवासका फल होय है ॥ ५६ ॥

रोग शोकरुज्जिराटिकारिणो, राक्षसेव भयदायिनी प्रियाः ।

कन्यका दुरितपाकसंभवा, रोगिता इव निरन्तरापदाः ॥ ५७ ॥

देहजा व्यसनकर्मपंडिताः, पन्नगा इव त्रितीर्णभीतवः ।

निर्धनत्वमनपायि सर्वदापात्रदानमित्र दत्तवृद्धिकम् ॥ ५८ ॥

संकटं सतिमिरं कुटीरकं, नीचवित्तमिव रंघ्रसंकुलम् ।

नीचजातिकुलकर्मसंगमः, शालशौचशमधर्मनिर्गमः ॥ ५९ ॥

व्याधयो विविधदुःखदायिनो, दुर्जना इव परापकारिणः ।

सर्वदोषगणपीड्यमानता, रात्रिभोजनपरस्य जायते ॥ ६० ॥

अर्थ—रात्रिभोजन विषे तत्पर जो पुरुष ताकै ऐसी सामग्री होय है सो कहै हैं—राग अर शोक अर कलह अर राड इनकी करनेवाली अर राक्षसीकी ज्यों भय देनेवाली स्त्री मिलै है, अर महापापते उपजा अन्तराय सहित सदा दुःख देनेवाली कन्या होय है । बहुरि दिया है भय जिनमें ऐसे पापकर्म विषे प्रवीण सर्पकी ज्यों पुत्र होय है, बहुरि दई है वृद्धि जानें ऐसा अपात्र दानकी ज्यों निर्धनपना विनाश रहित सदा होय है ।

भावार्थ—जैसे अपात्र दान निरन्तर वृद्धि करै तैसे रात्रिभोजन निर्धनपना नित्य बढ़ावै ऐसा दृष्टांत दिया है । बहुरि छिद्रनि करि व्यास नीच पुरुषके वित्तका ज्यों संकटरूप अन्धकार रहित घर मिले है, अर नीच जाति कुलकर्म इनका संगम होय है, अर शील निलोभता समभाव धर्म इनका निर्गम होय है, अभाव हांय है, अर परके बुरे करनेवाले दुर्जनकी ज्यों दुःख देनेवाली व्याधि होय है, अर सर्व दोषनके समूहकरि पंड्यमानपना, दुखीपना होय है । ऐसे रात्रिभोजन करनेवालेके दोषनकी उत्पत्ति होय है ॥ ५७-५८-५९-६० ॥

आगै रात्रिभोजन त्यागनेवालेके गुण कहै हैं—

पद्मपत्रनयनाः प्रियवदाः, श्रीसमः प्रियतमा मनोरमाः ।

सुन्दर-दुहितरः कल्लयाः, पुण्यपंक्तय इवात्तविग्रहाः ॥ ६१ ॥

भंशितव्यसनवृत्तयोऽमलाः, पावना हिमकरा इवांगजाः ।

शक्रमंदिरमिवास्ततामसं, मंदिरं प्रचुररत्नराजितम् ॥ ६२ ॥

लब्धचितितपदार्थमुज्ज्वलं, भूरिपुण्यमिष वैभवं स्थिरम् ।

सर्वरोगगणमुक्तदेहता, सर्वशर्मनिवहाधिवासिता ॥ ३३ ॥

ज्ञानदर्शनचरित्रभूतयः सर्वयाचितविधानपंडताः ।

सर्वलोकपतिपूजनीयता, रात्रिभुक्तिविमुखस्य जायते ॥ ६४ ॥

अर्थ—कमलके पत्रसमान है नयन जिनके अर प्रिय वचन बोलनेवाली लक्ष्मीके समान रमावनेवाली ऐसी स्त्री होय है, अर कला विधानिकी स्थान अर पुण्यकी पंक्तिसमान ग्रहण किया है शरीर जिनने ऐसी सुन्दर कन्या होय है ॥ ६१ ॥

अर दूर करी है व्यसनकी प्रवृत्ति जिनने पवित्र निर्मल चन्द्रमा समान पुत्र होय है, अर इंद्रके मंदिर समान अन्धकार रहित प्रचुर रत्न करि शोभित ऐसा मंदिर मिलै है ॥ ६२ ॥

अर पाया है वांछित पदार्थ जाते ऐसा उज्ज्वल महा पुण्य समान स्थिर वैभव होय है, अर सर्व रोगनके समूह करि रहित देहपना अर सर्व सुखनके समूहका आधारपना ॥ ६३ ॥

अर सवे वांछित रचनेमें प्रवाण ऐसी ज्ञान दर्शन चरित्रकी सम्पत्ति अर सर्वलोकपतिन करि पूजनीकपना ये रात्रिभोजनते जो विमुख है ताक हाय है ।

भावार्थ—पूर्वक गुण रात्रि भोजनके त्यागीके सर्व होय है ऐसा जानता ॥ ६४ ॥

शूकरा शंभरा वानरी धावरी, राह्विणी मंडली शोकिनी क्लेशिनी ।

दुर्भगा निःसुता निर्धना निर्धना, शर्वरीभोजिनी जायते भामिनी ॥६५॥

अर्थ—रात्रि विष भोजन करनेवाली स्त्री है सो सूँकरी भीलनी वानरी धावरी रोह्विणा कुली शोकरुहित क्लेशरहित दुर्भग पुत्र रहित

पति रहित धन रहित ऐसी हांय है ॥ ६५ ॥

बांधवैरंचिता देहजैर्निदिता, भूषणैर्भूषिता व्याधिभिर्वर्जिता ।

श्रीमती हीमती धीमती धर्मिणी, वासरे जायते मुक्तिः शर्मणी ॥६६॥

अर्थ—बांधवनि करि युक्त अर पुत्रनि करि वंदित अर आभूषणनि करि भूषित अर रोगनि करी वर्जित लक्ष्मीवान लज्जावान बुद्धि-वान धर्मात्मा ऐसी सुखरूप स्त्री है सो दिनविषे भोजनतै हांय है ।

भावार्थ—जो रात्रि विषे भोजन त्यागै है सो पूर्वोक्त गुणसहित होय है ॥ ६६ ॥

रात्रिभोजनविमोचिनो गुणा, ये भवन्ति भवभागिनां परे ।

तानपास्य जिननाथमःशते, धक्तुमत्र न परे जगत्रये ॥ ६७ ॥

अर्थ—जीवनिकै रात्रि भोजन त्यागके उत्कृष्ट गुण हैं तिनहि तीनलोक विषे जिनराज सिवाय और कोई कहनेको समर्थ नाहीं है ॥ ६७ ॥

ऐसे रात्रि भोजनका निषेध किया, आगे पंच उदंबर फलनिका निषेध करै है—

यत्र सूक्ष्मतनवस्तनूभृतः, संभवन्ति विविधाः षडस्रशः ।

पंचधा फलमुदंबरोद्भवं, तन्न भक्षयति शुद्ध्यति शुद्धमानसः ॥६८॥

अर्थ—जाविषे सूक्ष्म हैं शरीर जिनके ऐसे जीव नानाप्रकार हजारों उपजै है तिन पांच प्रकार उदंबर जनित फलकों शुद्ध है मन जाका ऐसा पुरुष है सो न खाय है ।

भावार्थ—ऊमर, कठऊमर, पाकरफल, बड़, पीपर ये पांच उदम्बर फल हैं ते त्रसजीवनिके उपजनेके ठिकाने हैं तांतें बुद्धिवान इनका सर्वथा परित्याग करै है ॥ ६८ ॥

क्षीरभूरुहफलानि भुंजते, चित्रजीवनिचिंतानि येऽन्वयाः ।

जन्मसागरनिपातकारणं, पातकं किमिह ते न कुर्वते ॥ ६९ ॥

अर्थ—जे पापी पुरुष असंख्यात जीवनि करि भरे हुए क्षीरी वृक्षनिके फलनिकों खाय है ते संसार सागरमें डूबनेको कारण कौनसा पापकों इहां न करै हैं, अपितु सर्व ही पाप करै हैं ॥ ६९ ॥

असंख्यजीवव्यपघातवृत्तिभिर्न, धीवरैरस्ति समं समानता ।

अनंतजीवव्यपरोपकारिणामुदुंबराहारविलोलचेतसाम् ॥ ७० ॥

अर्थ—अनन्त जीवनके नाश करनेवाले पंच उदंबरके आहार विषै है लोलुप चित्त जिनका तिनकी असंख्य जीवनके घातरूप है आजीविका जिनकी ऐसे ढीमरनि करि साथ समानता नाहीं है ।

भावार्थ—उदम्बरके खानेवालेकै ढीमरनतैं भी अधिक पापीपना यहां दिखाया ऐसा जानना ॥ ७० ॥

ये खादन्ति प्राणिवर्गं विचित्रं, दृष्ट्वा पंचोदुंबराणा फलानाम् ।

अभ्रात्राचं याति ते घोरदुःखं, किं निश्चिंशैः प्राप्यते वा न दुःखम् ॥ ७१ ॥

अर्थ—जे नाना प्रकार जीवनिके समूहकों देख करि पंच उदंबर फलनिकों खाय हैं ते घोर दुःखरूप नरकवामकों प्राप्त होय है, अथवा निद्रिय जीवनि करि कहा दुःख न पाइए है, सर्व ही पाइए है ॥ ७१ ॥

अघ्रदायीनि विचित्र्य धमधोरुदुंबराणां, न फलानि वल्भते ।

विश्रुतिमिष्टे सुखदे प्रयोजनं, करोति कस्तद्विपरीतमुत्तमः ॥ ७२ ॥

अर्थ—धमधुद्धी पुरुष है सो उदम्बरनिके फलनिकों पापके देनेवाले जानि नहीं खाय है, जातैं सुखदायक कार्य करनेकों इष्ट होनवन्तैं कौन उत्तम पुरुष है सो तातैं विपरीत करै है, अपितु नाहीं करै है ॥ ७२ ॥

आदावन्ते भ्रुकुटमिह गुणा निर्मला धारणीयाः,

पापध्वंभि व्रतमपमलं कुर्वना श्रावकीयम् ।

कल्लं शक्यं स्थिरगुरुनरं मंदिरं गर्त्तपूरं,

न स्थेयोभिर्दृढनरमृते निर्मितं प्रावजालैः ॥ ७३ ॥

अथ—पापका नाश करनेवाला श्रावक सम्बन्धी निर्मल व्रतकों करता जो पुरुष ता करि आदि अन्त विषै प्रगटपनें इहां निर्मल गुण धारणा योग्य है । इहां दृष्टांत कहै है—जैसै अत्यंत धिर जे पत्थरनके समूह तिनकरि दृढ़ किया जो गर्त्तपूर कडिए नींव ताविना स्थिर अर अतिभारी मंदिर करनेकों समर्थ नाहीं तैवै ।

भावार्थ—जैसै दृढ़ मूल विना निश्चल मंदिर न होय है तैसै पंच उदम्बर तीन मकारके त्यागरूप मूलगुण विना निर्मल व्रत न होय है तातैं आदितैं लगाय अन्त पर्यन्त प्रथम मूलगुण धारणा योग्य है ॥ ७३ ॥

दातुं दक्षः सुरतरुखि प्रार्थनीयं जनानां,
चित्ते येषामीति गुणगणो निश्चलत्वं विभर्ति ।

भुक्त्वा सौख्यं भुवनमहितं चिन्तावाप्तभोगं,

ते निर्वाधाममिनगतयः श्रेयसीं यांति लक्ष्मीम् ॥ ७४ ॥

अर्थ—जीवनिकों वांछित देनेकों कल्पवृक्षसमान प्रवीण ऐसा यह गुणनिका समूह जिनके चित्त विषै निश्चलपनेकों धारै हैं ते पुरुष चित्तत प्राप्त है भोग जात्रिषै ऐसे लोक पूजित सुखकों भोग करि अनेत है ज्ञान जिनके ऐसे भये संते निर्वाध मोक्षलक्ष्मीकों प्राप्त होय है ॥ ७४ ॥

मद्य मांस मधु पंच उदम्बर, फल त्रसजीवनिके आधार ।

लौणी निशिभोजन इत्यादिक, तीव्र पाप त्याग दुःखकार ॥

विमल मूलगुण प्रथम धरत हम, सब व्रत शोभा पावै सार ।

तातैं भोगि सार सुख क्रमतैं, होय अमितगति जगसिरदार ॥

इति श्री अमितगति आचार्यकृत भावकाचारविषै

पंचम परिच्छेद समाप्त भया ।

षष्ठम परिच्छेद

आगै द्वादश अणुव्रतका वर्णन करै हैं;—

मद्यादिभ्यो विरतैर्व्रतानि, कार्याणि शक्तितो भव्यैः ।

द्वादश तरषा छेतुं, शस्त्राणि शितानि भववृक्षम् ॥ १ ॥

अर्थ—मद्यादिकनि विरक्त जे भव्यपुरुष तिन करि शक्ति सारू द्वादश व्रत करणा योग्य है । ते व्रत संभारवृक्षकौ वेग करि छेदनेकौ तीक्ष्ण शस्त्रकी ज्यौं हैं ॥ १ ॥

अणुगुणशिक्षाद्यानि व्रतानि गृहमेधिनां निगद्यते ।

पंचत्रिचतुः संख्यासहितानि द्वादश प्राज्ञैः ॥ २ ॥

अर्थ—पंडितनि करि श्रावकनिके अणुव्रत गुणव्रत शिक्षाव्रत क्रमसँ पांच तीन च्यार संख्या सहित द्वादश कहै हैं ।

भावायं—पांच अणुव्रत तीन गुणव्रत च्यार शिक्षाव्रत ऐसँ बारह व्रत श्रावकनिके कहै हैं ॥ २ ॥

आगै अणुव्रतनिकौ कहै हैं;—

हिंसासत्यस्तेयान्नह्यपरिग्रहनिवृत्तिरूपाणि ।

ज्ञेयान्यणुव्रतानि, स्थूलानि भवन्ति पंचात्र ॥ ३ ॥

अर्थ—इहां स्थूल हिंसा झूठ चौरी अन्नह्य परिग्रह इनितै निवृत्ति-रूप पांच अणुव्रत जानना योग्य हैं ॥ ३ ॥

तहां स्थूल हिंसात्याग व्रतकौ कहै हैं;—

द्वेषा जीवा जैनैर्मतास्त्र, सस्थावरप्रभेदेन ।

तत्र त्रसरक्षायां तदुच्यतेऽणुव्रतं प्रथमम् ॥ ४ ॥

अर्थ—जैनीनिनै त्रस स्थावरके भेद करि दोय प्रकार जीव कहै है तहां त्रस जीवनकी रक्षा होतसँतै सो प्रथम अणुव्रत कहिए है ॥४॥

स्थावराघाती जीवसंसंरक्षी, विशुद्धपरिणामः ।

यंऽऽविषयानिवृत्तः, सः संयतासंयतो ज्ञेयः ॥ ५ ॥

अर्थ—जां जीव स्थावराघाती है स्थावरकी हिंसा त्यागनेको अममर्थ है, अरु अम जीवनिका भले प्रकार रक्षा सहित है अरु विशुद्ध है परिणाम जाके अरु इन्द्रियके विषयनित विरक्त है सो संयतासंयत कहिए देशन्नका धारक श्रावक जानना ॥ ५ ॥

हिंसा द्वेषा प्रोक्ताऽऽरंभानारंभजत्वतोदक्षैः ।

गृह्वासतो निवृत्तां द्वेषापि त्रायते तां च ॥ ६ ॥

गृह्वाससेव्नरतो मन्दकषायः प्रवृत्तितारंभाः ।

आरम्भजां स हिंसां शक्नोति न रक्षितुं नियतम् ॥ ७ ॥

अर्थ—पंडित करि आरम्भ अरु अनारंभते उपजवे पने करि हिंसा सो कही है दोय प्रकार गृह्वासतै निवृत्त जो मुनि सो तौ दोय प्रकार हिंसाको बचावै है ॥ ६ ॥

अरु जो गृह्वासके सेवनेमें रत श्रावक मन्द कषाय स्वरूप वर्त्ताया है आरम्भ जानै सो निश्चय करि आरम्भ जनित हिंसाके त्यागनेको समर्थ न होय है ।

भावार्थ—मन्द कषायरूप चारित्रमोहके उदयतै अवशपने व्यापार आरम्भ विष सो तो आरम्भजनित हिंसा कहिए, अरु बिना हीं प्रयोजन चला करि आप ही तीव्र कषायरूप हिंसा करना सो अनारंभ-जनित हिंसा कहिए सो इनि दोऊ प्रकार हिंसानिका त्याग तो मुनीश्वरनिकै होय है, अरु गृहस्थके शक्तिहीनपनातै निर्दोष व्यापारादि जनित हिंसाका त्याग न होय सकै है परन्तु परिणामनि विषै सर्व हिंसानै महा अरुचि है, निन्दा गर्हा आपकी करै है ऐसा जानना ॥७॥

शमिताद्यष्टकषायः प्रवर्तते यः परत्र सर्वत्र ।

निदागर्हाविष्टः सः संयमासंयमं घत्ते ॥ ८ ॥

अर्थ—उपसमाएँ हैं आदिके अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यान रूप
क्रोधादि अष्ट कषाय जानै अर सर्व ठिकानै निन्दा गर्हा युक्त जो प्रवत
है सा संयमासंयम जो देशत्रत ताहि धौरै है ॥ ८ ॥

कामासूयामायामत्सरपैशून्यदैन्यमदहीनः ।

धीरः प्रसन्नचित्ताः प्रियंवदो वत्सलः कुशलः ॥ ९ ॥

हेयादेयपटिष्ठो गुरुचरणाराधनोद्यतमनीषः ।

जिनवचनतायधौनस्वांतकलंको भवविभीरुः ॥ १० ॥

सम्यक्तरत्नभूषो मन्दीकृतसकलविषयकृतगृद्धिः ।

एकादशगुणवर्ती निगद्यते श्रावकः परमः ॥ ११ ॥

अर्थ—विषयनिकी बांछा अदेखनका भाव मायाचार मत्सरता
चुगलीखाना दीनपना जाल्यादि मद इनकरि गडित होय अर प्रमन्नचित्त
होय अर प्रिय वचन कहनेवाला होय धीर होय प्रीतियुक्त अर प्रवीण
होय ॥ ९ ॥

बहुरि त्यागने योग्य ग्रहण करने योग्य विष पंडित होय अर गुरु
चरणनिके आराधने विषै उद्यमरूप बुद्धियुक्त होय, अर जिनवचनरूप
जल करि धोया है मनका कलंक जानै ऐसा होय, अर संसारतै भय-
भीत होय ॥ १० ॥

बहुरि सम्यक्तरूप रत्नके आभूषण करि सहित होय, अर मन्द
करि है समस्त विषयनि करि लोलुपता जानै ऐसा होय ।

बहुरि एकादश गुण जे ग्यारह प्रतिमा तिन विषै प्रवर्तनेवाला
होय सो परम श्रावक कहिए है ॥ ११ ॥

संभ्रममारंभारंभैर्योगकृतकारितानुमतेः ।

सकषायैरम्यस्तैस्तरसा संपद्यते हिंसां ॥ १२ ॥

त्रित्रिचतुःसंख्यैः संरंभाद्यैः परस्परं गुणितैः ।

अष्टोत्तरशतभेदा हिंसा संपद्यते नियतम् ॥ १३ ॥

अर्थ—संरंभ समारंभ आरंभ अर मन वचन काय अर कृत कारित अनुमोदना अर क्रोध मान माया लोभसहित गुणे भए निकरि वेग करि हिंसा उपजे है ॥ १३ ॥ संरंभादिक तीन अर योग तीन अर कृत कारित अनुमत ये तीन अर कषाय ब्यार इनतैं परस्पर गुणो भएनि करि एकसौ आठ भेदरूप हिंसा निश्चयतैं उपजे है ।

भावार्थ—संरंभ कहिए हिंसा करनेका श्रद्धान विचार अर समारंभ कहिये हिंसाके उपकरण मिलावना अर आरंभ कहिए जीवनिका मारना ये तीनों मन वचन काय करि गुणे भए; तिनको कृत कारित अनुमोदना करि गुणे सत्ताईस भए तिनको क्रोधादि ब्यार कषायनितैं गुणे एकसौ आठ भए । इनसैं एकसै आठ भंगनिकी पलटन कैसैं होय है सो कहिए है । प्रथम संरंभ मन करि करवा क षसहित ऐसा प्रथम भंग भया, बहुरि समारंभ मन करि कन्या क्रोध सहित ऐसा दूसरा भंग भया, बहुरि समारंभ मन करि कन्या क्रोध सहित ऐसा तीसरा भंग भया, ऐसैं प्रथम भेद समाप्त भए योगरूप दूसरा भेद पलटै जैसें मन कहा तहां वचन कहना, बहुरि ताकूं भी पूर्ण होतैं तीसरा भेद पलटै, जैसें कृत कहा था तहां कारित कहना ताकूं भी पूर्ण होतैं चौथा भेद पलटै जैसें क्रोध कहा तहां मान कहना । जैसें भंग पलटनेतैं एकसौ आठ भेद हिंसाकेहोय हैं ऐसा जानना ॥ १३ ॥

जीवत्राणेन विना व्रतानि, कर्माणि नो निरस्यन्ति ।

चन्द्रेण विना नक्षैर्हन्यन्ते, तिमिरजालानि ॥ १४ ॥

अर्थ—जीवनिकी दया विना व्रत हैं ते कर्मनिका नाश नाही करे है जैसें चन्द्रमा विना नक्षत्रनि करि अन्धकारका भगूह नाही बनिए है तैसैं ।

भावार्थ—सब व्रतनमें जीवदया प्रधान है ऐसा जानना ॥ १४ ॥

तिष्ठन्ति व्रतनियमा नाहिंसामंतरेण सुखजनकाः ।

पृथिवी न विना दृष्टास्तिष्ठन्तः पर्वताः कापि ॥ १५ ॥

अर्थ—सुखके उपजावने हार व्रत अर नियम हैं ते दया विना नाहीं तिष्ठे हैं, जैसे पृथ्वी विना तिष्ठते पर्वत कहूं भी न देखे तैसैं ।

भावार्थ—सबव्रत नियमनिका आधार दया है ऐसा जानना ॥ १५ ॥

निघ्नानेनाहिंसामात्माधारां निपात्यते नरके ।

साधारां न हि शाखां, छिदानः किं पतति भूमौ ॥ १६ ॥

अर्थ—आत्माका आधाररूप जो अहिंसा दया ताहि विनासता जो पुरुष ता करि आत्मा नरक विषैं पटकिए है, इहां दृष्टांत कहिए है, अपने आधाररूप जाय बैठ्या ऐसी जो शाखा डाली ताहि छेदता सन्ता पुरुष है सो पृथ्वीविष कहा नाहीं पड़े है ? पड़े ही है ॥ १६ ॥

स मतो विरताविरतः स्वल्पकषायो विवेकपरमनिधिः ।

रक्षति यत्स्रष्टशकं प्राणहितं स्थावरचतुष्कम् ॥ १७ ॥

अर्थ—जो वेइंद्रिय त्रींद्रिय चतुरिंद्रिय पंचेन्द्रियसैनी असैनी इनके पर्याप्त अपर्याप्त भेद करि दश भेद भए, यह जो त्रस दशक ताकी रक्षा करै है, अर एकेन्द्रिय बादर सूक्ष्म ताके पर्याप्त अपर्याप्त भेद करि प्यार भेद ऐसा स्थावर चतुष्क ताका हित बाछे है, अवज्ञातैं तिनकी हिंसा होय है तो भी अनुमोदना नाही करै है, मन्द है कषाय जाके अर विवेकका परमनिधान सो विरताविरत श्रावक कहा है ॥ १७ ॥

सर्वविनाशी जीवसहहननं, त्याग्यते यतो जैनेः ।

स्थायरहनमानुमतिस्ततः, कृता तैः कथं भवति ॥ १८ ॥

अर्थ—यातैं जीव है सो सबका हिंसक है तातैं जैनी

अस्य हिंसाका त्याग करिए है तिन करि स्थावरकी हिंसा विषै अनु-
मोदना कैसे करिए है ।

भावार्थ—कोउ कहै श्रावकके प्रस हिंसाका त्यागके ऐसे उप-
देशमें स्थावर हिंसामें अनुमोदना आई ताकुं कथा है । जीव सर्वहीका
हिंसक है ताके सर्व हिंसा छूटती न जानि प्रस हिंसा छुड़ाई है किछ
स्थावरकी हिंसा करनेका उपदेश नाहीं तातें स्थावर हिंसामें अनु-
मोदना नाहीं ऐसा जानना ॥ १८ ॥

त्रिविधा द्विविधेन मता, विरतिहिंसादितो गृहस्थानां ।

त्रिविधा त्रिविधेन मता, गृहचारकतो निवृत्तानाम् ॥१९॥

अर्थ—गृहस्थनिकै हिंसादिकनितै विरति कहिए त्यागभाव सो
दोय प्रकार सहित तीन प्रकार । बहुरि गृह त्यागीनिकै तीन प्रकार
सहित तीन प्रकार है ।

भावार्थ—करै नाही करावै नाहीं मन वचन काय करि ऐसै
छह प्रकार त्याग है । अनुमोदना सहित नवकोटी त्याग नाहीं जातें
हिंसादिकमें अनुमोदनका प्रसंग बन रहा है, ऐसा गृहस्थनिकै जानना ।
बहुरि जे गृहाचारके त्यागी हैं तिनकै कृत कारित अनुमोदना सहित
मन वचन काय करि नवकोटीका त्याग हैं, ऐसा जानना ॥१९॥

जीववपुषोरमेदो येषामेकांतिको मतः शास्त्रे ।

कायविनाशो तेषां जीवविनाशः कथं वार्यः ॥ २० ॥

अर्थ—जिनके शास्त्रविषै जीवका अर शरीरका एकांतरूप अमेद
कथा है तिनके शरीरके विनाश होत सतें जीवका विनाश कैसे न
भया ॥ २० ॥

आत्मशरीरविमेदं वदन्ति, ये सर्वथा मृतविषेकाः ।

कायममे हन्त कथं तेषां संन्यसते हिंसा ॥ २१ ॥

अर्थ—जो विवेक रहित आत्माका अर शरीरका सर्वथा भेद कहै है तिनके शरीरके वध होत संतें हिंसा कैसें होय यह बड़े आश्चर्यकी बात है ।

इहां भावार्थ ऐसा है—जौ पहिले श्लोकमें तो सर्वथा जीवके अर शरीरकूं अभेद माने हैं तिनके शरीर विनाश होतें अवश्य जीवका नाश आया तब स्वयमेव हिंसा आई, अर जे सर्वथा जीवको अर शरीरको भेद मानै है तिनके शरीरके नाशमें हिंसा न ठहरी तब ते भी स्वच्छन्द हातें हिंसक ही भये । तातें दोऊ ही एकांती है ते हिंसक हैं, ऐसा जानना ॥ २१ ॥

भिन्नाभिन्नस्य पुनः पीडा संपद्यतेतरां घोरा ।

देहवियोगे यस्मात्तस्मादनिवारिता हिंसा ॥ २२ ॥

अर्थ—जातें देहतें कोई प्रकार भिन्न कोई प्रकार अभिन्न ऐसा जो जीव ताके शरीरका वियोग होत संतें अतिशय करि घोर पीडा उपजै हैं तातें अनिवारित हिंसा होय है ।

भावार्थ—लक्षण भेदकरि जीव शरीर भिन्न हैं तथापि बन्ध-दृष्टि करि अभेद है तातें जीवके शरीरके वियोग करनेमें अवश्य हिंसा होय है, ऐसा जानना ॥ २२ ॥

तत्पर्यायविनाशो दुःखोत्पत्तिः परश्च संक्लेशः ।

यः सा हिंसा सद्भिर्वर्जयितव्या प्रयत्नेन ॥ २३ ॥

अर्थ—तिष पर्यायके विनाश होतसन्तें दुःखकी उत्पत्ति होय है अर जो महासंक्लेश होय है सो हिंसा संतनि करि यत्न सहित वर्जन करना योग्य है ॥ २३ ॥

प्राणी प्रमादकलितः, प्राणव्यपरोपणं यदा वृत्ते ।

सा हिंसाऽपि दक्षैर्मेववृत्तानिषेकजलधारा ॥ २४ ॥

अर्थ—जो प्राणी प्रमादकरि व्याप्त भया संता शरीरादि प्राणनिका व्यपरोपणा करै है घात करै है सो पंडितनि करि हिंसा कही है, कैसी है हिंसा संसार वृक्षके सींचनेकों जलधारा समान है ।

भावार्थ—कषाय सहित आपके वा परके प्राणनिका नाश करना सो हिंसाका लक्षण कहा है ॥ २४ ॥

म्रियतां मा मृत जीवः प्रमादबहुलस्य निश्चिता हिंसा ।

प्राणव्यपरोपेऽपि प्रमादहीनस्य सा नास्ति ॥ २५ ॥

अर्थ—जीव मरो चाहै न मरो तीव्र प्रमाद सहित जीवके निश्चय रूप हिंसा है, बहुरि प्राणनिका नाश होतैं भी प्रमाद रहितके सो हिंसा नाहीं है ।

भावार्थ—हिंसाका मूल कारण प्रमाद है ताके होतैं बाह्य प्राण-व्यपरोपण होते वा न होतैं हिंसा अवश्य होय है, अर ता विना अप्रमत्त मुनिराजके अवश्यतैं प्राणव्यपरोपण होतैं भी हिंसा नाहीं कही है ॥ २५ ॥

यो नित्योऽपरिणामी तस्य, न जीवस्य जायते हिंसा ।

न द्वि शक्यते निहतुं, केनापि कदाचनाकाशम् ॥ २६ ॥

अर्थ—जो नित्य परिणाम रहित कूटस्थ है ताके जीवकी हिंसा न होय है, जातैं, कोऊ करि कदाचित् आकाश हनिवेकूँ समर्थ न ऊजिए है ।

भावार्थ—जो सर्वथा नित्य कूटस्थ आत्माकों माने है ताके हिंसाका जानना न होय तब ताका त्याग भी न होय है, तातैं नित्य-प्रनेका एकांत मिथ्या दिखाया है ॥ २६ ॥

क्षणिको यो व्ययमानः क्रियमाणा तस्य निष्फला हिंसा ।

चलमानाः पशुमानो न, चाल्यमानः फलं कुरुते ॥ २७ ॥

अर्थ—जो क्षणिक नाश होता सन्ता जीव है ताकी करी भई, हिंसा निष्फल है । जैसे चालता जो पवन सो चलता सन्ता फलकों न करे हे तैसें ।

भावार्थ—जे जीवकों क्षणिक मानै है तिनके क्षण क्षण आपहीका नाश भया ताकी हिंसा निष्फल भई, जैसे पवन आपही चाले सो चलाया सन्ता फल कहा करे तातैं क्षणिक मानना भी मिथ्य है ॥ २७ ॥

यस्मान्नित्यानित्यः कायवियोगे निर्पीड्यते जीवः ।

तस्माद्युक्ता हिंसा प्रचुरकलिलबन्धवृद्धिकरी ॥ २७ ॥

अर्थ—जातैं कथंचित् नित्य कथंचित् अनित्य स्वरूप जीव है सो शरीरके वियोग होतसन्तैं पीडिए है दुखी होय है, तातैं प्रचुर पापकी बन्ध करनेवाली हिंसायुक्त है ।

भावार्थ—स्याद्वाद करि नित्य वा अनित्य स्वरूप जीव मानै है तिनहीके हिंसाका ज्ञान होय है, तब तिनहीके त्याग होय है, एकातीके हिंसाका जाने विना त्याग नाहीं । ऐसा इहां आशय जानना ॥ २८ ॥

देवातिथिमन्त्रौषधपित्रादिनिमित्ततोऽपि सम्पन्ना ।

हिंसा घत्ते नरके किं पुनरिह नान्यथा विहिता ॥ २९ ॥

अर्थ—देव गुरु मंत्र औषध पितर इत्यादिक्रमिके निमित्ततैं भी प्राप्त भई हिंसा है सो नरकमें धरे है तो इहां फेर और प्रकार करी भई हिंसा नरक विषैं न धरे है ? धरे ही है ॥ २९ ॥

आत्मबधो जीवबधस्तस्य च, रक्षात्मनो भवति रक्षा ।

आत्मा न हि हंतव्यस्तस्य, बधस्तेन भोक्तव्यः ॥ ३० ॥

अर्थ—जीवका बध है सो आत्माका बध है अर जीवकी रक्षा है सो आत्माकी रक्षा है, बहुरि आत्मा हनिबे योग्य नाहीं ता कारणे तिस जीवका बध त्यागिना योग्य है ।

भाषार्थ—जीवनके घात विषै कषाय भाव होय है तिन कषाय भवनि करि स्वभाव घात होतैं आत्माहीका घात भया, अर जीवनिकी रक्षा करनेतैं कषाय घटे तब आयुहीकी रक्षा भई । बहुरि आत्म-घात करना योग्य नाहीं । तातैं हिंसा त्यागना योग्य है ॥ ३० ॥

सर्वाविरतिः कार्या विशेषयित्वातिचारमीतेन ।

पूर्वापर्यै दृष्ट्वा सूत्रार्थं तत्त्वतो बुद्ध्वा ॥ ३१ ॥

अर्थ—अतीचार करि भयभीत पुरुष करि सर्वा विरतिः कहिए सर्वप्रकार त्याग पूर्वापर देख करि भाषित सूत्रके अर्थको निश्चयतैं जान करि सो विशेषता करि करना योग्य है ।

भाषार्थ—त्याग करना सो या प्रकार मेरे त्याग है ऐसे विशेषण-सहित पूर्वापर विचारकै अर सूत्रके अर्थको जान करि, बहुरि मत कदाच प्रतिज्ञा भंग होय ऐसैं मनमें भय रख करि करना । विना विचारे करना योग्य नाहीं ॥ ३१ ॥

शक्त्यनुसारेण बुधैर्विरतिः सर्वापि युज्यते कर्तुं ।

तामन्यथा दधानो भंगं, याति प्रतिज्ञायाः ॥ ३२ ॥

अर्थ—पंडितनि करि शक्ति अनुसार सर्व ही त्याग करना योग्य है, बहुरि ता त्यागको अन्यथा कहिए शक्ति विना ही करता जो पुरुष को प्रतिज्ञाके भंगको प्राप्त होय है ।

भाषार्थ—बत धारणमें शक्ति छिपावनी नाहीं अर शक्ति विनाय भी न करना ऐसा इहां कक्षा है ॥ ३२ ॥

आगैं मिथ्यादृष्टी जीव केई प्रकार हिंसा पापे हैं तिनका निरा-करण करिए है—

केचिद्बुद्धंति मूढा हंतव्याः, जीवघातिनो जीवाः ।

परजीवरक्षणार्थं, धर्मार्थं पापनाशार्थम् ॥ ३३ ॥

अर्थ—केई मूढ मिथ्यादृष्टि कहै हैं कि परजीवनकी रक्षाके अर्थ वा धर्मके अर्थ वा पापके नाशके अर्थ जीवनके मारनेवाले जे हिंसक जीव ते मारने योग्य हैं ॥ ३३ ॥

तिनसँ आचार्य कहै हैं—

युक्तं तन्नैवं सति हिंसत्वात्प्राणिनामशेषाणाम् ।

हिंसायाः कः शक्तो, निषेधने जायमानायाः ॥ ३४ ॥

अर्थ—ऐसा कहना युक्त नाहीं जातै या प्रकार माने संतें हिंसकपनेतें समस्त जीवनिकी उपजी जो हिंसा ताके निषेध करने विषे कौन समर्थ है ।

भावार्थ—हिंसक जीवनिकी हिंसा योग्य होय तौ हिंसकजीव तौ सब ही हैं सब हीकी हिंसा ठहरै तातें हिंसक जीवनिकी भी हिंसा करना योग्य नाहीं ॥ ३४ ॥

आगेँ बानै कहाँ था जो धर्मके अर्थ हिंसा करनी ताका निषेध करै है—

धर्मोऽहिंसाहेतुर्हिंसतो, जायते कथं तथ्यः ।

न हि शालिः शालिभवः, कोद्रवतो दृश्यते जातः ॥ ३५ ॥

अर्थ—धर्म है सो अहिंसा हेतु है अहिंसातें उपजै है सो तैसा सत्यार्थ धर्म हिंसातें कैसे उपजै । इहां वृष्टांत कहै है;—धानतें नपज्या जो चावल सो कोदूतें उपज्या न देखिए है ।

भावार्थ—दया है कारण जाका ऐसा धर्म हिंसातें कदाच न होय है; जातें कारणानुरूप कार्य होय है; तातें धर्मके अर्थ भी हिंसा करना योग्य नाहीं ॥ ३५ ॥

आगेँ पहले बानै कहाँ था जो पापके नाशके अर्थ हिंसकनकी हिंसा करनी ताका निषेध करै है;—

पापनिमित्तं हि बधः पापस्य विनाशने न भवति शक्तः ।

छेदनिमित्तं परशुः शक्नोति लतां न वर्द्धयितुम् ॥ ३६ ॥

अर्थ—पापका कारण जो जीवनिका घात सो पापके विनाशने विषै समर्थ न होय है । जैसे छेदनेका कारण फरसा सो लताके बढाव-नेको समर्थ न होय तैसेँ ॥ ३६ ॥

आगैँ हिंसक जीवनिकी हिंसा धर्मके अर्थ मानै ताका निषेध करै है; —

हिंसाणां यदि घाते धर्मः, संभवति विपुलफलदायी ।

सुखविघ्नस्तर्हि गतः, परजीवविघातिनां घाते ॥ ३७ ॥

अर्थ—जो हिंसक जीवनिके घात विषै बडा फलका देनेवाला धर्म संभवै है तो पर जीवनिकी हिंसा करनेवालेनिके घातमें सुख विषै विघ्न आया ।

भावार्थ—हिंसक जीवनकी हिंसा करनेवालेनैँ उनके सुखमें विघ्न करया सेई हिंसा भई, धर्म काहेका; ऐसा जानना ॥ ३७ ॥

यस्माद्द्रष्टंति गतिं निहता, गुरुदुःखसंकटां हिंसाः ।

तस्मद्दुःखं ददतः पापं, न भवति कथं घोरम् ॥ ३८ ॥

अर्थ—जातैँ हिंसक हैं ते मारे भए महादुःखका है संकट जा विषै ऐसी गतिवौँ जाय है तातैँ दुःख देनेवालेके, घोर पाप कैसैँ न भया ॥ ३८ ॥

आगैँ दुःखी जीवनिकी हिंसाका निषेध करै है:—

दुःखवतां भवति बधे धर्मो नेदमपि युज्यते वक्तुम् ।

मरणे नरके दुःखं घोरतरं वार्यते केन ॥ ३९ ॥

अर्थ—दुःखी जीवनिके घात विषै धर्म होय है ऐसा भी कहना योग्य नाहीं, जातैँ तरण होतसतैँ नरक विषै अत्यंत घोर दुःख कौन

करि निवारिण है । भावार्थ—कोई कहे कि दुःखी जीवनिकी हिंसामें धर्म होय है जातैं वो वाका दुःख दूर भया ताकूं कहा है—वह जीव मरके नरक गया तहां महा दुःख कैसे निवारैगा तातैं अधिक दुःख देनेतैं पाप ही है धर्म नाहीं ॥ ३९ ॥

सुखितानामपि घाते पापप्रतिषेधने परो धर्मः ।

जीवस्य जायमाने निषेधितुं शक्यते केन ॥ ४० ॥

अर्थ—कोऊ कहे कि, सुखी जीवनके घात विषैं भी विषय सुखरूप पापका निषेध होतैं बड़ा धर्म है, ताकूं कहा है—ऐसा नाहीं, जातैं जीवनिके उपजते संतैं पाप निषेधनेको कौन करि समर्थ हूजिए है ।

भावार्थ—वह जीव अन्यत्र उपजैगा तहां पाप करैगा तातैं उल्टा सिवाय पाप करावनेमें धर्म नाहीं, पाप ही है ॥ ४० ॥

पौर्वापर्यविद्धं सम्यक्तमहीध्रपाटने वज्रम् ।

इत्थं विचार्ये सद्भिः परवचनं सर्वथा हेयम् ॥ ४१ ॥

अर्थ—पंडितनि करि या प्रकार विचारकै पूर्वापर विरुद्ध अर सम्यक्त पर्वतके तोडनेको वज्र समाज जो मिथ्या दृष्टीनिका वचन सो सर्वथा त्यागना योग्य है ॥ ४१ ॥

अज्ञानतो यदेनो जीवानां जायते परमघोरम् ।

तच्छक्यते निहंतुं ज्ञानव्यतिरेकतः केन ॥ ४२ ॥

अर्थ—जो जीवनिके अज्ञानतैं महा घोर पाप उपजै है सो पाप ज्ञान त्रिन। कौन करि हनिवेकूं समर्थ हूजिए है ।

भावार्थ—अज्ञानजनित पाप ज्ञानहीतैं मिटै औरनितैं न मिटै है, ऐसा जानना ॥ ४२ ॥

जो धर्मार्थे छिते हिंसाहिंसासुखदुःखिनो भविनः ।

पीयूषं स्वीकृतुं वा हंति, विषविटपिबो नूनम् ॥ ४३ ॥

अर्थ—जो जीव धर्मके अर्थ हिंसक वा अहिंसक सुखी वा दुखी जीवनिकों मारे है सो निश्चय करि अमृतके अंगीकार करनेकों विष-बृक्षानिकों हनै है, ताडे है; तहां अमृत काहेका ॥ ४३ ॥

मनसा वचसा वपुषा हिंसां, विदधाति यो जनो मूढः ।

जन्मवनेऽसौदीर्घे दीर्घे, चंचूर्यते दुःखी ॥ ४४ ॥

अर्थ—जो मूढ जन मन करि वचन करि कायकरि हिंसा करै है तो यह दुःखी भया सन्ता दीर्घ संसार वन विषे बहुत काल ताई-अतिशय करि चूर्ण कीजिए है ॥ ४४ ॥

इहां ताई अहिंसा अणुव्रतका वर्णन किया । आगै सब अणुव्रतका वर्णन करै है—

यन्म्लेच्छेऽपि गर्हा, यदनादेयं जिघृक्षता धर्मम् ।

यदनिष्टं साधुजनैस्तद्वचनं नोच्यते सद्भिः ॥ ४५ ॥

अर्थ—जो वचन म्लेच्छनि विषे भी निदनीक अर धर्मकों प्रहण करनेके वाञ्छक जे पुरुष तिनके अनादरने योग्य अर साधुजननि करि इष्ट नाहीं ऐसा जो असत्य वचन सो संतजननि करि नाहीं बोलिए है ॥ ४५ ॥

कामक्रोधक्रीडाप्रमादमदलोभमोहद्वेषैः ।

वचनमसत्यं सन्तो, निगदन्ति न धर्मरतचित्ताः ॥ ४६ ॥

अर्थ—धर्मविषे रत हैं चित्त जिनके ऐसे संतजन हैं ते काम क्रोध क्रीडा प्रमाद लोभ मोह द्वेष इन भावनि करि असत्य वचनकों न बोलै हैं ॥ ४६ ॥

सत्यमपि विभोक्तव्यं, पत्नीदारभतापभयजनकम् ।

पापं विभोक्तुकामैः, सुजनैरिव पापिना वृत्तम् ॥ ४७ ॥

अर्थ—पापं छोड़नेकी है वाञ्छा जिनके ऐसे पुरुषनि करि पर-

जीवनके पीड़ा आरम्भ सन्ताप भय इनका उपजावनेवाले असत्य वचन भी त्यागना योग्य है ॥ ४७ ॥

भाषंते नासत्यं चतुः, प्रकारमपि संसृतिविभीतः ।

विश्वासधर्मदहनं, विषादजननं बुधावमतम् ॥ ४८ ॥

अर्थ—संसारतें भयभीत पुरुष हैं ते असदुद्भावन, भूतनिह्वन, विपरीत निघ ऐसे चारू ही प्रकार असत्यकों न बालै है, कैषा असत्य वचन विश्वास प्रतीति रूप धर्मकों जलावनेवाला अर विषाद उपजाने-वाला अर पंडितनि करि करी है अवज्ञा जाकी ऐसा है ॥ ४८ ॥

प्रथम असदुद्भावन असत्यकों कहै है—

असदुद्भावनमाद्यं वचनमसत्यं निगद्यते सद्भिः ।

एकांतिकाः समस्त भावा, जगतीति तत् ज्ञेयम् ॥ ४९ ॥

अर्थ—जगत विषैं सकल पदार्थ हैं ते एकांतस्वरूप हैं ऐसैं असत् कहिये अविद्यमानका उद्भावन कहिये प्रकट करना सो, संतन करि प्रथम असत्य वचन जानना योग्य है ॥ ४९ ॥

आगैं भूतिनिह्वनों कहै है—

सदलपनं द्वितीयं चिन्तयं, कथयति तथ्यविज्ञानाः ।

सृष्टिस्थितिलययुक्त, किञ्चिन्नास्तीति तदभिहितम् ॥ ५० ॥

अर्थ—उत्पाद स्थिति नाश सहित किछु भी नाहीं है ऐसा कहना सो सदलपन कहिए भूतनिह्वन विद्यमान वस्तुका अभाव कहना ताहि सांचा है ज्ञान तिनका ऐसे पंडित हैं ते दूसरा असत्य कहैं है ॥ ५० ॥

आगैं विपरीत असत्यकों कहैं हैं—

विपरीतमिदं ज्ञेयं तृतीयकं, यद्वदंति विपरीतम् ।

सम्प्रभं निर्ग्रन्थं निर्ग्रन्थमपीह सम्प्रन्थम् ॥ ५१ ॥

अर्थ—परिग्रह सहित हैं सो तो निर्ग्रह है, अर परिग्रह रहित हैं सो भी इहां संग्रह हैं ऐसा जो विपरीत उलटा बोल है सो यह. तीसरा असत्य विपरीत जानना ॥ ५१ ॥

आगैं निध नामा असत्यकों कहैं हैं—

सावद्याप्रियगह्यप्रभेदतो, निधमुच्यते त्रेधा ।

वचनं वितथं दक्षैर्जन्माब्धिनिपातने कुशलम् ॥ ५२ ॥

अर्थ—पडितनि करि सावद्य अर अप्रिय अर गर्हा इन भेदनि करि निध वचन तीन प्रकार कहिए है, कैसा है यह असत्य वचन संसारसमुद विषैं पटकनेमें प्रवीण है ॥ ५२ ॥

आगैं निध वचनके तीन भेदनिमें प्रथम सावद्य वचनकों कहैं हैं—

आरम्भाः सावद्या विचित्रभेदा यतः प्रवर्तन्ते ।

सावद्यमिदं ज्ञेयं वचनं, सावद्यवित्रस्तैः ॥ ५३ ॥

अर्थ—जातैं नाना प्रकार हैं भेद जिनके ऐसे पाप सहित आरम्भ प्रवर्तैं है सो यह सावद्य वचन है सो सावद्यतैं भयभीत पुरुषनि करि जानना योग्य है ॥ ५३ ॥

आगैं अप्रिय वचनकों कहैं हैं—

कर्कशनिष्ठुरभेदनविरोधनादिबहुभेदसंयुक्तम् ।

अप्रियवचनं प्रोक्तं, प्रियवाक्यप्रबणवाणीकैः ॥ ५४ ॥

अर्थ—प्रिय बोलनेमें चतुर हैं वाणी जिनकी ऐसे पुरुषनि करि कर्कश कहिए कठोर वचन, बहुरि निष्ठुर वचन, बहुरि औरनमें भेद करि देय ऐसा वचन, बहुरि परस्पर विरोध उपजाय देय ऐसा वचन इत्यादि अनेक भेदन करि संयुक्त अप्रिय वचन कहा है ॥ ५४ ॥

आगैं गर्हा वचनकों कहैं हैं—

विघ्नताडनभीषणधर्मत्वहरणपुरःसरविशेषम् ।

गर्हावचो भवन्ते मह्यैर्गिह्यतवचनमार्गिहाः ॥ ५५ ॥

अर्थ—हिंसारूप ताडनारूप भयानक सर्वद्रव्य हरण स्वरूप इत्यादिक हैं मेद जाके ऐसा जो निष वचन ताहि निबपना करि रहित वचनके मार्ग जाननेवाले हैं ते गर्हा वचन कहैं हैं ॥ ५५ ॥

अर्थ पथ्यं तथ्यं श्रव्यं, मधुरं हितं वचो वाच्यम् ।

विपरीतं मोक्तव्यं जिनवचनविचारकैर्नित्यम् ॥ ५६ ॥

अर्थ—जिनेन्द्रके वचनके विचार करनेवाले पुरुष हैं तिन करि नित्य ही प्रयोजनरूप सुखकारी जैसाका तैसा सुनने योग्य मधुर हितरूप ऐसा वचन कहना योग्य है, अर इनतैं विपरीत उलटा वचन है सो त्यागने योग्य है ॥ ५६ ॥

वैरायासाप्रत्ययविषादकोपादयो महादोषाः ।

जन्यंतेऽनृतवचसा, कुभोजनेनैव रोगगणाः ॥ ५७ ॥

अर्थ—जैसैं खोटे भोजन करि निश्चयतैं रोग उपजै है तैसैं असत्य वचन करि वैरभाव भ्रम अप्रतीति विषाद क्रोध इत्यादि महादोष हैं ते उपजै हैं ॥ ५७ ॥

वचसाबृतेन जन्तोर्वृतानि, सर्वाणि श्रुतिं नाशयंते ।

विपुलफलवंति महत्ता, दवानलेनेव विपिनानि ॥ ५८ ॥

अर्थ—जैसैं महान् दावानल करि बड़े फलनि करि सहित जे बन हैं ते नाश कीजिए हैं तैसैं असत्य वचन करि जीवके सर्व व्रत हैं ते शीघ्र नाश कीजिए है ॥ ५८ ॥

इहां ताई असत्य त्याग अणुव्रतका वर्णन किया । आगैं अचौर्य व्रतका वर्णन करै हैं—

क्षेत्रे प्रामेऽरण्ये रथ्यायां, पथि गुह्ये खले घोषे ।

प्रासां न प्रदध्यं नष्टं, भ्रष्टं स्थितं वाऽपि ॥ ५९ ॥

अर्थ—खेत जिनें प्राय जिनें खेत जिनें खाली जिनें अर विषे घुरे

विषे गायनके समूह विषे दूषरेका द्रव्य पड़ा होय वा भूला होय वा धरया होय सो भी ग्रहण करना योग्य नहीं ॥ ५९ ॥

तृणमात्रमपि द्रव्यं, परकीयं धर्मकाक्षिणा पुंसा ।

अवितीर्णं नाऽऽदेयं, बहिसमं मन्यमानेन ॥ ६० ॥

अर्थ—धर्मका बाँछक जो पुरुष ता करि विना दिया पराया द्रव्य अग्नि समान मान ता करि तृणमात्र भी ग्रहण करना योग्य नहीं ॥ ६० ॥

यो यस्य हरति वित्तं, स तस्य जीवस्य जीवितं हरति ।

आश्वासकरं बाह्यं, जीवानां जीवितं वित्तम् ॥ ६१ ॥

अर्थ—जो जाका धन हरै सो ताका प्राण हरै है जाते जीवनके स्थिरता बधावनेवाला धन है सो बाह्य प्राण है ॥ ६१ ॥

सदृशं पश्यति बुधाः, परकीयं काचने तृणं वाऽपि ।

संतुष्टा निजवित्तैः परतापविभीखो नित्यम् ॥ ६२ ॥

अर्थ—पंडित हैं ते पराये सुवर्णकों वा तृणकों समान देखे है, कैसे है ते अपने धननि करि संतुष्ट अर परकों सन्ताप उपजावनेमें भयभीत हैं ॥ ६२ ॥

तैलिकलुब्धकखटिकमार्जारग्याघ्रधीवरादिभ्यः ।

स्तेनः कथितः पापी, संततपरतापदानरतः ॥ ६३ ॥

अर्थ—तेली बहेलिया खटीक विलाव वाघ हीमर इन तें चोर है सो अधिक पापी कहा है, चौर निरन्तर परजीवनकों दुःख देनेमें तत्पर है ॥ ६३ ॥

ऐसे अचौर्य अणुव्रतका वर्णन किया । आगे परदाराल्याग अणुव्रतकों कहे हैं—

स्वसुमातृदुहितृसदृशीः दृष्ट्वा, परकामिनीः पटीयांघः ।

दूरं विवर्जयन्ते भुजगीमिव, धोरदृष्टिविषाम् ॥ ६४ ॥

अर्थ—पंडित हैं ते परकी स्त्रीको बहिनसमान अर बड़ीकी माता समान अर छोटीकी बेटी समान देख करि भयानक दृष्टि विषे 'सर्वण'की ज्यों दूर त्यागे हैं ॥ ६४ ॥

न निषेध्या परनारी, मदनानलतापितैरपि त्रेधा ।

क्षुक्षामैरपि पुरुवैर्न, भक्षणियं परोत्सृष्टम् ॥ ६५ ॥

अर्थ—काम अग्नि करि तप्तायमान जीवनि करि भी मन वचन काय करि परस्त्री सेवना योग्य नाहीं, जैसे क्षुधा करि दुर्बल चतुर पुरुषनि करि भी पराई औठ खाना योग्य नाहीं तैसे ॥ ६५ ॥

विषवलोमिष हित्वा, परगमां सर्वथा त्रिधा दूरम् ।

सन्तोषः कर्त्तव्यः स्वकलत्रेणैव बुद्धिमता ॥ ६६ ॥

अर्थ—परस्त्रीको विषवेलकी ज्यों सर्वथा मन वचनकाय करि दूर त्यागके बुद्धिमान पुरुष करि अपनी स्त्री करि ही सन्तोष करना योग्य है ॥ ६६ ॥

नाशक्या सेवते भार्या, स्वमपि मनोभवाकुलिताः ।

बन्दिशिखाप्याशक्या, शीतार्तैः सेविता दहति ॥ ६७ ॥

अर्थ—कामकरि व्याकुल भए संतै आशक्ति जो गृह्य ता करि अपनी भार्याको भी न सेवे है जैसे शीतकरि पीडित पुरुषनि करि भी आशक्ति कर सेई भई अग्निकी शिखा है सो कहा न दहै है? दहै ही है ॥ ६७ ॥

दृष्टा स्पृष्टा श्लिष्टा दृष्टिविद्या, याऽद्विमूर्त्तिरिव हंति ।

तां पररामां भव्यो मनघापि, न सेवते जातु ॥ ६८ ॥

अर्थ—ज्यों परस्त्री देखी वा स्पर्शा वा आलिंगी करती दृष्टिविषे 'सर्वण'की मूर्तिकी ज्यों हने है तिष परस्त्रीको भव्यजीव है सो मन करि भी कदाच न सेवे है ॥ ६८ ॥

दीप्ताकारा तप्ता स्पृष्टा, दहति पावकशिखेव ।

मारयति योपमुक्ता, प्ररूढविषविटपिशाखेव ॥ ६९ ॥

अर्थ—जो परखी दीप्त है आकार जाका अर तप्तायमान सो स्पर्शा भई अग्निकी शिखाकी उ्यों दहै है, अर जो भोगी मई कैल रह्यी विषवृक्षकी शाखाकी ज्यों मारे है ॥ ६९ ॥

मोहयति झटिति चित्तं, निषेव्यमाना सुरेव या नितरा ।

या गलमालिंगंती, निपीडयति गंडमालेव ॥ ७० ॥

अर्थ—जो परखी सेई भई मदिराकी ज्यों अतिशय करि जल्दी चित्तकों मोहे है । बहुरि जो गलेकों आलिंगन करती लिपटी गंडमाला नाम रोगकी उ्यों पीड़ा उपजावै है ॥ ७० ॥

व्याघ्रीव याऽऽमिषाशा, विलोक्यरभसा जंनं विनाशयति ।

पुरुषार्थपरैः सद्भिः परयोषा, सा त्रिधा त्याज्या ॥ ७१ ॥

अर्थ—जो परखी मांसभखनी व्याघ्रीकी ज्यों पुरुषकों देख करि जबर्दस्ती विनाश करै है सो परखी पुरुषार्थमें तत्पर जे सन्त पुरुष तिन करि मन वचन कायतैं त्यागनी योग्य है ॥ ७१ ॥

मलिनयति कुलद्वितथं दीपशिखेवोऽञ्जलापि मलजननी ।

पापोपयुज्यमाना परवनिता तापने निपुणा ॥ ७२ ॥

अर्थ—जो परखी दीपकी लोयसमान उज्ज्वल मी मैलकी उपजावनेवाली है, वह कज्जल उपजावै है यह रागद्वेष उपजावै है बहुरि पापिनी उपज्यमाना कहिए संयोगकों प्राप्त करी संताप करने विधैं प्रवीण है ॥ ७२ ॥

ऐसे परखी त्याग अणुव्रतका वर्णन किया । आगे परिग्रहप्रमाण नामा अणुव्रतकों कहै है—

वास्तु क्षेत्रं धनं धान्यं दासीदासं चतुष्पदं भांडं ।

परिमयं कर्त्तव्यं सर्वं संतोषकुशलेन ॥ ७३ ॥

अर्थ—संतोषविषै प्रवीण जो पुरुष ताकरि वास्तु कहिए हाट ह्वेली क्षेत्र कहिए खेतीका क्षेत्र धन कहिए सुवर्ण रूपादिक धान्य कहिए चावल गेहूं आदिक बहुरि दासी दास आदि द्विपद अर चतुस्रपद कहिये घौड़ा गौ इत्यादिक भांड कहिए बासन वखादिक इन सबका परिमाण करना योग्य है ।

भावार्थ—जीवकै तीन लोकके पदार्थनकी तृष्णा है सो सब छूटती न जानि तृष्णा घटनेको पदार्थनिका परिमाण कराया है ॥ ७३ ॥

विधयापयति महात्मा लोभं, दात्राग्निषन्निभं ज्वलितम् ।

भुवनं तापयमानं सन्तोषोद्गाढवलिलेन ॥ ७४ ॥

अर्थ—महापुरुष है सो दावानल समान चलता जो लोभ ताहि सन्तोष रूप महाजल करि बुझावै है कैसा है लोभ जैसे अग्नि लोकको सन्ताप उपजावै है ऐसा है ॥ ७४ ॥

सर्वारंभालोके सम्पद्यते, परिग्रहनिमित्ताः ।

स्वल्पयते यः संगं स्वल्पयति सः सर्वमारंभम् ॥ ७५ ॥

अर्थ—लोकविषै सर्व हिंसादिक आरंभ है ते परिग्रहके निमित्त होय है अथवा परिग्रहते होय है इस कारणते जो परिग्रहको घटावै है सो सर्व आरंभको घटावै है ॥ ७५ ॥

ऐसै परिग्रह परिमाण अणुव्रतका वर्णन किया । आगे दिग्वरति नाम गुणव्रतको कहै हैं—

ककुवष्टकेऽपि कृत्वा मर्यादां, यो न लंघयति धनवः ।

दिग्वरतिस्तस्य जिनैर्गुणव्रतं, कथ्यते प्रथमम् ॥ ७६ ॥

अर्थ—जो धन्य पुरुष दिशानके अष्टक विषै मर्यादाको करिकै

नाहीं उलंघै है ताकै जिनदेवनि करि दिग्विरतिनामा गुणव्रत कहिए है । पूर्वादि आठौं दिशा तथा उपलक्षणतैं नीचे ऊपर ऐसैं दशौं दिशानके प्रसिद्ध नदी पर्वतादिकनतैं जो मर्यादा कर ताके इचतैं परे में गमनादि नाहीं करूँगा सो प्रथम दिग्विरतिनामा गुणव्रत जानना ॥ ७६ ॥

सर्वारम्भनिवृत्तेस्ततः, परं तस्य जायते पूतम् ।

पापापायपटीयः, सुखकारि महाव्रतं पूर्णम् ॥ ७७ ॥

अर्थ—तिष दिग्विरतिधारी पुरुषकै तिस मर्यादतैं परैं सर्व आरम्भकी निवृत्ति कहिए त्याग तातैं सुखकारी अर पापके नाश करनेमें प्रवीण ऐबा पूर्ण महाव्रत होय है ॥ ७७ ॥

आगैं देशविरनिकों कहै हैं—

देशावधिमपि कृत्वा यो, नाक्रामति सदा पुनस्त्रेधा ।

देशविरतिद्वितीयं, गुणव्रतं तस्य जायेत ॥ ७८ ॥

अर्थ—बहुदि देशकी मर्यादाकौ भी करकै जो फेर मन वचन काय करि नाहीं उलंघै है ताकै देशविरतिनामा दूसरा गुणव्रत होय है ।

भावार्थ—तिस करि भई दिशानिकी मर्यादा विषैं भी ग्राम दुकान घर बगीचा गली इत्यादिक निकाळके नियमरूप मर्यादा करनी सो देशव्रत जानना ॥ ७८ ॥

काष्ठेनैव हुनाशं लाभेन, विवर्द्धमानमतिमात्रम् ।

प्रति दिवसं या लोभं, निषेधयति तस्य कः सदशः ॥ ७९ ॥

अर्थ—जैसैं काष्ठकरि अग्नि सिवाय बढ़ता होय तैसैं पदार्थनके लाभ करि तृष्ण बढ़ती होय है । बहुदि जो प्रतिदिन लोभकौ त्यागै है ताके समान और कहा है ॥ ७९ ॥

आगैं अनर्थदण्ड विरतिनामा गुणव्रतकौ कहै हैं—

योऽनर्थं पंचविधं परिहरति, विवृद्धशुद्धधर्ममतिः ।

सोऽनर्थदण्डविरतिं गुणव्रतं, नयति परिपूर्तिम् ॥ ८० ॥

अर्थ—विशेषपनें बढ़ती है शुद्ध धर्म विषैं बुद्धि जाकी ऐसा जो पुरुष पांच प्रकार अनर्थकों त्यागै है सो अनर्थदण्ड विरति नाम गुण-व्रतकों पूर्णताकों प्राप्त करै है ॥ ८० ॥

आगैं पांच अनर्थ पापके नाम कहै हैं—

पंचानर्था दुष्टाध्यानं, पापोपदेशनाशक्तिः ।

हिंसोपकारि दानं, प्रमादचरणं श्रुतिर्दुष्टा ॥ ८१ ॥

अर्थ—दुष्ट ध्यान कहिए शिकार तथा काहूकी जीत काहूकी हार तथा संग्राम तथा परस्त्रीगमन तथा चोरी इत्यादिकका चिन्तवन करना । बहुरि चित्रामादिक विद्या अर व्यापार लिखना, खेती करना, चाकरी करना इत्यादि हिंसादिक आरम्भके उपदेश विषैं आशक्तिता सो पापोपदेशनाशक्ति कहिए छुरी विष अग्नि तरवार धनुष इत्यादि हिंसाके उपकरण देना सो हिंसोपकरणदान कहिए । बहुरि पृथ्वी खोदना, वृक्ष मोडना, घास काटना, जल सींचना इत्यादि प्रमाद चरण कहिए । रागादि बढ़ाबनेवाली खेटी कथा सुननी इत्यादि दुष्ट श्रुति कहिए । ऐसैं पांच अनर्थ पापका त्यागकरना सो अनर्थदण्ड विरति जानना ॥ ८१ ॥

बहुरि ताहीके विशेष कहै हैं—

मंडलविडालकुक्कुटमयूरशुकसारिकादयो जीवाः ।

हितकामैर्न प्राह्याः, सर्वे पापोपकारपराः ॥ ८२ ॥

अर्थ—हितके वांछक जे पुरुष तिनकरि कुत्ता, बिलार्थ, मुर्गा और सुवा सारी इत्यादिक सर्व पापके करावने किंसें तत्पर जीव है ग्रहण करना नाहीं ॥ ८२ ॥

लोहं लाक्षा नीली कुसुम्भ, मदनं विषं शणः शस्त्रम् ।

संधानक च पुष्पं, सर्वं करुणापरैर्ह्येयम् ॥ ८३ ॥

अर्थ—दयामें तत्पर जे पुरुष तिनकरि लोहे लाख नील कुसुम्भ विष स्रण शस्त्र संधारना पुष्प सर्व त्यागना योग्य है ॥ ८३ ॥

नीली सूरणकन्दो दिवसहितयोषिते च दधिमयिते ।

विद्धं पुष्पितमन्नं कालिंगं, द्रोणपुष्पिका त्याज्या ॥ ८४ ॥

अर्थ—नील अर सूरण अर कन्द अर दोय दिनके वासे दही अर छाल बहुरि वीधा अर फूलसहित टपकी लया अन्न अर कलीदा अर राई ये त्यागना योग्य है ॥ ८४ ॥

जैसे अनर्थदण्ड विरतिका वर्णन किया । और आगैं सामायिक वतकों कहै हैं—

आहारो निःशेषो, निजस्थभावादन्यभावमुपयातः ।

योऽनंतकायिकोऽसौ, परिहर्त्तव्यो दयालीदैः ॥ ८५ ॥

अर्थ—जो समस्त आहार अपने स्वभावतैं अन्य भावको प्राप्त भया चलितरस भया, बहुरि जो अनन्तकाय सहित है सो बहु दया-सहित पुष्पनिकरि त्यागना योग्य है ॥ ८५ ॥

त्यक्तार्त्तरौद्रयोगो भक्त्या, विदधाति निर्मलध्यानः ।

सामायिकं महात्मा सामायिक संयतो जीवः ॥ ८६ ॥

अर्थ—त्यागे हैं आर्त्त रौद्र ध्यान जानें अर निर्मल है ध्यान जाकै ऐसा महात्मा रागद्वेषके त्याग तैं भले प्रकार यत्नसहित जीवै है सो सामायिककों धरै है ।

भावार्थ—रागद्वेषके त्यागतैं आत्मविषै “सं” कहिए एकरूप होय करि “अयनं” कहिए परिणाम सो समय है; अर समयका जो भाव सामायिक कहिए सो ऐसे सामायिकके काल समस्त सावध

योगके त्याग तें श्रावककों भी उपचारतैं महाव्रती वद्या है इतना यह विशेष जाबना ॥ ८६ ॥

कालत्रितये त्रेधा कर्तव्या देववन्दना सद्भिः ।

त्यक्ता सर्वाभ्यं भवमरणविभीतचेतस्कैः ॥ ८७ ॥

अर्थ—जन्ममरणतैं भयभीत हैं चित्त जिनके ऐसे सपरुनि करि प्रभात अर मध्याह्न अर अपराह्न इन तीनों काल विषैं मन बचन काय करि अरहन्तादि देवनिकी वन्दना करनी योग्य है ॥ ८७ ॥

आगैं प्रोषधोपवाचकों कहै हैं—

सदनारम्भनिवृत्तैराहारचतुष्टयं सदा हित्वा ।

पर्वचतुष्के स्थेयं संयमयमसाधनोद्युक्तैः ॥ ८८ ॥

अर्थ—गृहके आरम्भतैं रहित अर यावज्जीव त्यागरूप संयम अर योड़े काल त्यागरूप यम इन विषैं उद्यमी पुरुषनि करि पर्व चतुष्क कहिए एक मास में दोय अष्टमी दोय चतुर्दशी इन विषैं आहार चतुष्टय कहिए खाद्य स्वाद्य अन्न (लेह्य) पेय इनकों त्यागकरि सदा तिष्ठना योग्य है ।

भावार्थ—गृहारम्भ त्यागकैं अर आहार त्यागकैं संयम रूप पर्वत विषैं सदा तिष्ठना सो प्रोषधोपवाच वत जानना ॥ ८८ ॥

तांबूलगन्धमाल्यास्नानाम्येगादिसर्वसंस्कारम् ।

ब्रह्मव्रतगतचित्तैः, स्थातव्यमुपोषितैस्त्यक्ता ॥ ८९ ॥

अर्थ—तांबूल माला स्नान उषटना इत्यादि सर्व संस्कारकों त्याग करि ब्रह्मचर्य विषैं प्राप्त हुवा है चित्त जिनका ऐसे पोसबूझहित पुरुषनि करि तिष्ठना योग्य है ॥ ८९ ॥

उपवासानुपवासैकस्थानेष्वैकमपि विधत्ते यः ।

शक्यनुसारपरोऽसौ, प्रोषधकारी जिनैरुक्तः ॥ ९० ॥

अर्थ—उपवास अर अनुपवास अर एकस्थान विषै एकको भी जो शक्ति अनुसार धारै है सो यहू पोषह करनेवाला जिनदेवनि करि कहा है ॥ ९० ॥

उपवासं जिननाथा, निगदंति चतुर्विंशशतं त्यागम् ।

षजलमनुपवासममी, एकस्थानं सुकृद्भुक्तिम् ॥ ९१ ॥

अर्थ—व्यार प्रकार आहारका जो त्याग ताहि ये जिननाथ उपवास कहै हैं अर जलसहितको अनुपवास कहै हैं अर एकवार भोजनको एकस्थान कहै हैं ।

भावार्थ—इहां जलमात्र लेय ताको अनुपवास कहा सो उपवासका अभाव रूप अर्थ न लेना किंचित् उपवास है ऐसा अर्थ प्रहण करना ॥ ९१ ॥

आगै भोगोपभोगपरिणाम व्रतको कहै है:—

भोगोपभोगसंख्या विधीयते, येन शक्तितो भक्त्या ।

भोगोपभोगसंख्या शिक्षाव्रतमुच्यते सद्भिः ॥ ९२ ॥

अर्थ—जा करि शक्तिसारू भोग अर उपभोगकी संख्या करिए है सो भोगोपभोग संख्या नामा शिक्षा व्रत सन्तन करि कहिए है ॥ ९२ ॥

आगै भोगोपभोगका स्वरूप कहै है:—

तांबूलगंधलेपनमज्जनभोजनपुरोगमो भोगः ।

उपभोगो भूषा स्त्रीशयनासनवस्त्रावाहायाः ॥ ९३ ॥

अर्थ—तांबूल सुगन्धलेपन स्नान भोजन इत्यादिक तो भोग है अर भूषण स्त्री शयन आसन वस्त्र वाहन इत्यादिक उपभोग है । एकवार भोजनमें आवै सो भोग अर वार वार भोगनेमें आवै सो उपभोग ऐवै जानना ॥ ९३ ॥

आगें अतिथि संविभाग व्रतकों हैं:—

परिकल्प संविभागं, स्वनिमित्तकृताशनौषधादीनाम् ।

भोक्तव्यं वागारैरतिथिव्रतपालिभिर्नित्यम् ॥ ९४ ॥

अर्थ—अतिथि व्रतके पालनेवाले श्रावकनि करि अपने अर्थ करे जे भोजन औषधादिक तिनका भलेप्रकार विभाग करिके पात्रकों देके भोजन करना योग्य है ॥ ९४ ॥

अतति स्वयमेव गृहं, संयममविराधयन्नानूतः ।

यःसोऽतिथिरुद्दिष्टः, शब्दार्थविचक्षणैः पुरुषैः ॥ ९५ ॥

अर्थ—शब्दार्थ विषे विचक्षण जे पुरुष तिन करि सो साधु अतिथि कहा है, सो कौन ? जो संयमकों नाही विराधता सन्ता विना बुलाया स्वयमेव गृहिप्रति अतति कहिए गमन करै है, आवै है ॥ ९५ ॥

अशनं पेयं स्वाद्यं स्वाद्यमिति, निगद्यते चतुर्भेदम् ।

अशनमतिथेर्विधेयो, निजशक्त्या संविभागोऽस्य ॥ ९६ ॥

अर्थ—अशन पेय स्वाद्य स्वाद्य ऐसे चार प्रकार आहार कहिए ताका विभाग कहिए बांटा अपनी शक्ति सारू इस अतिथि पात्रकूं करणा योग्य है ।

भावार्थ—अपने अर्थ किया आहार तामेंसे पात्रके अर्थ शक्ति-साफिक देना योग्य है ॥ ९६ ॥

मुद्गैदनाद्यमशनं क्षीरजलाद्य जिनैः पेयम् ।

तांबूलदाडिमाद्यं स्वाद्यं, स्वाद्यं च पूषाद्यम् ॥ ९७ ॥

अर्थ—मूग भात इत्यादि अशन कहिए अर दूध जल आदि-ककों जिनदेवने पेय कहा है अर तांबूल दाडिमादिकों स्वाद्य कहा है अर पूषा आदिकों स्वाद्य कहा है ऐसा जानना ॥ ९७ ॥

आगँ छल्लेखनाका वर्णन करै हैं—

ज्ञात्वा मरणागमनं, तत्त्वमतिर्दुर्निवारमति गहनम् ।

पृष्ठा बांधव वर्ग, करोति छल्लेखना धीरः ॥ ९८ ॥

अर्थ—दुर्निवार अर अतिगहन कहिए भयानक ऐसा जो मरनका आगमन ताहि जानि करि निश्चयरूप है मति जाकी ऐसा धीर पुरुष है सो बांधवनके समूहकों पूछ के मोह छुडायकँ आगम प्रमाण छल्लेखनाविधिकौ श्रावक मांडै है, ऐसा जानना ॥ ९८ ॥

आराधनां भगवतीं हृदये विधत्ते, सज्ञानदर्शनचरित्रतपोमयीं यः ।

निर्धूर्कर्ममलपंकमसौ महात्मा, शर्मोदकं शिवसरोवरमेति हंसः ॥ ९९ ॥

अर्थ—जो सस्यदर्शन ज्ञान चारित्र तपमयी जो आराधना भगवती ताहि हृदय विषै धारै है सो यह महात्मा हंस मोक्षसरोवरकों प्राप्त होय है, कैसा है मोक्ष सरोवर नाश भया है कर्ममल रूप कीच जाका अर सुखरूप है जळ जा विषै ऐसा है ।

भावार्थ—जो सन्यास मरन करै है सो थोडे ही कालमें मोक्षकों प्राप्त होय है, ऐसा नियम जानना ॥ ९९ ॥

आगँ अधिकारकों संकोचै है—

जिनेश्वरनिषेदितं मननदर्शनालंकृतं,

द्विषद्विधमिदं व्रतं विपुलबुद्धिभिर्धारितम् ।

विधाय नरखेचरत्रिदशसंपदं पावनीं,

ददाति मुनिपुंगवामितगतिस्तुतां निर्वृतिम् ॥ १०० ॥

अर्थ—जिनेश्वर देवनै कह्या अर ज्ञानदर्शन करि शंभित अर महाबुद्धीनकरि घरा ऐसा यह द्वादश प्रकार व्रत है सो मनुष्य विषाघर देव इनकी पवित्र संपदाकों प्राप्त कराकै निर्वाण अवस्थाकों देय है कैसी है निर्वाण अवस्था अप्रमाण है महिमा जिनकी ऐसे मुनिन विषै श्रेष्ठ मुनि तिनकरि स्तुतिगोचर करी है ।

भावार्थ—मुनीन्द्र जाकी स्तुति कर ऐसी मुक्तिको प्राप्त करै
है ॥ १०० ॥

सवैया तेईसा ।

पांच अणुव्रत तीन गुणव्रत शिक्षाव्रत पुनि निर्मल ध्यार ।
सम्यग्दर्शन ज्ञान सहित जो, धारै तीव्र प्रमाद निवार ॥
नर विषाघर अमर सम्पदा, अदुमुत भोगि भोग जगघार ।
लहै अमितगति सुखमय शिवपद वंदूं चरण तास अविकार ॥
इति श्रीमदमितगत्याचार्यकृते भावकाचारे षष्ठ परिच्छेदः ।

इति श्री अमितगति आचार्यकृत भावकाचारविषै
षष्ठ (छठा) परिच्छेद समाप्त भया ।

सप्तम परिच्छेद ।

आगै व्रतनिकी महिमा दिखानै है—

व्रतानि पुण्याय भवन्ति जंतोर्न सातिचाराणि निषेवितानि ।
सस्यानि किं कपि फलंति लोके मलापलीढानि कदाचनापि ॥ १ ॥
अर्थ—जीवको अतीचार सहित सेये भए व्रत हैं ते पुण्यके
अर्थ होय हैं, इहां दृष्टांत कहै हैं जैसे बिना नींदि कूडा सहित मल
सहित लोह विषै मस्य हैं ते कहां कहुं भी कदाचित भी फलै है ?
अपि तु नाहीं फलै है ॥ १ ॥

मत्वेति सद्भिः परिवर्जनीयाः, व्रते व्रते ते खलु पंच पंच ।

उपेयनिष्पत्तिमपेक्षमाणा, भवंत्युपाये सुधियः सयत्नाः ॥ २ ॥

अर्थ—ऐसी मान करि पंडितनि करि व्रत व्रत विषै ते पांच
पांच अतीचार त्यागने योग्य हैं, जातैं उपेय कहिए जाके अर्थ उपाय

करिए ऐसा कार्य ताकी उत्पत्तिकों वांछते पंडित हैं ते उपाय जो ताका कारण ताविषै यत्न सहित होय हैं ।

भाषार्थ—व्रत तो उपेय है अर अतिचार त्याग उपाय है जो व्रतनकी वांछ है तो अतीचार त्याग करहु, ऐसा उपदेश जानना ॥ २ ॥

आगैं अहिंसाव्रतके अतीचार कहै हैं—

भारतिमात्रव्यपरोपघातछेदान्नपानतिषेधबंधाः ।

अणुव्रतस्य प्रथमस्य दक्षैः पंचापराधाः प्रतिषेधनीयाः ॥ ३ ॥

अर्थ—भारका प्रमाणतैं उलङ्घ करि घरना, अर घात कहिए पीड़ाका कारण लाठी चैत आदितैं मारना इहां प्राणके नाशरूप घातका अर्थ नहीं ग्रहण करना जातैं वह तो अनाचार स्वरूप ही है, बहुरि छेद कहिए कान नासिकादिक अंगनिका छेदना, बहुरि अन्न जलका रोकना, अर बन्ध कहिए वांछित स्थानकों न जाने देना रस्सादिकतैं बांधना सो बन्ध कहिए । ये प्रथम अणुव्रतके पांच अतीचार पंडितनि करि ल्यागना योग्य है ॥ ३ ॥

आगैं सत्य अणुव्रत अतीचार कहै हैं—

न्यासापहारः परमन्त्रभेदो मिथ्योपदेशः परकूटलेखः ।

प्रकाशना गुह्यविचेष्टितानां पंचातिचाराः कथिता द्वितीये ॥ ४ ॥

अर्थ—न्यासापहार कहिए कोऊनें द्रव्य सौप्या या ताकूं वह भूलकैं धोड़ा मांगै तब कहै इतना ही है, बहुरि पर मन्त्र भेद कहिए अंगविकारादिकतैं परके अभिप्रायकों जानिईषातैं ताका प्रकाशना, बहुरि स्वर्ग मोक्षके कारण क्रिया विशेषनिमें अन्यथा प्रवर्तावना सो मिथ्यापदेश कहिए, बहुरि दूधरेके कहनेतैं ठगनेके अर्थ झूठ लिखना सो कूटलेख क्रिया है, बहुरि स्त्री पुरुषादिकके गुप्त चरित्रका प्रकाश करना सो रहोभ्याख्यान कहिए । ये पांच अतीचार दूधरे सत्य अणुव्रत विषै कहे हैं ॥ ४ ॥

आगँ आचार्य अणुव्रतके अतीचार कहै हैं:—

व्यवहारः कृत्रिमकः स्तेननियोगस्तदाह्नादानम् ।

ते मानवैपरीत्यं विरुद्धराज्यव्यतिक्रमणम् ॥ ५ ॥

अर्थ—छूटे सुवर्णादि बनावना सो कृत्रिम व्यवहार कहिए, बहुरि चौरको चौराँमें लगावना सो स्तेन प्रयोग कहिए, बहुरि चोर करि कल्याण द्रव्यका ग्रहण करना सो तदाह्नादान कहिए बहुरि बड़े मानतैं लेना छूटे मानतैं देना सो मानवैपरीत्य कहिए, बहुरि राजनियमका उल्लंघन करना महसूल आदि चोरना सो विरुद्ध राज्या-तिक्रमण कहिए । ये तीघरे अणुव्रतके पांच अतिचार कहे ॥ ५ ॥

आग परस्त्री त्याग अणुव्रतके अतीचार कहै हैं:—

आत्तानुयात्तेवरिकांग संगो-वनंगसंगो मदनातिसंगः ।

परोपयामस्य विधानमेते, पंचातिचारा गदिताश्चतुर्थे ॥ ६ ॥

अर्थ—पर करि ग्रहण करी बहुरि नाहीं ग्रहण करी ऐसी व्याभिचारिणी स्त्रीके अंगका संग करना तिनप्रति गमन करना, बहुरि अनंगमंग कहिए हस्तादिकतैं क्रीड़ा करणा, बहुरि कामका तीव्र परिणाम, अर दूसरेका विवाह करावना । ये पांच अतीचार अणुव्रतके कहै हैं ॥ ६ ॥

आगँ परिग्रह परिणाम अणुव्रतके अतीचार कहै हैं ।

क्षेत्रवास्तुधनधान्यहिरण्य-स्वर्णकर्मकरकुप्यकसंख्याः ।

योऽतिल्लघति परिग्रहलोभ-स्तस्य पंचकमवाचि मलानाम् ॥ ७ ॥

अर्थ—क्षेत्र कहिए खेतीका स्थान वास्तु कहिए घर इन दोऊनका एक स्थान, अर हिरण्य कहिए सोना इनका एक स्थान, अर धन गौ आदि अर धान्य गेहूँ आदि इनका एक स्थान अर, कर्म कर दासी दास, अर कुप्य कहिए वस्त्रादि इन पांचनकी संख्याको

जो परिग्रहके लोभसहित उलंघै है ताके अतीचारनिका पंचक कहा ॥ ७ ॥

आगैं दिग्विरतिके पांच अतीचार कहै हैं:—

स्मृत्यंतरपरिकल्पनमूर्ध्वाधस्तिर्यग्ग्यतिक्रमाः प्रोक्तः ।

क्षेत्रविवृद्धिः प्राञ्चैरतिचाराः पंच दिग्विरतेः ॥ ८ ॥

अर्थ—जो योजनादिकका परिमाण करया था ताकूं भूल और सुरत करना, अर ऊपर नीच तिरछा इन तीनोंनिका उलंघना कहिए पर्वतादिपैं चढ़ना कूपादिमें उतरना त्रिळादिमें घुमना ऐपैं तीन भए, बहुरि लोभके वशतैं क्षेत्रकी वृद्धि वांछना । ये दिग्विरतिके पांच अतिचार पंडितनिनै कहे हैं ॥ ९ ॥

आगैं देशविरतिके अतीचार कहै हैं:—

आनयनयोज्ययोजनपुद्गलजल्पनशरीरसंज्ञारूपाः ।

अपराधाः पंच मता देशव्रते गोचराः सद्भिः ॥ ९ ॥

अर्थ—मर्यादा बाहिर खानयन कहिए बुलावना, बहुरि मर्यादा बाहिर योज्य योजन कहिए प्रयोग, बहुरि मर्यादा बाहिर लोष्टादिकतैं कार्य करावना सो पुद्गलक्षेप कहिए, अर मर्यादा बाहिर पुरुषतैं वचन बोलना अर मर्यादा आदि शरीरकी समस्यातैं कार्य करावना ।

पांच अतीचार देशव्रत सम्बन्धी संतननै कहे है ॥ ९ ॥

आगैं अनर्थ दण्डविरतिके अतीचार कहै हैं—

असमीक्षितकारित्वं प्राहुर्भोगोपभोग नैरर्थ्यम् ।

कन्दर्प कौतुक्यं मौख्यमनर्थदण्डस्य ॥ १० ॥

अर्थ—विना विचारे प्रयोजनतैं अधिक करना, बहुरि भोग उपभोगनिका निःप्रयोजन संचय करना, बहुरि तीव्ररागके उदयतैं ह्रास्य मिल्या अयोग्य वचन कहना सो कन्दर्प कहिए, बहुरि ते तीव्र-

राग अर अयोग्य वचन दोऊ पर विषै शरीरके कर्म करि युक्त होय सो कौत्कुष्य कहिए, बहुरि डीटपणां सहित असमीचीन बहुत प्रलाप करना सो मोखर्य कहिए । ये पांच अनर्थदण्ड विरतिके अतीचार हैं ॥ १० ॥

आगैं सामायिकके अतीचार कहैं हैं—

योगा दुःप्रणिधाना स्पृश्यनुपस्थान मादराभावः ।

सामायिकस्य जैनैरतिचाराः पंच विज्ञेयाः ॥ ११ ॥

अर्थ—दुःप्रणिधान कहिए पापरूप अथवा अन्यथा योगरूप जे मन वचनकाय तीन तौ ये भये, बहुरि सुरत भूल जाना अर आदरका अभाव, ये पांच अतीचार सामायिकके जैनीन करि जानने योग्य हैं ॥ ११ ॥

आगैं पोसहके अतीचार कहैं हैं—

ज्ञेया गतोपयोगा उत्सर्गादानसंस्तरकविधाः ।

उपवासे मुनिमुख्यैरनादरः स्पृश्यसमवस्था ॥ १२ ॥

अर्थ—गतोपयोग कहिए विना देखे वा विना प्रतिलेखन करे भूमिमें मलमूत्र तजना वा अर्हतादिकनिजी पूजाके उपकरण गन्ध-माल्यादिक वा आपके औटना आदिके अर्थ वस्त्रादिक इनका ग्रहण करना, बहुरि सांथरा बिछावना, तीन तौ ये भए बहुरि अनादर कहिए आवश्यकनिमें उत्साहका अभाव अर पोसहको सुरत भूल जाना, ए पांच अतीचार मुख्य आचार्यनिनै पोसह विषै कहे हैं ॥ १२ ॥

आगैं भोगोपभोग विरतिके पांच अतीचार कहैं हैं—

सहचित्तं संबद्धं मिश्रं दुःखपक्रमभिषवाहारः ।

भोगोपभोगविरतैरतिचाराः पंच परिवर्ज्याः ॥ १३ ॥

अर्थ—सचित्त वस्तु तथा सचित्त वस्तु करि स्पर्शित वस्तु तथा सचित्त करि मिल्या वस्तु बहुरि दुःखतें पचै ऐवा वस्तु बहुरि काम

बढ़ावनेवाला वस्तुका आहार, ये भोगोपभोगविरतिके पांच अतीचार त्यागने योग्य हैं ॥ १३ ॥

आगें दानके अतीचार कहें हैं—

मत्सरकालातिक्रमसच्चित्तनिक्षेपणा विधानानि ।

दानेऽन्यव्यपदेशः परिहर्तव्या मलाः पंच ॥ १४ ॥

अर्थ—दानादिमें अनादर भाव सो मात्सर्य कहिए, बहुरि योग्य कालका उल्लंघन करना, बहुरि सचित्त कमलपत्रादि विषे भोजन धरना, बहुरि सचित्तते ढाकना, बहुरि अन्यपै आज्ञा करि दिवावना, ये दानमें पांच अतीचार त्यागना योग्य है ॥ १५ ॥

आगें सल्लेखनाके अतीचार कहें हैं—

जीवितमरणाशंघानिदानमित्रानुराग सुखशंसा ।

सन्यासे मलपंचकमिदमाहुर्धितदिविज्ञेयाः ॥ १५ ॥

अर्थ—यह शरीर अवश्य अनित्य है सो यह कैसे रहें ऐसी अभिलाषा सो जीवितशंसा कहिए, बहुरि रोगके उपद्रवते आकुलितपनें करि मरण वांछना सो मरणशंसा कहिए, बहुरि परलोकमें भोगनिकी वांछा करना सो निदान, बहुरि पूर्वे मित्रनसूं क्रीड़ा करी थी ताका स्मरण करना सो मित्रानुराग कहिए, बहुरि पहले भोगे सुखनिका चिंतवन करणा सो सुखशंसा कहिए । यह संन्यास विषे अतीचारनिका जो पंचक ताहि जान्या है जानिषे योग्य जिनमें ऐसे अहंतादिक हैं ते कहें है ॥ १६ ॥

आगें सम्यग्दर्शनके अतीचार कहें हैं—

शंकाकाक्षा निदा परशंसासंस्तवा मला पंच ।

परिहर्तव्याः सद्भिः सम्यक्त्विशोधिभिः सततम् ॥ १६ ॥

अर्थ—जिन वचनमें शंका करणी, वा भोगनिकी वांछा करणी,

वा धर्मात्मानमें निंदा करणी ग्लानि करणी, मिथ्यादृष्टिनकी प्रशंसा करणी, स्तुति करणी; ये पांच अतीचार हैं ते सम्यक्त विशोधन करनेवाले जे सत्पुरुष तिन करि निरंतर त्यागना योग्य ॥ १६ ॥

आगें अतीचारनके कथनकों संकोचे है—

सप्तति परिहरति मलानामेवमुत्तमधियो व्रतशुद्धये ।

श्रावका जगति ये शुभचित्तास्ते भवन्ति भुवनोत्तमनाथा ॥ १७ ॥

अर्थ—या प्रकार लोकमें उत्तमबुद्धि श्रावक हैं जे अतिचार-
निकी सप्तति कहिए सत्तरका समूह ताहि त्यागें हैं ते शुभचित्त लोकके
उत्तम नाथ होय हैं ॥ १७ ॥

आगें शल्यनिका निषेध करे हैं—

निदानमायाविपरीतदृष्टीर्नाराचपंक्तीरिष दुःखकर्त्रीः ।

ये वर्जयन्तेसुखभागिनस्ते, निःशल्यता शर्मकरी हि लोके ॥ १८ ॥

अर्थ—जे पुरुष वाननकी पंक्ति समान दुःख करनेवाली जो
भोगनिकी वांछारूप निदान अर कुटिल भावरूप माया अर विपरीत
दृष्टि कहिए मिथ्यादृष्टि इन तीनोंको त्यागे हैं ते सुखके भोगनेवाले
हैं, जातैं लोक विषै निःशल्यपना सुखकारी है ऐसा जानना ॥ १८ ॥

यस्यास्ति शल्यं हृदये त्रिधेयं, व्रतानि नश्यन्त्यखिलानि तस्य ।

स्थिते शरीरं ह्यत्रगाह्य कांडे, जनस्य सौख्यानि कुतस्तनानि ॥ १९ ॥

अर्थ—जाके हृदय विषै तीन प्र ए यह शल्य है ताके समस्त
व्रत नाशकों प्राप्त होय हैं, जातैं मनुष्य शरीरको व्यापक वाणको
तिष्ठते संते काहेतैं सुख होय ? नाहीं होय है ॥ १९ ॥

प्रशस्तमन्यञ्च निदानमुक्तं, निदानमुक्तैर्व्रतिनामृषीन्द्रैः ।

विमुक्तिबंधारनिमित्तमेदादृद्धिषा प्रशस्तं पुनरभ्यवायि ॥ २० ॥

अर्थ—निदान रहित जे मुनीन्द्र है तिन करि व्रतीनके निदान

हे]सो प्रशस्त अर अप्रशस्त ऐसै दोग प्रकार कहा है, बहुदि प्रशस्त निदान मुक्तिका संसारका निमित्त इन भेदनिर्ते दोग प्रकार कहा ।

भावार्थ—निदानके भेद दोग, एक प्रशस्त निदान दूजा अप्रस्त निदान; तहां प्रशस्त निदानके भेद दोग, एक मुक्ति निमित्त, एक संसार निमित्त, ऐसा जानना ॥ २० ॥

आगै मुक्ति निमित्त निदानकौ कहै हैं—

कमंन्यपायं भवदुःखहानि बोधि समाधि जिनबोधसिद्धिम् ।

आकांक्षतः क्षीणकषावृत्तेर्त्रिमुक्तिहेतुः कथितं निदानम् ॥ २१ ॥

अर्थ—कर्मनिका अभाव अर संसारके दुःखकी हानि अर दर्शन ज्ञान तपश्चरूप बोधि अर समाधि कहिए ज्ञानवहित मरण अर जीवनके ज्ञानकी सिद्धि इनकौ वांछता क्षीण कहिए मन्द है कषायनिकी प्रवृत्ति जाके ऐषा जो पुरुष ताके मुक्तिका हेतु निदान कहा है ।

भावार्थ—निदान नाम वांछाका है सो मुक्तिहीकी वांछा है, जातै मुक्ति बिना कर्मादिकका अभाव होय नाहीं तातै सो निदान मुक्ति हेतु कहा, ऐसा जानना ॥ २१ ॥

आगै संसार निमित्त प्रशस्त निदानकौ कहै हैं—

जातिं कुलं बाधववर्जितत्वं दरिद्रतां वा जिनधर्मसिद्धये ।

प्रयाचमानस्य विशुद्धवृत्तेः संसारहेतुर्गदितं जिनेन्दैः ॥ २२ ॥

अर्थ—जिन धर्मकी सिद्धिके अर्थ जातिकौ वा कुलकौ वा बाधवनि करि रहितपनेकौ वा दारिद्रपनेकौ वांछता जो निर्मल है प्रवृत्ति जाकी ऐषा पुरुष ताके जिनेन्द्रनै संसारके निमित्त प्रशस्त निदान कहा है ।

भावार्थ—कोऊ चाहै कि जाति कुल भला मिलै तागै जिनधर्म कषै तथा बाधवादि आकुलताके हेतु हैं इन करि रहित होऊ जातै

धर्म सबै वा घन पापका कारण है तातैं घन रहित में होऊ जातैं धर्म सबै सो ऐसी बाछा धर्मके आशयतें कथंचित् भली है तथापि जाति आदि संसार विना होय नाहीं, तातैं संसार हेतु प्रशस्त निदान कइया ॥ २२ ॥

उत्पत्तिज्ञानस्य जनस्य नूनं, लाभो न जातिप्रभृतेः कदाचित् ।

उत्पत्तिमाहुर्भवमुद्धबोधा, भवं च संसारमनेककष्टम् ॥ २३ ॥

अर्थ—उत्पत्तिरहित जो जीव ताकै निश्चयतैं जाति आदिका लाभ कदाच होय नाहीं, बहुरि उद्धत है ज्ञान जिनका ऐसे ज्ञानी पुरुष हैं ते उत्पत्तिकों भव कहैं है । बहुरि भव है सो अनेक दुःखरूप संसार है ।

भावार्थ—जाति आदि संसार विना नाहीं तातैं आत्मादिककी बाछा है, ऐसा जानना ॥ २३ ॥

संसारलाभो विदधाति दुःखं, शरीरिणां मानसमांगिकं च ।

यतस्ततः संसृतिदुःखर्भातैस्त्रिधा निदानं न तदर्थमिष्टम् ॥ २४ ॥

अर्थ—जातैं संसारका लाभ है सो जीवनिकों शरीर सम्बन्धी वा मन सम्बन्धी दुःख करै है तातैं संसारके दुःखनतैं भयभीत पुरुषनि करि संसारके अर्थ निदान है सो मन वचन काय करि नाहीं इच्छिये है ऐसा जानना ॥ २४ ॥

आगौ अप्रशस्त निदानकों कहैं हैं;—

भोगाय मानाय निदानमीशैर्यदप्रशस्तं द्विविधं तदिष्टम् ।

विमुक्तिलाभ प्रतिबन्धहेतोः, संसारकातारनिपातकारि ॥ २५ ॥

अर्थ—आचार्यननैं जो अप्रशस्त कहिए खोटे निदान है सो भोगके अर्थ अर मानके अर्थ ऐसा दोय प्रकार इष्ट किया है, कैसा है,

अप्रशस्त निदान मुक्तिके लाभके रोकनेको कारण संसारमें पटकनेवाला ऐसा है ।

भावार्थ—पंचेन्द्रियनिके विषयनिकी अभिलाषा सो भोगार्थ निदान कहिए अर अपनी महंतताके अर्थ वांछा सो मानार्थ निदान कहिए सो खोटे निदान संसारके कारणके है ऐसा जानना ॥ २५ ॥
ये संति दोषा भुवनांतराले, तानंगभाजां वितनोति भोगः ।
के तेऽपराधा जननिन्दनीया, न दुर्जनो यान् रभसा करोति ॥ २६ ॥

अर्थ—विषय भोग हैं सो जीवनिके लोकविषे जो दोष हैं तिनहि विस्तारै है । इहां दृष्टांत कहैं हैं—जननि करि निदनीक ते कौन अपराध हैं जिनहि दुष्टजन जबर्दस्ती न करै हैं, सर्व ही करै हैं ॥ २६ ॥
ये पीडयन्ते परिचर्यमाणाः ये मारयन्ते बत पोष्यमाणाः ।
ते कस्य सौख्याय भवन्ति भोगा, जनस्य रोगा इव दुर्निवाराः ॥ २७ ॥

अर्थ—आचर्य कहैं हैं बड़े खेदकी बात है जे भाग आचरन करे सन्ते सेये सन्ते पीड़ा उपजावै है अर पुष्ट करे सन्ते मारै हैं ते भोग रोगनि समान दुर्निवार कौन मनुष्यके सुखके अर्थ होय हैं, अपितु नाहीं होय हैं ऐसा जानना ॥ २७ ॥

विनश्चरात्मा गुरुपंककारी, मेघो जलानीव विवर्द्धमानः ।
ददाति यो दुःखशतानि कृष्णः, स कस्य भोगी विदुषा निषेव्यः ॥ २८ ॥

अर्थ—सो विषय भोग कौनके पंडितजन करि सेयवे योग्य होय अपितु नाहीं होय । कैसा है विषय भोग जो वर्द्धमान भया सन्ता जैसे मेघ जलनिको देय है तैसे दुःखनिके सैकड़ानिको देय है । कैसा है मेघ विनशनशील है स्वरूप जाका सो यह भोग भी विनसनशील है । बहुरि मेघ महाकीचका करनेवाला है । बहुरि मेघ काला है, सो यह भोग भी मलीन है ऐसा जानना ॥ २८ ॥

यो बाधते शक्रममेय शक्ति, सः कस्य बाधा कुरुते न कामः ।

यः प्लोषते पर्वतवर्गमग्निः स मुंचते किं तृणकाष्ठराशिम् ॥ २९ ॥

अर्थ—जो काम अप्रमाण है शक्ति जाके ऐसा जो इन्द्र ताहि पीडै है सो काम कौनके बाधा न करै है ? सर्वहीके करै है । इहां दृष्टांत कहै है—जो अग्नि पर्वतनके समूहको जलावै है सो अग्नि कहा तृणकाष्ठके समूहको छोडै है, अपितु नाहीं छोडै है; ऐसा जानना ॥ २९ ॥

समीरणाशीव विभीमरूपः, कोपस्वभावः परंध्रवती ।

अनात्मनीनं परिहृत्तेकामैर्न याचनीयः कुटिलः स भोगः ॥ ३० ॥

अर्थ—आपके अर्थ अहित ऐसा जो दुःख ताके त्यागनेकी है बाछा जिनके ऐसे पुरुषनि करि सो विषयभोग चाहना योग्य नाहीं । कैसा है भोग, सर्प समान है भयानकरूप जाका, कैसा है सर्प क्रोध-रूप है स्वभाव जाका सो यह भोग भी क्रोधका अभिप्राय लिये है । बहुरि सर्प पराये विलमें तिष्ठै है तैसें भोग भी स्त्री आदि परद्रव्यमें वसें है, बहुरि सर्प कुटिल है तैसें भोग भी मायाचार सहित है, ऐसा जानना । ऐसें भोग निषिद्ध जानिके ताके अर्थ निदान करना योग्य नाहीं ॥ ३० ॥

आगै मानका निषेध करै हैं—

देशं गुरुं धार्मिकमर्चनीयं, मानाकुलात्मा परिभूय मूयः ।

पाथेयमादाय कुकर्मजालं, नीचां गतिं गच्छति नीचकर्मा ॥ ३१ ॥

अर्थ—मानकरि आकुल है आत्मा जाका ऐसा जो पुरुष है सो देवका गुरुका धर्मात्माका पूजनीकका वारंवार तिरस्कार अपमान करके अर नीचकर्म जीव पापकर्मके समूहरूप वटधारीको ग्रहण करि नीच गतिको जाय है ।

भावार्थ—मानी जीव गुरुका भी अविनय करै है अर पापकर्म बाधि तिर्यचादि गतिकौ प्राप्त होय है ऐसा जानना ॥३१॥

वामनः पामनः कोपनो वंचनः, कर्कशो रोमशः सिधमलः कश्मलः ।
कोलिको मालिकः शालिकच्छिपकः, किंकरो लुब्धको मुग्धकः कुष्ठिकः ॥३२॥
चित्रकः कौकिशो मूषितो जाहको, वंजुलो मंजुलः पिप्पलःपन्नगः ।
कुक्कुरस्तित्रित्तो रासभो वायसः, कुक्कुटो मर्कटो मानतो जायते ॥३३॥

अर्थ—मानतैं जीव जो नीच पर्याय पावै है सो कहै है—वामन होय है, गमर होय है, क्रोधी होय है, ठिग होय है, कठोर होय है, रोमश कहिए बड़े रोमका धारी होय है, सिधमल कहिये भूरा होय है, पापी होय है, कोली होय है, माली होय है, सिलाबट होय है, छीपा होय है, चाकर होय है, पराधीन लोभी होय है, मूढ़ होय है, कोढ़ी होय है ॥ ३२ ॥ चीता होय है, घूजू होय है, मूसा हांय है, जाहक होय है, बहुरि वंजुल मंजुल पिप्पल कोई नीच तिर्यच विशेष है सो होय है, बहुरि सर्प अर कुत्ता अर तीतर अर गधा अर कागला अर मुर्गा अर बन्दर इत्यादि नीच मनुस्य तिर्यचन पर्याय जीव मानतैं पावै है तातैं मान त्यागना योग्य है, यहु तात्पर्य है ॥ ३३ ॥

लक्ष्मीक्षमाकीर्तिकृपासपर्या, निहल्य सत्या जनपूजनीयाः ।

निषेव्यमाणो रभसेन मानः, श्मश्रालये निक्षिपतीति घोरं ॥ ३४ ॥

अर्थ—सेया भया मान है सो सत्यार्थ रूप अर लोकनि करि पूजनीक ऐसी जो लक्ष्मी अर क्षमा अर कीर्ति अर दया अर पूजा इनकौ नासकैं अर जबरदस्ती घोर नरकवास विषैं पटकै है ॥ ३४ ॥

अनन्तकाल समवाप्य नीचां, यत्केदा याति जनोऽयमुच्चाम् ।

तथाप्यनंता बत याति जातिरुच्चो गुणः कोऽपि न चात्र तस्य ॥३५॥

अर्थ—जीव है सो अनन्तकाल ताई नीच जातिकौ पाय करि

एक काल उच्च जातिकों प्राप्त होय है, आचार्य कहें हैं, बड़े खेदकी बात है तो भी जीव अनन्त जातिनकों प्राप्त होय है। बहुरि ता जीवकै इहां ऊँचा गुण कोई भी न देखिए है ।

भावार्थ—जीव अनंतकाल निगोदादि नीचपर्यायनिमें वसै है, कदाच क्षत्रियादि उच्च कुलमें उपजै है सो तहां भी अनंतवार भया तातैं संसारमें ऊँच गुण किछु भी न देखिए है, तातैं मान करना बुरा है ऐसा जानना ॥ ३५ ॥

उच्चासु नीचासु च हंत जंतोर्लब्धासु नो योनिषु वृद्धिहानी ।

उच्चा व नीचोऽहमपास्त बुद्धिः, स मन्यते मानपिशाचवश्यः ॥३६॥

अर्थ—ऊँच जातिनकों वा नीच जातिनकों पाए संतैं जीवकी हानि वृद्धि नाहीं है, बहुरि मान पिशाचके वशीभूत अज्ञानी जीव है सो “मैं ऊँचा हूं नीचा नाहीं” ऐसा मानै है ये बड़े खेदकी बात है ॥ ३६ ॥

उच्चोऽपि नीचं स्वमवेक्षमाणो, नीचस्य दुःखं न किमेति घोरम् ।

नीचोऽपि पश्यति यः स्वमुच्चं, स सौख्यमुच्चस्य न किं प्रयाति ॥३७॥

उच्चत्वनीचत्वविकल्प एष, विकल्प्यमानः सुखदुःखकारी ।

उच्चत्वनीचत्वमयी न योनिर्ददाति दुःखानि सुखानि जातु ॥ ३८ ॥

अर्थ—ऊँचा है सो भी आपको नीचा देखता संता कहा नीचके घोर दुःखकों न प्राप्त होय है, होय ही है । बहुरि नीचा है सो भी आपको ऊँचा देखता संता कहा ऊँचा पुरुषके सुखकों न पावै है, पावै ही है ॥ ३७ ॥ यह ऊँचपना नीचपनाका विकल्प है सो कल्प्या भया संता दुःख करनेवाला है । बहुरि ऊँचपना नीचपना मयी जाति है सो सुखनिकों वा दुःखनिकों कदाचित् न देय है ॥ ३८ ॥

भाषार्थ—कोऊ पुरुष औरनतैं आप बड़ा है सो आपतैं बडेको देखि आपको दुखी मानै है । बहुरि कोई पुरुष और नितैं छोटा है सो भी आपतैं छोटेनिकों देखि आपको बडा मान सुख मानै है । तातैं मोही जीवको मिथ्या माननेमें सुख दुःख है किछु बाह्य जाति आदि सुख दुःखका कारन नाहीं । ऐसा जानि जात्यादिकका गर्व न करना ऐसा इहां प्रयोजन जानना ॥ ३७-३८ ॥

हिनस्ति धर्म लभते न सौख्यं, कुबुद्धिरुच्चत्वनिदानकारी ।

उपैति कष्टं सिकतानिपीडी, फलं न किञ्चिज्जननिन्दनीयः ॥ ३९ ॥

अर्थ—ऊँचपनेका निदान करनेवाला कुबुद्धि पुरुष है सो धर्मका नाश करै है अर सुखकों न पावे है । इहां दृष्टांत कहै हैं, जैसे लोक विषै निदनीक मूर्ख पुरुष बाळू रेतका पेलनेवाला कष्टकों प्राप्त होय है अर किछु फलकों नहीं प्राप्त होय है तैसैं ।

भाषार्थ—निदान करे सुख न मिलै है, जातैं सुख तो पुण्योदयके आधीन है, अर पुण्यके आशयतैं पुण्य होय नाहीं तातैं जैसे बाळू रेत पेदे किछु तेल न कढे उलटा कष्ट होय है तैसा निदान भी जानना ॥ ३९ ॥

यशांसि नश्यति समानवृत्तेर्गदातुरस्येव सुखानि सद्यः ।

विषद्वेते तस्य जनापवादो, विषाकुलस्येव मनोविमोहः ॥ ४० ॥

अर्थ—जैसै रोग करि पीड़ित पुरुषके सुख शीघ्र नाशको प्राप्त होय है तैसैं मानसहित है प्रवृत्ति जाकी ऐसा जो पुरुष ताके यश शीघ्र नाशकों प्राप्त होय है । बहुरि ताका लोकापवाद बढ़ै है जैसे विषकरि आकुल है चित्त जाका ऐसा जो पुरुष ताके मनमें अचेतपना बढ़ै तैसैं, ऐसा जानना ॥ ४० ॥

हुताशनेनेव तुषारराशिर्विमश्यतेऽलं विनयो मदेन ।

नैवानुरागं विनयेन हीनो, लोके शमेनैव चरित्रमेति ॥ ४१ ॥

अर्थ—जैसे अग्निकरि तुषारकी राशि विनाशकों प्राप्त होय है तैसे मानकरि विनय नाशकों प्राप्त होय है । बहुरि विनय करि हीन है सो लोकमें प्रीति भावकों न पावै है, शमभाव करि ही चारित्रकों पावै है, ऐसा जानना ॥ ४१ ॥

पूता गुणा गर्ववतः समस्ता भवन्ति वंध्या यममंयमाषाः ।

प्रोप्यमाणा विधिना विचित्राः किमूषरे भूमिरुहाः फलन्ति ॥४२॥

अर्थ—गर्वसहित पुरुषकै यम कहिए कालकी मर्यादारूप नियम अर संयम कहिए इंद्रिय विषय अर हिंसाका त्याग इत्यादि पवित्र गुण हैं ते स्वर्गादि फल रहित होय हैं । इहां दृष्टांत कहै हैं, ऊषर भूमि-विषै विधिबहित लगाये नाना प्रकार वृक्ष हैं ते कहा फल है, अपि तु नाहीं फलै है ॥ ४२ ॥

न जातु मानेन निदानमित्यं करोति दोषं परिचित्य चित्रं ।

प्राणापहारं न विलोकमानो विषेण तृप्तिं वितनोति कोऽपि ॥४३॥

अर्थ—या प्रकार मानके नानाप्रकार दोषकों विचारिकै मान-सहित निदानकों कदाच भी न करै है । जैसे प्राणके नाशकों देखता पुरुष कोई भी विषकरि तृप्तिकों न विस्तारै है तैसे ॥ ४३ ॥

यो घातकत्वादि निदानमज्ञः करोति कृत्वा चरणं विचित्रं ।

हि बद्धयित्वा फलदानदक्षं, स नन्दनं भस्मयते वराकः ॥४४॥

अर्थ—जो नाना प्रकार चारित्र्यकों करके अर अज्ञानी घातक-पना आदिका निदान करै है सो बावरा पुरुष फल देनेमें प्रवीण ऐसा जो नन्दन वन ताडि बढाय करि भस्म करै है ।

भावार्थ—जो चारित्रधारी द्वीपायनकी ज्यों मारने आदिका निदान करै है सो चारित्रका नाश करै है, अनन्त संसारी होय है ऐसा जानना ॥ ४४ ॥

यः संयमं दुष्करमादधानो, भोगादिकाक्षां वितनोति मूढः ।

कंठे शिलामेष निधाय गुर्वी, विगाहते तोयमलभ्य मध्यम् ॥४५॥

अर्थ—जो मूढ़ दुःखकर संयमकों धारता संता भोगादिककी वांछाकों विस्तारै है सो कंठ विषै बड़ी शिलाकों धारिकै नाहीं मिलने योग्य है मध्य जाका ऐसा औंढा जलकों अवगाहै है ॥ ४५ ॥

त्रिधा विधेयं न निदानमित्थं, विज्ञाय दोषं चरणं चरद्भिः ।

अपध्यसेत्रां रचयंति सन्तो, विज्ञातदोषा न कृतौषधेच्छाः ॥ ४६ ॥

अर्थ—अणुत्रतादिरूप चारित्रकों आचरण करते जे पुरुष तिनकरि या प्रकार निदानके दोषकों जानिकै निदान है सो मन वचन काय करि करना योग्य नाहीं । जैसै करी है औषधकी इच्छा जिननै अर जान्या है अपध्यका दोष जिननै ऐसे सज्जन हैं ते अपध्यका सेवन न करै हैं ।

भावार्थ—संसार रोगकी औषध चारित्र है अर निदान संसार रोग बढ़ानेवाला कुपध्य है । जे चारित्र धारै हैं अर निदानकों बुरा जानै हैं ते निदान न करै हैं, ऐसा जानना ॥ ४६ ॥

ऐसा निदानशल्यका वर्णन क्रिया । आगै मायाशल्यका वर्णन करै है;—

आयासविश्वासनिराशशोकद्वेषावशादश्रमवैरभेदाः ।

भवंति यस्यामवनावित्रागाः, सा वस्य मायान करोति कष्टम् ॥४७॥

अर्थ—जसै भूमिमें वृक्ष होय तसै प्रयास अर विश्वासका अभाव अर शोक अर द्वेष अर वद अर श्रम अर वैर इत्यादि भेद हैं ते जिन माया विषै होय हैं सो कोनकै कष्ट न करै, मर्वहीकै करै ॥ ४७ ॥

स्वल्पापि सर्वाणि निषेव्यमाणा, सत्यानि माया क्षणतः क्षिणोति ।

नाल्पा शिखा किं दहतीषनानि, प्रवेशता चित्ररुचेक्षितानि ॥४८॥

अर्थ—थोड़ी भी सेई भई माया क्षण मात्रमें सर्व सत्यका नाश

करै है । इहां दृष्टांत कहै है;—अग्निकी अल्प ज्वाला प्रवेश करी भई कइहा संचय रूप इंधननकों नाहीं दहै है ? दहै ही है ॥ ४८ ॥

निकर्तितुं वृत्तवनं कुठारी, संसारवृक्षं सवितुं धरित्री ।

बोधप्रभाध्वंसयितुं त्रियामा, माया विवर्त्या कुशलेन दूरम् ॥४९॥

अर्थ—प्रवीण पुरुष करि माया दूर त्यागनी योग्य है । कैसी है, माया चारित्र वनके काटनेकों कुल्हाडी समान है, अर संसार रूप वृक्षके उपजावनेकों पृथ्वी समान है, अर ज्ञानरूप प्रभा प्रकाशके नाशनेकों रात्रि समान है । ऐसा जानना ॥ ४९ ॥

हिनस्ति मैत्रीं वितनोत्यमैत्रीं, तनोति पापं वितनोति धर्मम् ।

पुष्पाति दुःखं विधुनोति सैष्यं, न वंचना किं कुरुते विनिधम् ॥५०॥

अर्थ—माया है सो मैत्री कहिए प्रीति ताका नाश करै है अर अप्रीतिकों विस्तारै है, पापकों विस्तारै है अर धर्मका विध्वंस करै है, दुःखकों पुष्ट करै है अर सुखका अभाव करै है । बहुरि सो माया कौन निदने योग्य है ताहि न करै है, सर्व ही करै है ॥ ५० ॥

ऐसैं मायाका वर्णन किया । आगैं मिथ्यात्व शल्यका वर्णन करै हैं;—

न बुध्यते तत्त्वमतत्वमंगी, विमोह्यमानो रभसेन येन ।

त्यजंति मिथ्यात्वविषं पटिष्ठाः, सदा विभेदं बहुदुःखदायि ॥ ५१ ॥

अर्थ—जिस मिथ्यात्वविष करि जबरदस्ती अचेत भया संता जीव है सो तत्व अतत्त्वकों न जानै है तिस बहुत भेदरूप मिथ्यात्व विषकों पंडित जन हैं ते लोगैं हैं । कैसा है मिथ्यात्व विष बहुत दुःखका देनेवाला है, ऐसा जानना ॥ ५१ ॥

आगैं मिथ्यात्वके अभिप्रायका वर्णन करै हैं—

ब्रह्मिन् केचित् सुखदुःखहेतुर्न, विषते कर्मशरीरभाजाम् ।

मानस्य तस्मिन्निखिलस्य हानेर्मानव्ययेतस्य न चास्ति सिद्धिः ॥५२॥

अर्थ—कोई कहै है—जीवनिकै सुख दुःखका कारण कर्म नाहीं है, जातैं तिष कर्म विषै समस्त प्रमाणनिकी हानि है । बहुरि प्रमाण रहितकी सिद्धि नाहीं ।

भावार्थ—कोई कहैं हैं सुख दुःखका कारण कर्म नाहीं तातैं कर्म इन्द्रियनिके गोचर नाहीं अर ताका लिंग कोऊ दीसै नाहीं, बहुरि कर्म-समान और पदार्थ दीसै नाहीं, बहुरि कर्म विना न होय ऐसे पदार्थकी अप्राप्ति है, बहुरि हमारे आगममें भी कर्मका अभाव कहा है; ऐसे सर्व प्रमाणके अगोचर है । बहुरि जो प्रमाणमें न आवै सो वस्तु नाहीं, तातैं कर्म नाहीं है । ५२ ॥

बहुरि फेर कहैं हैं—

षस्त्वेऽपि कर्तुं न सुखादिकार्यं, तस्यास्ति शक्तिर्गतचेतनत्वात् ।

प्रवर्त्तमानाः स्वयमेव दृष्टाः, विचेतनाः कापि मया न कार्ये ॥ ५३ ॥

अर्थ—जीवविषै सुखादि कार्यके दूर करनेकी ता कर्मके शक्ति नाहीं, जातैं कर्मके अचेतपना है । मैंने कोई कार्य विषै अचेतन पदार्थको स्वयमेव प्रवर्त्तते न देखे ।

भावार्थ—जीवकै सुख ज्ञानादि घात करनेको कर्म समर्थ नाहीं जात आप अचेतन है । लोकमें अचेतन पदार्थ कार्य करते न देखे हैं, ऐसा तानैं कर्मका अभाव साध्या ॥ ५३ ॥

अब आचार्य कहैं हैं—

एषा महामोहोऽपिशाचवश्यैर्न, युज्यते गीरभिधीयवाना ।

प्रमाणमस्माकमवध्यमानं, यतोऽस्य सिद्धावनुमानमस्ति ॥ ५४ ॥

अर्थ—महा मोहरूप पिशाचके वशीभूत जे मिथ्यादृष्टि तिनकरि कही यह वाणी युक्त नाहीं, जातैं इष कर्मकी सिद्धि विषै हमारा अबाधित अनुमान प्रमाण है ॥ ५४ ॥

सो ही अनुमान दिखावै हैं—

रागद्वेषमदमत्सरशोकक्रोधलोभभयमन्मय मोहाः ।

सर्वजन्तुनिवद्वैरनुभूताः, कर्मणा किमु भवन्ति विनैते ॥ ५५ ॥

अर्थ—सर्व जीवनिके समूहनि करि अनुभव किए ऐसे जे रागद्वेष, मद, मत्सर, शोक, क्रोध, लोभ, भय, काम, मोह इत्यादि विकार भाव हैं ते कर्म विना ये कैसे होय ।

भावार्थ—संसारी जीवनिके कर्म बन्धे है जातैं कर्मनिके उदयका कार्य जो रागादि भाव हैं ते सर्व जीवनि करि स्वसंवेदन प्रत्यक्ष करि जानिए है, कर्मोदय विना रागादिक कैसे होय; जाके कर्म बंध नाहीं सो रागादि सहित नाहीं जैसे मुक्त जीव । इहां कार्यलिगते अनुमान किया है ॥ ५५ ॥

आगैं फेर आशंकाका उत्तर करै हैं;—

ते जीवजन्याः प्रभवन्ति नूनं, नैषापि भाषा खलु युक्तियुक्ता ।

नित्यप्रसक्तिःकथमन्यथैषां, संपद्यमाना प्रतिषेधनीया ॥ ५६ ॥

अर्थ—वादी कहै है कि ते रागादिभाव जीवहीतैं उपजे हैं; ताको आचार्य कहैं हैं—कि ऐसो वाणी निश्चय करि युक्त नाहीं, जातैं ये रागादि जीवहीतैं उपजे होय तौ इन रागादिकनिकी नित्य सम्बन्धता आई सो कैसे निषेध करने योग्य होय ।

भावार्थ—रागादि भाव आत्माके स्वभाव होय तौ स्वभावका अभाव होनेत सब अवस्थामैं रहे चाहिए तब जीवके मोक्ष कैसे होय जातैं रागादिक हैं ते कर्मोदयके निमित्त विना न होय है, ऐषा जानना ॥ ५६ ॥

आगैं फेर कहैं हैं—

नित्ये जीवे सर्वदा विद्यमाने, कादाचित्का हेतुना केन संति ।

निर्मुक्तानां जायमाना निषेद्धं, ते शक्यंते केन मुक्तिश्च तेभ्यः ॥५७॥

अर्थ—सदाकाल विद्यमान जो नित्य जीव ता विषे कहीं होय कहीं न होय ऐसे कदाच होनेवाले जे रागादिक ते कौन कारणकरि होय हैं, अर मुक्त जीवनिके उत्पन्न भए जे रागादिक ते काहे करि निषेधनेको समर्थ हूजिए अर तिनतैं मुक्ति काहेकरि होय ।

भावार्थ—जैसे फटिकमणि निर्मल तो सदा है तामें काला पीला आदि जैसा डांरू लगै तैसा परिणमं सो परिणमन कदाचित् होय है तातैं ताको कदाचित्क कहिए तैसे आत्मा तां नित्य है ताके मोहादि कर्मका निमित्त मिले रागादिरूप परिणमन होय है सो कादचित्क है, अर ते रागादि कर्म निमित्तविना होय तो रागादिक नित्य स्वभाव ठहरै तब तिनका मुक्त जीवके भी अभाव कैसे होय अर तिनतैं कैसे छूटै, तातैं कर्मका अस्तित्व मानना योग्य है ॥ ५७ ॥

आगे फेर कहै हैं—

तुल्यप्रतापोद्यमसाहसानां केचिद्धर्मन्ते निजकार्यसिद्धिम् ।

परे न तामत्र निगद्यतां मे, कर्मास्ति हित्वा यदि कोऽपि हेतुः ॥५८॥

अर्थ—समान है प्रताप अर उद्यम जिसके ऐसे पुरुषनिके मध्य केई पुरुष अपने कार्यकी सिद्धिको पावें हैं । बहुरि और केई ता कार्यकी सिद्धिको न पावें हैं; सो इहां कर्म सिवाय और कोई भी कारण होय तो मोखें कहि ।

भावार्थ—समान पुरुष समान उद्यम करै तहां कोईके सिद्धि होय कोईके न होय सो इहां कर्म सिवाय और कारण नाहीं, ऐसह जानना ॥ ५८ ॥

आगे फेर कहै हैं—

विचित्रदेहाकृति वर्णगंधप्रभावजातिप्रभवस्वभावाः ।

केन क्रियंते सुवर्णैर्गिर्वर्णाश्चिरन्तनं कर्म निरस्य चित्राः ॥ ५९ ॥

अर्थ—लोक विषै नानाप्रकार शरीर वर्ण गंध वीर्य जाति इनके उपजावने रूप है स्वभाव जिनके ऐसे जे अनेक जीवनिके समूह ते पहला पुरातन कर्म विना कौन करि करिए है ।

भावार्थ—पहला कर्म न होय तो आगागी नाना शरीर काहेतैं उपजै, तातैं प्राचीन कर्म मानना योग्य है ॥ ५९ ॥

विवद्धर्थ मासान्नव गर्भमध्ये, बहुप्रकारैः कलिलादिभावैः ।

उद्धर्त्य निष्कासयते सविद्या को गर्भतः कर्म विहाय पूर्वम् ॥ ६० ॥

अर्थ—गर्भ विषै नव मास ताई नानाप्रकार रुधिरादि भावनि करि बढ़ायकै अर पलटकै माताके गर्भ तैं पूर्व कर्म विना कौन निकासै है ।

भावार्थ—पहला कर्म न होय तो गर्भमें वृद्धि होना अर मुख पलटकै गर्भ तैं निकासना इत्यादि कार्य कैसे होय, तातैं पूर्व कर्म अवश्य मानना ॥ ६० ॥

आगे वादीनै कही थी कर्म अचेतन है सो कार्य कैसे करै ताका उत्तर करै है:—

विलोकमानाः स्वयमेव शक्तिं विकारहेतुं विषमद्यजाताम् ।

अचेतनं कर्म करोति कायं कथं वदंतीति कथं विदग्धाः ॥ ६१ ॥

अर्थ—विष वा मदिरा इन अचेतनतैं उपजी जो विकारकी कारण शक्ति ताहि आपही देखते संते चतुर पुरुष हैं ते “ अचेतन जो कर्म सो कार्यकौ कैसे करै है ” ऐसी कैसे कहैं हैं ।

भावार्थ—मदिरादि अचेतन वस्तु है सो जैसे गहलपना उपजावै

है तैसें कर्म भी अचेतन है सो अपना कार्य करै है, यामैं शंका कहां, प्रत्यक्ष अचेतनका कार्य देखिए है ॥ ६१ ॥

आगे फेर कहैं हैं:—

नानाप्रकारा भुवि वृक्षजातीर्विधूय पत्राणि पुरातनानि ।

अचेतनः किं न करोति कालः प्रत्यप्रपुष्पप्रसवादिरम्याः ॥ ६२ ॥

अर्थ—पृथ्वीविषैं अचेतन जो काल है सो नानाप्रकार वृक्षकी जो जाति ताहि पुरानें पत्रनकों झड़ाय करि नवीन पुष्प पत्रादिकनि करि मनोहर कहा न करै है ? करै ही है ।

भावार्थ—जैसें अचेतनकाल है सो वृक्षनिके पहले पत्र झड़ाय नवीन पत्रादि करै है तैसें अचेतन कर्म भी अपना कार्य करै है, ऐसा जानना ॥ ६२ ॥

आगैं फेर कहैं हैं:—

यैर्निःशेषं चेतनामुक्तमुक्तं कार्याकारि ध्वस्तकार्यावबोधैः ।

धर्माधर्माकाशकालादि स्रव द्रव्यं तेषां निष्फलत्वं प्रयाति ॥ ६३ ॥

अर्थ—जिन पुरुषनि करि चेतना रहित अचेतन द्रव्य है सो सर्वथा कार्यका करनेवाला नाहीं ऐसा कहा तिनकै धर्म अधर्म आकाश काल आदि सर्व द्रव्य निष्फलपनेकों प्राप्त होय हैं, कैसे हैं ते पुरुष नष्ट भया है कार्यका ज्ञान जिनकै ।

भावार्थ—जे सर्वथा अचेतनकों कार्यका करनेवाला न मानै हैं तिनकै धर्मादि द्रव्य अचेतन हैं ते निष्फल ठहरै तातें तिनकें कार्य कारणपनेका ज्ञान नाहीं । यद्यपि धर्मादि द्रव्य प्रेरक कर्ता नाहीं तथापि निमित्त नैमित्तिक भाव मात्र परस्पर कार्यकरणपना है, सो स्याद्वादतैं अबिरोध सबै है ॥ ६३ ॥

आगे कोऊ कहै कि अमूर्त्त जीवके मूर्त्तिक कर्म नहीं बन्धै है,
ताका समाधान करै हैं—

जीवैर्मूर्त्तैः सह कर्म मूर्त्त, संवध्यते नेति वचो न वाच्यम् ।

अनादिभूतं हि जिनेन्द्रचन्द्राः, कर्मागिसम्बन्ध मुदा हरति ॥६४॥

अर्थ—अमूर्त्तिक जीवनि सहित मूर्त्तिक कर्म न बन्धै है ऐसा
कहना योग्य नाहीं; जातें जिनेन्द्रचन्द्र हैं ते कर्म अर जीवनिका
अनादितें सम्बन्ध कहैं हैं ।

भावार्थ—जीव कर्मका अनादि सम्बन्ध है सो अनादि स्वभावमें
तर्क नाहीं, ऐसा जानना ॥ ६४ ॥

आगे इस कथनको संकोचें हैं—

इत्यादि मिथ्यात्वमनेकभेदं, यथार्थतत्त्वप्रतिपत्तिसूदि ।

विवर्तनीयं त्रिविधेन बद्धिर्जनं व्रतं रत्नमिवाश्रयद्भिः ॥ ६५ ॥

अर्थ—संतन करि इत्यादिक मिथ्यात्व नानाप्रकार यथार्थ तत्त्व-
ज्ञानका नाश करनेवाला है सो मन वचन काय करि त्यागना योग्य
है । कैसे हैं सःपुरुष जिन भगवानके व्रतकों रत्नकी उयों सेवे
हैं ॥ ६५ ॥

आगे एकादश प्रतिमानका वर्णन करें हैं—

एकादशोक्ता विदितार्थतत्त्वरूपासकाचारविधेर्विभेदाः ।

पवित्रमारोढुमनन्यलभ्यं सोपानमार्गा इव सिद्धिर्षौधम् ॥६६॥

अर्थ—जाने हैं पदार्थनिके स्वरूप जिनने ऐसे अहंतादिकनि
करि श्रावकके आचारकी विधिके भेद ग्यारह कहे हैं, ते भेद पवित्र
मोक्ष महलके चढनेकों शिवाणके मार्ग समान हैं, कैसा है मोक्ष महल
अन्य सामान्य जनकरि नाहीं पावने योग्य है, ऐसा जानना ॥६६॥

आगे ग्यारह प्रतिमानमें प्रथम दर्शनप्रतिमाकों कहे हैं—

यो निर्मला दृष्टिमनस्यचित्तः, पवित्रवृत्तामिव हारयष्टिम् ।

गुणावनद्धा हृदये निषत्ते, स दर्शनी धन्यतमोऽन्यथापि ॥६७॥

अर्थ—नाहीं है और ठिकाने चित्त जाका ऐसा जो पुरुष पवित्र अर गोल हारकी लड़ी समान निर्मल दृष्टिकों हृदयमें धारै है सो दर्शनसहित पुरुष अतिशय करि धन्य कहा है। कैसी है हारकी लड़ी गुण जे डोर तिन करि बन्धी है, अर निर्मल दृष्टि वात्सल्य आदि गुण कर बन्धी है ऐसा जानना ॥ ६७ ॥

आगैं व्रत प्रतिमाकों कहै हैं—

विभूषणानीव दधाति धरो, व्रतानि यः सर्वसुखाकाराणि ।

आक्रष्टमीशानि पवित्रलक्ष्मीं, तं वर्णयन्ते व्रतिनं वरिष्ठाः ॥६८॥

अर्थ—सर्व सुखनिके स्थान जे बाहर व्रत तिनहि जो आभूषणनिकी ज्यों धारै है ता पुरुषकों आचार्य व्रती कहै हैं। कैसे हैं बागह व्रत पवित्र लक्ष्मी जो स्वर्ग मोक्षकी लक्ष्मी ताके प्राप्त करनेकों समर्थ हैं, ऐसा जानना ॥ ६८ ॥

आगैं सामायिक प्रतिमाकों कहै हैं—

रौद्रार्त्तमुक्तो भवद्दुःखमोची, निरस्तनिःशेषकषाददोषः ।

सामायिकं यः कुरुते त्रिकालं, सामायिकस्थः कथितः स तथ्यम् ॥६९॥

अर्थ—आर्त्त रौद्र खोटे ध्याननि करि रहित अर संसार दुःखनिका त्यागनेवाला अर त्यागे है समस्त क्रोधादि कषाय जानै ऐसा जो पुरुष त्रिकाल सामायिककों करै है सो पुरुष सत्यार्थ सामायिक विषै तिष्ठ्या कहा है ॥ ६९ ॥

आगैं प्रोषध प्रतिमाकों कहै हैं—

मन्दीकृताक्षार्थं सुखाभिलाषः, करोति यः पर्वचतुष्टयेऽपि ।

सदोपवासं परकर्म मक्त्वा, सः प्रोषधी श्रद्धधियाममीष्टः ॥७०॥

अर्थ—मंद करी है इंद्रिय विषय जनित सुखकी अभिलाषा जानै ऐसा जो पुरुष पर्वचतुष्टय कहिये एक मासकी दोय अष्टमी दोय चतुर्दशी इन चारिनि विषै आरम्भ छोड़करि निश्चयकरि सदा उपवास करै है सो प्रोषध प्रतिमाधारी शुद्ध बुद्धीनके अभीष्ट है वाञ्छित है ॥७०॥

आगै सच्चित्त्याग प्रतिमाकों कहै हैं:—

दयार्द्र चित्तो जिनवाक्यधेदी, न बल्भते किञ्चन यः सच्चित्तम् ।

अनन्यसाधारण धर्मपोषी, सच्चित्तमोची स कषायमोची ॥ ७१ ॥

अर्थ—दया करि भीड्या है चित्त जाका अर जिनेन्द्रके वचन-निका जाननेवाला ऐसा जो पुरुष कछु भी सच्चित्तकों न खाय है सो औरके समान नाहीं, ऐसे असाधारण धर्मका पुष्ट करनेवाला कषाय-रहित सच्चित्त्यागी कहा है ॥ ७१ ॥

आगै रात्रिभोजनका त्याग वा दिनमें अब्रह्म त्याग प्रतिमाकों कहै हैं:—

निषेवते यो दिवसे न नारी—मुद्दामकन्दर्पमदापधारी ।

कटाक्षविक्षेपशरीरविद्धो, बुधैर्दिन ब्रह्मचरः स बुद्धः ॥ ७२ ॥

अर्थ—जो पुरुष तीव्र कामके मदका दूर करनेवाला दिवस विषै नारीकों न सेवै है, सो पंडितनि करि स्त्री कटाक्षका चलावना रूप बाणनि करि नाहीं बीड्या दिन विषै ब्रह्मचारी कहा है । दिन विषै तो स्त्रीका न सेवना सो दिन ब्रह्मचारी है वा यहू रात्रिभोजनका भी त्यागी है, तातैं याहीका नाम रात्रिभोजन त्यागी भी कहा है; ऐसा जानना ॥ ७२ ॥

आगै ब्रह्मचर्य प्रतिमाकों कहै हैं:—

यो मन्यमानो गुणरत्नचौरीं, विरक्तचित्तस्त्रिविधेन नारीम् ।

पवित्रचरित्रपदानुधारी, स ब्रह्मचारी विषयापहारी ॥ ७३ ॥

अर्थ—जे विरक्त पुरुष लीकों मन, वचन, काय करि गुणरत्नकी चोरनेवाली मानता सन्ता पवित्र चारित्रके पदका अनुसारी विषयनका स्यागी सो ब्रह्मचारी कहा है ॥ ७३ ॥

आगैं आरम्भ त्याग प्रतिमाकों कहै हैं—

विलोक्य षड्बीवविघातमुच्चैरारम्भमत्यस्यति यो विवेकी ।

आरम्भमुक्तः स मतो मुनीन्द्रर्विरागिकः संयमवृक्षसेकी ॥ ७४ ॥

अर्थ—अतिशयकरि षट्कायिक जीवनिका घात देखकैं जो विवेकी आरम्भकों त्यागै है सो मुनीन्द्रनिकरि आरम्भ रहित कहा है, कैंसा है सो विरागी संयम वृक्षका सींचनेवाला है ॥ ७४ ॥

आगैं परिग्रह त्याग प्रतिमाकों कहै हैं—

यो रक्षणोपार्जननश्रत्वेर्दाति, दुःखानि दुरुत्तराणि ।

विमुच्यते येन परिग्रहोऽसौ, गीतोऽपसंगैरपरिग्रहोऽसौ ॥ ७५ ॥

अर्थ—जो परिग्रह रक्षा करना उपार्जन करना विनसना दुःखतैं उतरे जाय ऐसे दुःखनिकों देय है, ऐसा यह परिग्रह जाकरि त्यागिए सो यह परिग्रह रहित जे मुनीन्द्र तिन करि अपरिग्रह कहा है ॥ ७५ ॥

आरम्भसंदर्भ विहीनचित्तः कार्येषु मारीमिव हिंस्ररूपाम् ।

यो धर्मप्रतानुमतिं न दत्ते, निगद्यते सोऽननु मंतृमुख्यः ॥ ७६ ॥

अर्थ—आरम्भकी रचना करि हीन है चित्त जाका अर धर्मका अनुमोदन करनेवाला ऐसा जो पुरुष पापकार्यनि विवैं हिंस्रकरूप मारी समान जो अनुमति कहिए सलाह ताहि न देवै सो नाहीं अनुमति करनेवालेनिमैं प्रधान कहिए है ।

भावार्थ—पाप कर्मकी अनुमोदनाका त्याग करै सो अनुमति त्यागी दशम प्रतिमाधारी कहिए, ऐसा जानना ॥ ७६ ॥

अगैं उद्विष्ट त्याग प्रतिमाकों कहै हैं—

यो बन्धुराबंधुरतुल्यचित्तो, गृह्णाति भोज्यं नवकोटिशुद्धम् ।

उद्दिष्टवर्जा गुणिभिः स गीतो, विभीलुकः संसृति मातृघान्याः ॥७७॥

अर्थ—जो पुरुष भले बुरे आहारमें समान है चित्त जाका ऐसा जो पुरुष नवकोटि शुद्ध कदिए मन, वचन, काय करि करया नाहीं कराया नाहीं करे हृएकों अनुमोघा नाहीं ऐसे आहारकों प्रहण करै है सो उद्दिष्ट त्यागी गुणवन्तनिनै कहा है, कैसा है, सो संघाररूप राक्षसीसै विशेष भयभीत है ॥ ७७ ॥

ऐसै ग्यारह प्रतिमाका वर्णन किया । इहां संक्षेप ऐसा है, जो मिथ्यात्व अर अनन्तानुबन्धी कषाय इनके उदयका अभाव तो सम्यग्दर्शन होतै ही भया । बहुरि अप्रत्याख्यानारणके उदयके अभावतै देशविरतनामा पंचम गुणस्थान होय है ताकै दर्शन प्रतिमासै लगाय ऊपर ऊपर विशुद्धताकी अधिकतातै ग्यारह भेद कहै हैं । सम्यक्सहित बारह व्रतनिहीकी ऊपर ऊपर निर्मलता होती जाय है, ऐसा जानना । इहां कोऊ कहै कि देशव्रतका घातक जो अप्रत्याख्यानारण कषाय ताके उदयका तो अभाव भया अब हीन अधिक विशुद्धता किष कर्मके उदयतै होय है ताका उत्तर—यद्यपि इहां अप्रत्याख्यानारण कषायका उदय नाहीं तथापि प्रत्याख्यानारण कषायके मन्द तीव्र उदयतै हीन अधिक विशुद्धता होय है जैसे—प्रत्याख्यान कषायका अभाव होतै षष्ठमादि गुणस्थानमें हीनाधिक विशुद्धता संज्वलनके तीव्र मन्द उदयतै होय है तैसे, ऐसा जानना ॥ ७७ ॥

क्रमेणामुंश्चिते निदधति सुदैकादश गुणा-

नलं निदा नर्हानिहितमज्ञो येऽस्ततमघः ।

भवान् द्विज्ञान् भ्रात्राऽमस्मलुजयोर्भूमिहसो-

विधूतैर्नोबंधाः परमपदनीं याति सुखदाम् ॥ ७८ ॥

अर्थ—दूर भया है 'अज्ञान' अन्धकार' जिनका, बहुरि निदा

गर्हा विषै लगाया है मन जिनमें ऐसे पुरुष अतिशय करि हर्ष सहित इन पूर्वोक्त ग्यारह गुणनकों चित्त विषै धारै हैं ते पुरुष बड़े हैं तेज जिनके ऐसे देव मनुष्यनि विषै दिय तीन भव भ्रमण करि बहुरि नाश किये है पापबंध जिनमें ऐसे ते सुखकी देनेवाली परमपदवी जो मुक्ति ताहि प्राप्त होय हैं ।

भाषार्थ—जे सम्यग्दृष्टी ग्यारह प्रतिमाको धारै हैं । आपकी निंदा गर्हा करै हैं ते दो तीन भव देवादिकके सुख भोगके सिद्ध होय है, ऐसा जानना ॥ ७८ ॥

इदं धत्ते भक्त्या गृह्णिजनहितं योऽत्र चरितं

मदक्रोधायासप्रमदमदनारम्भमकरम् ।

भवाभोधि तीर्त्वा जननमरणावर्त्तनिचितं

व्रजत्येषोऽध्यात्मा मितगतितमं निवृत्तिपदम् ॥ ७९ ॥

अर्थ—जो पुरुष इहां भक्ति सहित ये गृहस्थ जनका हितरूप चारित्रिकों धारै है सो यहू आत्मा ज्ञानी संसार-समुद्रकों तिरके सर्वज्ञ देवकरि कहा जो शिवपद ताहि प्राप्त होय है । कैसा है संसार-समुद्र क्रोध स्वेद हर्ष काम आरंभ ये ही है मगर जा विषै, बहुरि जन्म मरणरूप भौरनिकरि व्याप्त है ॥ ७९ ॥

कवित्त छन्द ।

दर्शन त्रत सामायिक प्रोषध, सचित रात्रिमोजन परिहार ।

ब्रह्मचर्य आरंभ परिग्रह, अनुमतिविरति दसम सुखकारं ॥

पुनि उद्विष्टत्याग पडिमा, इम धारत जो श्रावक दुखहार ।

सो स्वर्गादि सम्पदा लहिकै, होय अमितगति पद अविकार ॥

ऐसै भी अमितगति आचार्यविरचित भावकाचारविषै

सप्तम परिच्छेद समाप्त मया ।

अष्टम परिच्छेद ।

जागैं छह प्रकार आवश्यककौं कहै हैं:—

जिनं प्रणम्य सर्वीयं, सर्वज्ञं सर्वतो मुखम् ।

आवश्यकं मया षोढा, संक्षेपेण निगद्यते ॥ २ ॥

अर्थ—जिनदेवकौं नमस्कार करिकै मोकरि छह प्रकार संक्षेप-
करि आवश्यक कहिए है । कैसे हैं जिनदेव सर्वीयं कहिए सर्वज्ञेयाकार
रूप परिणया जो ज्ञान ता स्वरूप है, बहुरि सर्वका जाननेवाला है,
बहुरि सर्व तरफ है मुख जाका ऐसा है ।

भावार्थ—सर्वदर्शी है ॥ १ ॥

आगमोऽनन्तपर्यायो, यतो जनो व्यवस्थितः ।

अभिधातुं ततः केन, विस्तरेण च शक्यते ॥ २ ॥

अर्थ—जातैं जिनभाषित आगम है सो अनन्तभेद स्वरूप तिष्ठै
है, तातैं विस्तार सहित कौन करि कहनेकौं समर्थ हूजिए है ॥२॥

मत्तोऽपि संति ये बालाश्चिभाकारेषु जन्तुषु ।

अस्यायबोवतस्तेषामुपकारो भविष्यति ॥ ३ ॥

अर्थ—नाना प्रकार जीवनि कौं होत सन्तैं भी जे अज्ञानी है
तिनका इसके ज्ञानतैं उपकार होयगा ।

भावार्थ—आगमतौं अनन्त है सो सर्व कौन कहि सकै परन्तु
इहां संक्षेपमात्र आवश्यकका स्वरूप कहिए है, जाकै जाने मोतैं भी
जे मंदज्ञानी है तिनका उपकार होयगा, ऐसा जानना है ॥ ३ ॥

आवश्यकं न कर्तव्यं, नैःफल्यादित्यसाम्प्रतम् ।

प्रशस्ताध्यवसायस्य, फलस्यात्रोपलब्धितः ॥ ४ ॥

प्रशस्ताध्यवसायेन, संचितं कर्म नाश्रयते ।

काष्ठं काष्ठान्तकेनेव, दीप्यमानेन निश्चितम् ॥ ५ ॥

अर्थ—कोऊ कहै कि आवश्यक करना योग्य नहीं, जातें ताके फल रहितपना है ताको आचार्य कहै हैं—सो कहना अयुक्त है, जातें इस आवश्यक विषे प्रशस्त परिणामनिकी प्राप्ति है ॥ ४ ॥ बहुरि प्रशस्त परिणाम करि संचयरूप जो कर्म सो निश्चयतै नाशिए है जैसे जाज्वल्यमान अग्निकरि काठ नाशिए तैसे ॥ ५ ॥

अर्थ—कोऊ कहै कि आवश्यकका किछु फल नहीं तातें आवश्यक न करना, ताको कह्या है कि आवश्यक किया करनेतें भले परिणाम होय हैं तिन तें कर्मका नाश होय है तातें आवश्यक क्रिया निष्फल नहीं ॥ ४-५ ॥

जायते न स सर्वत्र, न वाच्यमिति कोविदैः ।

स्फुटं सम्यक्कृते तत्र, तस्य सर्वत्र सम्भवात् ॥ ६ ॥

अर्थ—सो आवश्यक क्रिया सर्व जायगा न होय है ऐसे पंडितनिकरि कहना योग्य नहीं, जातें आवश्यक क्रियाको भले प्रकार करते अन्तें सब जायगा सम्भवै है ।

भावार्थ—कोऊ कहै कि आवश्यक सर्वत्र न होवै है ताको आचार्यने कह्या है कि भले प्रकार करै सर्वत्र होय है, यामें संदेह न करना ॥ ६ ॥

न सम्यकरणं तस्य, जायते ज्ञानतो विना ।

शास्त्रतो न विना ज्ञानं, शास्त्रं तेनाभिधीयते ॥ ७ ॥

अर्थ—आवश्यक क्रियाका भले प्रकार करना तिसके ज्ञान विना न होय है । बहुरि शास्त्र विना ज्ञान नहीं ता कारण करि शास्त्र कहिए है ॥ ७ ॥

तामपूजायज्ञोऽर्पित्वे, तस्य सम्यक्कृतावपि ।

प्रशस्ताद्यवसायस्य, संभवो नोपलभ्यते ॥ ८ ॥

अर्थ—छात्र पूजा यशके अर्धीपने करि वांछा सहित तिस आवश्यक क्रियाको भले प्रकार करे संतैं भी प्रशस्त परिणामका होना न पाए है ॥ ८ ॥

तद्युक्तं यतो नेदं, सम्यक्करणमुच्यते ।

अत एवात्र मृत्यंते, सम्यक्कृत्यधिकारिणः ॥ ९ ॥

अर्थ—सो छात्र पूजादिककी वांछा सहित कारण योग्य नाहीं जातैं वांछा सहित यह कारण भला न कहिए है, इस ही तैं इहां भले करने योग्यके अधिकारी हेरिए हैं ।

भावार्थ—भले प्रकार आवश्यक क्रियाका करनेवाला पुरुषका स्वरूप कहिए है ॥ ९ ॥

संसारदेहभोगानां, योऽसारत्वमवेष्यते ।

कषायेन्द्रिययोगानां, जयनिग्रहरोषकृत् ॥ १० ॥

अर्थ—जो पुरुष संसार देह भोगनिका असारपना देखै है अर कषाय, इन्द्रिय, योग, इनका यथाक्रम, जय, निग्रह, रोष करै है ।

भावार्थ—कषायनको जीतै है इन्द्रियनको दमै है, मन वचन कायके योगनको रोकै है सो आवश्यक क्रियाका अधिकारी है ॥ १० ॥

आगैं ताका विशेष स्वरूप कहैं हैं—

अनेकयोनिपाताले, विचित्रगतिपंतने ।

जन्ममृत्युजरावर्त्ते, भूरिकल्मषपाथसि ॥ ११ ॥

संसारसागरे भीमे, दुःखकल्लोलसंकुले ।

रागद्वेषमहानक्रे, रौद्रव्याधिष्ठाकुकुले ॥ १२ ॥

चिरं वंभ्रम्यमाणानां जिनेन्द्रपद वंदना ।

दुरायां जावतैऽस्त्रयैमिति यो हृदि मन्यते ॥ १३ ॥

अर्थ—अनेक जोनि हैं पाताळ जा विषे, बहुरि नानाप्रकार

गति ही है पतन कहिए पुर जा विषै, अर जन्म मृत्यु जरा ही है
आवर्त कहिए भौरे जामै अर महापाप ही है जल जा विषै अर दुःख
रूप लहरन करि व्याप्त अर रागद्वेष ही हैं बडे नक्र जा विषै अर
भयानक रोगरूप मच्छनि करि भगवा ऐसा जो भयानक संसार-समुद्र
ता विषै बहुत कालतैं अतिशय करि अमते जे जीव तिनको जिनैद्रके
चरणनिकी जो बंदना सो अतिशय करि दुर्लभ है ऐसा जो पुरुष हृदय
विषै मानै है ॥ ११-१२-१३ ॥

बहुरि कहैं हैं—

अनर्थकारिणः कांता जननी जनकादयः ।

स्वस्योपकारिणो योऽलं बुध्यते परमेष्ठिनः ॥ १४ ॥

अर्थ—स्त्री माता पितादिकनिकी अनर्थके करनेवाले मानैं हैं
अर आपके उपकार करनेवाले पंच परमेष्ठीनको मानैं है ॥ १४ ॥

बहुरि कैसे हैं—

सर्वाणि गुहकार्याणि, परकार्याणि पश्यति ।

शुद्धधीर्भक्तकार्याणि, निजकार्याणि यः सदा ॥ १५ ॥

यौवनं जीवितं त्रिष्णमैश्वर्यं जनपूजितम् ।

नश्वरं वीक्षते सर्वं, शरटभ्रमिवात्मिम् ॥ १६ ॥

दर्शनह्यः न चारित्रात्रियं भवकानने ।

जानीते दुर्लभं भूयो भ्रष्टं रत्नमिवावुधौ ॥ १७ ॥

मयूरस्थेव मेघौषे, वियुक्तस्थेव वाधवे ।

तृषार्तस्थेव पानीषे, विषद्वस्थेव मांक्षणे ॥ १८ ॥

सन्वाधेरिव कल्पस्थे, विहृष्टेरिव लोचने ।

जाक्ते बन्धु बन्तौषो, जिनप्रकविलोकने ॥ १९ ॥

परीकृतः कातो जिनसूत्रविशारदः ।

सम्बरद्विधाविष्टो, गुरुभक्तः प्रियवदः ॥ २० ॥

आवश्यकमिदं धीरः, सर्वकर्मनिषूदनम् ।

सम्यक्कर्तुमसौ योग्यो, नापरस्यास्ति योग्यता ॥ २१ ॥

अर्थ—बहुरि जो सर्व गृह सम्बन्धी कार्यनकों परके कार्य मानै है, अर सुबुद्धी धर्म कार्यनकों सदा अपने कार्य मानै है ॥ १५ ॥

बहुरि जो यौवनकों जीवनकों घरकों अर लोकमान्य ऐश्वर्यकों सबकों शरदके मेघ समान निरन्तर विनाशिक देखे है ॥ १६ ॥

बहुरि संसार वनमें दर्शनज्ञान चारित्रके त्रितयकों जैसे समुद्र विषै पठ्या रत्न फेर दुर्लभ है तैसै मानै है ॥ १७ ॥

बहुरि मेघनके समूह विषै मयूरनके हर्ष होय तथा विछुरे पुरुषकै बाधव विषै हर्ष होय तथा प्यासकरि पीडित पुरुषकै जल विषै हर्ष होय वा बंधेकै छूटने विषै हर्ष होय ॥ १८ ॥

वा रोग सहितकै नीरोगपनेमें हर्ष होय अन्धेकै नेत्र विषै हर्ष होय तैसै जाकै जिनेन्द्रके मुख देखने विषै हर्ष होय है ॥ १९ ॥

बहुरि क्षुधादि परीषहनिका सहनेवाला होय शांत होय जिनसूत्र विषै प्रवीण होय सम्यग्दृष्टि होय मानरहित होय गुरुभक्त होय प्रिय बोलनेवाला होय ॥ २० ॥

सो यहूधीर पुरुष सर्व कर्मका नाश करनेवाला जो यहू आवश्यक ताहि करने योग्य है, और पुरुषकै आवश्यक करनेकी योग्यता नाहीं; ऐसा जानना ॥ २१ ॥

आमें फेर कहैं हैं;—

औचित्यवेदकः श्राद्धो, विधान करणोऽथतः ।

कर्मनिर्जराकाक्षी, स्ववशीकृतमानसः ॥ २२ ॥

भक्तिको बुद्धिमानधी, बहुमानपरायणः ।

पठन श्रवणे योग्यो, विनयोऽथमभूषितः ॥ २३ ॥

अर्थ—उचितपनेका जाननेवाला होय ।

भावाथ—यह काळादिक आवश्यकके उचित है ऐसा जाके ज्ञान होय, बहुरि श्रद्धावान होय, अर आवश्यकके विधान करनेमें उद्यमी होय, अर कर्मकी निर्जराका वाञ्छक होय, अर अपने बश किया है मन जानै ऐसा होय ॥ २२ ॥

बहुरि भक्तिमान् होय, बुद्धिमान होय, धर्मार्थी होय महाविनयमें तत्पर होय, अर पढ़ने विषै सुनने विषै योग्य होय, अर विनय बहित आवश्यकके उद्यम करि भूषित होय ॥ २३ ॥

आगे फेर कहै हैं;—

गुणाय जायते शांते, जिनेन्द्रवचनामृतम् ।

उपशांतञ्चरे पूतं, भैषज्यमिव योजितम् ॥ २४ ॥

अर्थ—राग द्वेषकी मदतातैं शांतभया जो पुरुष ताविषै जिनेन्द्रका वचनामृत गुणके अर्थ होय है, जैसे उपशांत भया है उचर जाका ऐसा पुरुष विषै योजित किया औषध जैसे गुणके अर्थ होय तैसै ॥ २४ ॥

अयोग्यस्य वचो जैनं, जायतेऽनर्थहेतवे ।

यतस्ततः प्रयत्नेन मृग्यो योग्यो मनीषिभिः ॥ २५ ॥

अर्थ—जातैं अयोग्य पुरुषके जिनेन्द्रका वचन अनर्थ निमित्त होय है ।

भावाथ—मिथ्यादृष्टी जिन वचनका प्रयोजन न जानि उलटा एकांत पकड़ि अपना बिगाड़ करै है, तातैं पंडितनि करि यत्नबहित योग्य पुरुष हेरना योग्य है ॥ २५ ॥

कषायाकुलिते व्यर्थं, जायते जिनशास्त्रम् ।

बन्निपातञ्चराळीढे, दसं पथ्यमिवौषधम् ॥ २६ ॥

अर्थ—कषाय करि आकुलित पुरुष विष विषशास्त्र विवर्धकः

होय है, जैसे तन्निपात धरेशहित पुरुष विषे दिया हितरूप औषध व्यर्थ होय तैस ।

भावार्थ—तीव्र कषायीको जिन वचन न रुचै है, ऐषा जानना ॥ २६ ॥

आगे आवश्यक करनेवाले चिह्न कहैं हैं:—

सत्कषा भ्रमणानन्दो, निदाश्रवणवर्जनम् ।

अलुब्धत्वमनालस्यं, निषकर्मव्यपोहनम् ॥ २७ ॥

कालक्रम व्युदाशित्वमुपशांतत्वमार्दवम् ।

विज्ञेयानीति चिह्नानि, षडावश्यककारिणः ॥ २८ ॥

अर्थ—मजी कषाके लुपनेमें ती आनंद, अर परनिदाके लुपनेका त्याग, अर निलोभपना, अर आलस्य रहितपना, अर निष कर्मका त्याग ॥ २७ ॥

अर कालके छलंधनेका त्यागीपना, अर मान रहितपना, इत्यादिक चिह्न हैं ते षट् आवश्यकका करनेवाला जो पुरुष ताके जानने योग्य हैं ॥ २८ ॥

आगे छह आवश्यकके नाम कहैं हैं:—

शामायिकं स्तवः प्राज्ञैर्वन्दना सप्रतिक्रमा ।

प्रत्याख्यानं तनूत्सर्गः, षाडावश्यकमोरितम् ॥ २९ ॥

अर्थ—शामायिक १, स्तवन १, वन्दना १, प्रतिक्रमण १, प्रत्याख्यान १, कानोत्सर्ग १ ऐसैं छह प्रकार आवश्यक पंडितनि करि कहा हैं ॥ २९ ॥

द्रव्यतः श्रेयतः सम्यक्कालतो भावती बुधेः ।

भावतो स्वांसैतो ज्ञातवा, प्रत्येकं तैन्नियुज्यते ॥ ३० ॥

अर्थ—द्रव्यतै, ज्ञैतै, कालतै, भावतै, नामतै, स्थापनातै, अल्लेप्रकार आवश्यक एकएक प्रति लंगाई है ।

भावार्थ—सामायिकादि छहों क्रियानमें नामादिक, छह छह लगाइए है, जैसे—द्रव्यसामायिक, क्षेत्रसामायिक, कालसामायिक, भावसामायिक, नामसामायिक, स्थापनासामायिक । ऐसैं ही स्तवादि विवैं लगाय लेना ॥ ३० ॥

आगैं सामायिकका स्वरूप कहैं हैं:—

जीविते मरणे योगे, वियोगे विप्रिये प्रिये ।

शत्रौ मित्रे सुखे दुःखे, साभ्यं सामायिकं विदुः ॥ ३१ ॥

अर्थ—जीवनेमें अर मरनेमें, संयोगमें अर वियोगमें, अप्रियमें अर प्रियमें, शत्रुमें अर मित्रमें, सुखमें अर दुःखमें, समभावकों सामायिक कहैं हैं ।

भावार्थ—सर्व ही जीवना मरणा आदिको ज्ञेयपने करि समान जान करि रागद्वेष न करना सो सामायिक कहिए ॥ ३१ ॥

आगैं स्तवका स्वरूप कहैं हैं;—

जिनानां जितजेयाना, मन्तगुणभागिनाम् ।

स्तवोऽस्तावि गुणस्तोत्रं, नामनिर्वचनं तथा ॥ ३२ ॥

अर्थ—जीते हैं जितने योग्य कर्म जिननैं ऐसे जे जिन अर्हन्त तिनका जो गुणनिका स्तोत्र तथा नामकी निरुक्ति करना सो स्तव कहा है, कैसे हैं जिन अनन्त गुणके भजनेवाले ऐसे हैं ।

भावार्थ—जिनदेवके अनंतज्ञानादि गुणनिका स्तोत्र पढ़ना “ तथा कर्म बैरीनिकों जीतैं सो जिन ” इत्यादि नामनिकी निरुक्ति करना सो स्तव कहिए ॥ ३२ ॥

आगैं वन्दनाका स्वरूप कहैं हैं—

कर्मारप्यदुताशानां, पञ्चानां परमेष्ठिनाम् ।

अणतिर्लक्ष्णाऽवदि, निष्कृत्वा प्रियिका हृषीः ॥ ३३ ॥

अर्थ—कर्मबनकों अग्नि समान जे पंचपरमेष्ठी तिनकों नमस्कार करना सो मन, वचन, कायकी शुद्धि ताकरि तीन प्रकार बन्दना पंडितनि करि कही ।

भावार्थ—पंचपरमेष्ठीकों प्रणाम करना सो बन्दना कहिए ॥ ३३ ॥

आगैं प्रतिक्रमणका स्वरूप कहैं हैं—

द्रव्यक्षेत्रादिषम्पन्नदोषजालविशोधनम् ।

निंदागर्हा क्रियालीढं, प्रतिक्रमणमुच्यते ॥ ३४ ॥

अर्थ—द्रव्य क्षेत्र आदि शब्दतैं काल अर भाव इन विषैं लगे जे दोष तिनके समूहका विशेष शोधना निन्दा गर्हादि क्रिया सहित सो प्रतिक्रमण कहिए है ।

भावार्थ—निंदा गर्हासहित लगे दोषनकों याद करि निराकरण करन सो प्रतिक्रमण करना सो प्रतिक्रमण कहिए ॥ ३४ ॥

आगैं प्रत्याख्यानका स्वरूप कहैं हैं—

नामादीनामयोग्यानां, घण्णां त्रेधा विवर्जनम् ।

प्रत्याख्यानं समाख्यातमागम्यागोनिषिद्धये ॥ ३५ ॥

अर्थ—अयोग्य जे नामादिक कहिए नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्र काल भाव छहौंनकों आगामी पापके निषेधके अर्थ मन, वचन, काय करि त्याग करना सो प्रत्याख्यान कहा है ।

भावार्थ—आगामी पापका त्याग करनेकै अर्थ अयोग्य द्रव्यादिका त्याग करना सो प्रत्याख्यान कहिए ॥ ३५ ॥

आगैं कायोत्सर्गकों कहैं हैं—

आवश्यकेषु सर्वेषु, यथाकालमनाकुलः ।

कायोत्सर्गस्तनूत्सर्गः, प्रशस्तध्यानवर्द्धकः ॥ ३६ ॥

अर्थ—सर्व आवश्यक क्रियास विषैं निज काल साहिए तिष ही

काल आकुलता रहित शरीर विषै ममत्वका त्याग को प्रशस्त ध्यानका बढावनेवाला कायोत्सर्ग है ।

भाषार्थ—सामायिकादि क्रियानि विषै यथाकाल शरीरसै ममत्व त्यागना को कायोत्सर्ग कहिए ॥ ३६ ॥

आगै आवश्यक क्रियानिमें आसननादिकका विधान कई है—

ज्ञेयस्तत्रासनं स्थानं, कालो मुद्रा तनूत्सृतिः ।

नामावर्त्तप्रभा दोषा, षडावश्यककारिभिः ॥ ३७ ॥

अर्थ—छह आवश्यक करनेवाले पुरुषनि करि तहां आसन १ स्थान, १ काल, १ मुद्रा, १ कायोत्सर्ग, १ प्रणाम, १ आवर्त्त, १ प्रमाण दोष इतनी वस्तुका जानना योग्य है ॥ ३७ ॥

आगै आसनका वर्णन करै हैं;—

आस्यते स्थीयते यत्र, येन वा वन्दनोद्यतैः ।

तदासनं विबोद्धव्यं, देशपद्मासनादिकम् ॥ ३८ ॥

अर्थ—वन्दना करनेमें उद्यमी जे पुरुष तिनकरि जाविषै वा जाकरि आस्यते कहिये स्थिररूप हूजिए सो देश कहिए क्षेत्र अर पद्मासनादिक आसन जानने योग्य हैं । ऐसे आसन शब्दकी निरुक्ति करी ॥ ३८ ॥

आगै आवश्यक करनेके अयोग्य क्षेत्रनिकों कई हैं;—

संसक्तः प्रचुरच्छिद्रस्तृणपांश्वादिदूषितः ।

विक्षोभको हृषीकाणं, रूपगन्धघ्रादिभिः ॥ ३९ ॥

परीषद्भक्तो दंशशीतवातातपादिभिः ।

असंबद्धजनालापः सावधारम्भगर्हितः ॥ ४० ॥

आर्द्दीभूतो मनोऽनिष्टः समाधाननिवृद्धकः ।

योऽशिष्ट जगसंचारः प्रदेशं तं विवर्जयेत् ॥ ४१ ॥

अर्थ—संसक्त कहिये स्त्रीपुरुष नपुंसकादिकनिकी भीड़ जहाँ होय । बहुरि बहुत छिद्रनकरि युक्त होय, अर तृण धूलि आदि करि दूषित होय, बहुरि रूप गन्धरस इत्यादिकनि करि इन्द्रियनिकौ विशेष क्षोभ करनेवाला होय । ३८ ॥ बहुरि शीत वात दंश आताप आदि करि परीषहका करनेवाला होय, बहुरि असंबद्ध कहिए सम्बन्धरहित निःप्रयोजन मनुष्यनिका जहाँ वचनालाप होय, बहुरि पापसहित आरम्भ करि निदित होय ॥ ४० ॥ चालो होय, मनकौ अनिष्ट होय, समाधानका नाश करनेवाला होय, अर नीच लोकका जहाँ संचार होय ऐसा होय ता क्षेत्रकौ त्यागै ॥ ४१ ॥

भावार्थ—आवश्यक करनेवाला पूर्वोक्त क्षेत्रकौ चित्तकौ क्षोभकारी जानि परित्याग करै ॥

आगै आवश्यक योग्य स्थानकौ कहै हैं—

विविक्तः प्रासुकः सेव्यः, समाधानविवर्द्धकः ।

देवर्जुदृष्टिसंपातवर्जितो, देवदक्षिणः ॥ ४२ ॥

जनसंचारनिर्मुक्तो, ग्राह्यो देशो निराकुलः ।

नासन्नो नातिदूरस्थः, सर्वोपद्रववर्जितः ॥ ४३ ॥

अर्थ—एकांत होय, अर प्रासुक होय, सेव्य कहिए ब्रतीनके सेवने योग्य होय, अर समाधानका बढ़ावनेवाला होय, अर देव कहिए जिन चैत्यादिक तिनकी सूधी दृष्टिके पड़नेकरि रहित होय ।

भावार्थ—प्रतिमादिकके सम्मुख न होय, अर जिन चैत्यादिकके दाहना होय ॥ ४२ ॥ अर मनुष्यनिके आने जानेकरि रहित होय अर न अति निकट न अति दूर होय, सर्व उपद्रव करि वर्जित होय, ऐसा निराकुल क्षेत्र ग्रहण करना योग्य है ।

भावार्थ—ऐसे क्षेत्रमें सामाजिक करै ॥ ४३ ॥

आगै जायें बैठै ताका रूप कहै हैं—

स्थेयोऽच्छिद्रं सुखस्पर्शं, विशब्दकमजतुकम् ।

तृणकाष्ठादिकं प्राह्यं विनयस्योपबृंहकम् ॥ ४४ ॥

अर्थ—थिर होय, छिद्र रहित होय, सुखरूप होय स्पर्श जाका ऐसा होय, शब्द रहित होय, जीवरहित होय, वैराग्यका बढ़ावनेवाला होय, ऐसा तृणकाष्ठादिकका सायस प्रहण करना योग्य है ॥ ४४ ॥

आगें आसनका स्वरूप कहैं हैं—

जंघाया जंघयादलेषे, समभागे प्रकीर्तितम् ।

पद्मासनं सुखावाधि, सुषाध्यं सकलैर्जनैः ॥ ४५ ॥

अर्थ—समभाग विषै जंघाकरि जंघाका अःदलेष कहिए गाढा चिपटना होय मो सुख का आधार समस्त जननि करि सुखते साधने योग्य सा पद्मासन कहा है ॥ ४५ ॥

बुधैरुषर्यधोभागे, जंघयांरुभयोरपि ।

समस्तयोः कृते ज्ञेयं पर्यकासनमासनम् ॥ ४६ ॥

अर्थ—सर्व दोऊ जंघानको ऊर अर अधोभागमें करे संते पडितजननिकरि पर्यकासन नामका आसन जानने योग्य है ॥४६॥

ऊर्वोरुपरि निक्षेपे, पादयोर्विहिते षति ।

वीरासनं जिरं कर्त्तुं शक्यं वीरैर्न कातरैः ॥ ४७ ॥

अर्थ—दोऊ चरणनिकौ ऊरू कहिए जाँघ ऊपरि घरे संते वीरासन आसन होय है । या वीरासनको बहुत काल ताई वीर पुरुष ही करनेको समर्थ हैं, कायर समर्थ नहीं है; ऐसा जानना ॥ ४७ ॥

युतपार्ष्णिभवे योगे, स्थूलमुत्कुटुकासनम् ।

गवासनं जिनैरुक्तमार्याणां यतिवन्दने ॥ ४८ ॥

अर्थ—दोऊ एडीनके योगमें उत्कुटकासन जानना । बहुरि आर्यिका जब मुनिनको बन्दना करै है तब जिनभगवान करि गवासन नामका आसन कहा है ॥ ४८ ॥

विनयासक्तचित्तानां, कृतिकर्मविघाथिनाम् ।

न कार्यव्यतिरेकेण, परमासनमिष्यते ॥ ४९ ॥

अर्थ—विनयविधेँ आसक्त चित्त जिनका ऐसे जे कृतिकर्म करनेवाले पुरुष तिनको कार्य विना और आसन न कहिए है ।

भावार्य—पद्मासन और कायोत्सर्ग इन आसननि विना और आसन किछु कार्य विशेष होय तौ करै, कार्य विना दोय ही आसन करना जोग्य है, ऐसा मानना ॥ ४९ ॥

ऐसों आसनका वर्णन किया । आगें स्थानका स्वरूप कहै हैं:—

स्थीयते येन तत् स्थानं, द्विःप्रकारमुदाहृतम् ।

बन्दना क्रियते यस्मादूर्ध्वाभूयोपविश्य वा ॥ ५० ॥

अर्थ—जा करि स्थिर हूजिए सो स्थान दोय प्रकार कहा है तातैं बन्दना है, सो खड़े रहकरि वा बैठकरि करिये है ।

भावार्य—खड़े रहना वा बैठना ऐसा दोय प्रकार स्थान जानना ॥ ५० ॥

आगें कालका स्वरूप कहै हैं—

घटिकानां मतं षट्कं, संघ्यानां त्रितये जिनैः ।

कार्यस्यापेक्षया कालः, पुनरन्यो निगद्यते ॥ ५१ ॥

अर्थ—संघ्यानिका कालत्रय कहिए प्रभात, मध्याह्न, सायंकाल इन तीनों संघ्यानविष छह घड़ी काळ जिनदेवनिनैँ आवश्यकका कहिए है । बहुरि कार्यकी अपेक्षा करि और कहिए है ।

भावार्य—मुख्य काल तौ छह घड़ी ही काल कहा है, बहुरि कार्यकी अपेक्षा करि दोय घड़ी आदि भी कहा है ॥ ५१ ॥

आगें मुद्राका स्वरूप कहै हैं—

जिनेन्द्रवन्दनायोगमुक्ताशुक्तिविमेदतः ।

चतुर्विधोदिता मुद्रा, मुद्रामार्गविशारदः ॥ ५२ ॥

अर्थ—जिनेन्द्रमुद्रा १ वन्दना मुद्रा १ योगमुद्रा १ मुक्ता-
शुक्तिमुद्रा १ इन भेदनिकरि मुद्राके मार्गविषै प्रवीण जे पुरुष तिन
करि प्यार प्रकार मुद्रा कही है ॥ ५२ ॥

आगै जिनमुद्राका स्वरूप कहै हैं—

जिनमुद्रांघरं कृत्वा, पादयोश्चतुरंगुलम् ।

ऊर्ध्वजानोरवस्थानं, प्रलंबितभुजद्वयम् ॥ ५३ ॥

अर्थ—दोऊ पादनका चार अंगुल अन्तर करिकै घुटनेके ऊपर
स्थित ऐसी लम्बायमान दोऊ भुजा जानै सो जिनमुद्रा जानना ॥ ५३ ॥

आगै वन्दना मुद्राका स्वरूप कहै हैं—

मुकुलीभूतमाषाय, जठरोपरि कूर्परम् ।

स्थितस्य वन्दना मुद्रा, करद्वन्द्वं निवेदितम् ॥ ५४ ॥

अर्थ—मुकुलीभूत कहिए कमलकी डोडां समान अर पेटके ऊपर
है कुटनी जाविषै, ऐसै विनती करनेवाला हस्त युगलको धारिकै
तिष्ठया जो पुरुष ताकै वन्दना मुद्रा कही है ॥ ५४ ॥

आगै योग मुद्राका स्वरूप कहै हैं—

जिनाः पद्मासनादीनामंक्रमध्ये निवेशनम् ।

उत्तानकरयुगमस्य, योगमुद्रां वभाषिरे ॥ ५५ ॥

अर्थ—ऊँचा है हथेलीनका मुख जाका ऐसा हस्त युगलको
पद्मासनादिकनिका ओलीके मध्य विषै जो धारना ताहि जिन जे
अहंतादिक ते योगमुद्रा कहै हैं ॥ ५५ ॥

आगै मुक्ताशुक्तिमुद्राका स्वरूप कहै हैं—

मुक्ताशुक्तिर्मता मुद्रा, जठरोपरि कूर्परम् ।

ऊर्ध्वजानोः कर द्वंद्वं, संलग्नांगुलि सूरिभिः ॥ ५६ ॥

अर्थ—पेटके ऊपर है कूर्पर कहिए कुहनी जाविषै अर घुटनेके

ऊपर हैं हस्त युगल जाके अर भले प्रकार लग रही है अंगुली जाकी
सो मुक्तामुक्तिमुद्रा आचार्यनि करि कही है ॥ ५६ ॥

आगैं कायोत्सर्गका स्वरूप कहैं हैं—

त्यागो देहममत्वस्य, तनूत्सृतिरुदाहृता ।

उपविष्टोपविष्टादिविभेदन चतुर्विधा ॥ ५७ ॥

अर्थ—शरीरके ममत्वका जो त्याग सो कायोत्सर्ग उपविष्टोपवि-
ष्टादि भेद करि चार प्रकार कहा है ॥ ५७ ॥

तहाँ प्रथम उपविष्टोपविष्ट कायोत्सर्गको कहैं हैं—

आर्त्तौद्रव्यं यस्यामुपविष्टेन चिंत्यते ।

उपविष्टोपविष्टाख्या, कथ्यते सा तनूत्सृतिः ॥ ५८ ॥

अर्थ—जाविषैं आर्त्त रौद्रध्यान दोनों बैठ करि चिंतिए सो
उपविष्टोपविष्ट नामा कायोत्सर्ग कहिए है ।

भावार्थ—जामैं जीवके परिणाम वा शरीर दोनों पड़ते हैं तातैं
उपविष्टोपविष्ट कहा है ॥ ५८ ॥

आगैं उपविष्टोत्थित कायोत्सर्गको कहैं हैं—

धर्मशुक्लद्वयं यस्यामुपविष्टेन चिंत्यते ।

उपविष्टोत्थितां संतस्तां, वदन्ति तनूत्सृतिम् ॥ ५९ ॥

अर्थ—जाविषैं धर्म अर शुक्ल दोनों बैठ करि चिंतिए ताहि
सन्त जन उपविष्टोत्थित कायोत्सर्ग कहैं हैं ।

भावार्थ—इसमें शरीर तो बैठा है अर परिणाम चढतैं हैं,
तातैं उपविष्टोत्थित कहा है ॥ ५९ ॥

आगैं उत्थितोपविष्ट कायोत्सर्ग कहैं हैं—

आर्त्तौद्रव्यं यस्यामुत्थितेन विधीयते ।

तामुत्थितोपविष्टाह्वा, निगदन्ति महाधिपः ॥ ६० ॥

अर्थ—जाविषै आर्त्तरौद्र ध्यान ठाढे होय करि करिए ताकूं
महाबुद्धि पुरुष उत्थितोपविष्ट नाम कायोत्सर्ग कहै हैं—

भावार्थ—जा विषै परिणाम तो पड़ते हैं अर शरीर खड़ा है,
तातैं उत्थितोपविष्ट कहा है ॥ ६० ॥

आगैं उत्थितोस्थित कायोत्सर्ग कहै हैं—

धर्मशुक्लद्वयं यस्यामुत्थितेन विधीयते ।

उत्थितोत्थितनामानं, तं भाषते विपश्चितः ॥ ६१ ॥

अर्थ—जा विषै धर्म शुक्ल दोनो ध्यान ठाढे होय करि करिए
ताकौं उत्थितोत्थित कायोत्सर्ग कहै हैं—

भावार्थ—जा विषै परिणाम चढत हैं अर शरीर भी खड़ा है
तातैं उत्थितोत्थित कहा है, ऐषा जानना ॥ ६१ ॥

एकद्वित्रिचतुः पंचदेहांशप्रतेर्मतः ।

प्रणामः पंचधा देवैः, पादान्तनरामरैः ॥ ६२ ॥

अर्थ—एक दोय तीन चार पांच जे शरीरके अंग तिनके
नमनतैं पांच प्रकार प्रणाम जिनदेवनिनै कहा है, जिनदेव कैसे हैं
जिनके चरननकौं सर्व तरफतैं देव अर मनुष्य नमै है ॥ ६२ ॥

एकांगः शिरसो नामे, स्रज्यांगः करयोर्द्वयोः ।

प्रयाणां मूर्द्धहस्तानां, स्रज्यांगो नमने मतः ॥ ६३ ॥

चतुर्णां करजानूनां, नमने चतुरंगकः ।

करमस्तकजानूनां पंचांगः पंचक्ष नते ॥ ६४ ॥

अर्थ—एक मस्तकहीके नमावने विषै एकांग नमस्कार कहिए
अर दोऊ हाथनके नमावनेमैं द्वयंग कहिए दोय अंगनि करि नमस्कार
कहिए, अर मस्तक अर दोय हाथके नमावनेमैं त्र्यंग कहिए तीन
अंग करि नमस्कार कहा है ॥ ६३ ॥ अर दोय हाथ अर दोय घुटने

इन च्यारों नमनमें च्यार अंगनिकरि नमस्कार कहा है, अर दोय हाथ अर एक मस्तक अर दोय घूटे इन पांचनकों नमाये संते पंचांग नमस्कार है । ऐषा जानना ॥ ६४ ॥

आगैं आवर्त्तकका स्वरूप कहैं हैं—

कथिता द्वादशावर्त्ता, वपुर्वचनचेतसाम् ।

स्तवसामायिकाद्यंतपरावर्त्तनलक्षणाः ॥ ६५ ॥

अर्थ—शरीर वचन चित्त इनका स्तवन अर सामायिकके आदि अंतमें आवर्त्तन कहिए फेरना है लक्षण जिनका ऐसे बारह आवर्त्ता कहैं हैं ।

भावार्थ—सामायिकादिकके आदि अंतमें मन वचन कायके योगकों हाथ जोडिकै तीन बार भक्ति सहित पलटना तब एक बार मस्तक नमावना, ऐसैं च्यार बार मस्तक नमावनेमें बारह आवर्त्ता जानना ॥ ६५ ॥

आगैं कायोत्सर्गकी संख्या कहैं हैं—

अष्टविंशतिषंख्यानाः, कायोत्सर्गा मता जिनैः ।

अहोरात्रगताः सर्वे, षडावश्यककारिणाम् ॥ ६६ ॥

अर्थ—छह आवश्यक करनेवालेनके रात्रिदिन विषैं सर्व अठ्ठाईस कायोत्सर्ग जिनदेवनैं कहे हैं ॥ ६६ ॥

आगैं ते अठ्ठाईस कायोत्सर्ग कहां कहां होय हैं तिनका स्वरूप कहैं हैं—

स्वाध्याये द्वादश प्राज्ञैर्वंदनायां षडीरिताः ।

अष्टौ प्रतिक्रमे योगमक्तौ तौ द्वावुदाहृतौ ॥ ६७ ॥

अर्थ—पंडितनिनैं स्वाध्याय विषैं बारह कायोत्सर्ग कहे हैं, अर वंदनामें छह कहे हैं अर प्रतिक्रमण विषैं आठ कहे हैं अर

योगभक्ति विषै ते दोय कायोत्सर्ग कहे हैं । ऐसै सर्व अट्टाईस कायोत्सर्ग करनेका अवसर जानना ॥ ६७ ॥

आगै कौन कायोगसर्ग कितने उच्छ्वास ताई करना ताका प्रमाण कहै हैं—

अष्टोत्तरशतोच्छ्वासः, कायोत्सर्गः प्रतिक्रमे ।

षाड्ये प्रामातिके वाह्यमन्यस्नत्सप्तविंशतिः ॥ ६८ ॥

अर्थ—एकसौ आठ उच्छ्वासमात्र कायोत्सर्ग संघ्या सम्बन्धी प्रतिक्रमणमें कहा है, अर प्रभात सम्बन्धी प्रतिक्रमणमें अर्द्ध कहिए चौवन उच्छ्वास मात्र कायोत्सर्ग कहा है, बहुरि और कायोत्सर्ग सत्ताईस उच्छ्वास मात्र कहा है ॥ ६८ ॥

सप्तविंशतिरुच्छ्वासाः, संसारोन्मूलनक्षमे ।

संति पंचनमस्कारे, नवधा चितिते सति ॥ ६९ ॥

अर्थ—संसारके नाश करनेमें समर्थ जो पंचनमस्कार मंत्र ताका नव प्रकार चितवन करे संते सत्ताईस उच्छ्वास होय है ।

भावार्थ—एक णमोकार मंत्रका जाप तीन उच्छ्वासमें करै ऐसै नव णमोकार जापमें सत्ताईस उच्छ्वास जानना ॥ ६९ ॥

प्रतिक्रमद्वयं प्राज्ञैः, स्वाध्यायानां चतुष्टयम् ।

वन्दना त्रितयं योगभक्तिद्वितयमिष्यते ॥ ७० ॥

अर्थ—प्रतिक्रमण दोय, स्वाध्याय च्यार, वन्दना तीन, योगभक्ति दोय पंडितनि करि कहिए है ॥ ७० ॥

उत्कृष्टश्रावकेणैते विधातव्याः प्रयत्नतः ।

अन्यैरेते यथाशक्ति संसाराते वियासुभिः ॥ ७१ ॥

अर्थ—जे प्रतिक्रमणादि पूर्वे कहे ते उत्कृष्ट श्रावक करि मळे

प्रकार जतनै करना योग्य है, बहुरि और जे संसारके पार जानेके इच्छुक हैं तिन करि प्रतिक्रमणादिक जैसी शक्ति होय तैसै करना योग्य है ॥ ७१ ॥

इच्छाकारं समाचारं, संयमासंयमस्थितिः ।

विशुद्धवृत्तिभिः सार्द्धं, विदधाति प्रियंवदाः ॥ ७२ ॥

अर्थ—संयमासंयम विषै है स्थिति जाकी, भावार्थ—एक ही समय ब्रह्मिष्ठाका त्यागी अर स्यावर हिष्ठाका त्यागी ऐसा देशव्रती, प्रिय वचनका बोलनेवाला, सो निर्मल है प्रवृत्ति जिनकी ऐसे जे आचार्यादिक तिनके साथ इच्छाकार नामा समाचारको करै है ।

भावार्थ—श्रावक है सो आचार्यादिकके उपदेशमें इच्छा करै है, कहै है कि हे भगवन् ! आप कहा सो मैं इच्छूं हूं । ऐसा जानना ॥ ७२ ॥

वैराग्यस्य परां भूमिं, संयमस्य निकेतनम् ।

उत्कृष्टः कारयत्येष, मुंडनं तुंडमुंडयोः ॥ ७३ ॥

अर्थ—उत्कृष्ट श्रावक है सो वैराग्यकी परम भूमिका अर संयमका ठिकाना ऐसा, तुंड कहिये मुख डाढ़ी मूँछका अर मुंड कहिए मूँछके बालका मुंडन जो मूँछना ताहि करावै ही है ।

भावार्थ—ग्यारह प्रतिमाका धारी उत्कृष्ट श्रावक डाढ़ी मूँछके बाल कतरावै है, ऐसा जानना ॥ ७३ ॥

केवलं वा सवखं वा, कौपीनं स्वीकरोत्यसौ ।

एकस्थानान्नपानीयो, निदगर्हापरायणः ॥ ७४ ॥

अर्थ—यहु उत्कृष्ट श्रावक है सो केवल कौपीन वा सवखसहित कौपीनको अंगीकार करै है, कैसा है यहु एक स्थान विषै ही है अन्न-पानीका लेना जाके अर आपकी निंदा अर गर्हा विषै तत्पर है ॥ ७४ ॥

स घर्मलाभशब्देन, प्रतिवेश्म सुषोपमम् ।

सपात्रो याचते भिक्षां, जरामरणसूदनीम् ॥ ७५ ॥

अर्थ—सो श्रावक पात्रघहित घर घर प्रति अमृत समान घर्म-
लाभ शब्द करि जरा मरणकी नाश करनेवाली भिक्षाको याचै हे,
ऐसा जाना ॥ ७५ ॥

आगै वन्दनाके बत्तीस दोषनिका वर्णन करै है:—

समस्तादरनिर्मुक्तो, मदाष्टकवशीकृतः । प्रतीक्ष्य पीडताकारी,
कूर्चमूर्द्धजकुंचकः ॥ ७६ ॥ चलयन्निखिलं कायं, टोळारूढ इवाभितः ।
अप्रतः पार्श्वतः पश्चाद्दिषन् कूर्म इवाभितः ॥ ७७ ॥ करटी वांकुशारूढः
कुर्वन् मूर्द्धनतोन्नती । क्षिप्रं मत्स्य इवोत्प्लुत्य परेषां निपतन् पुगः ॥ ७८ ॥
कुर्वन् वक्षोभुजद्वंद्वं, विज्ञप्तीं द्राविडीमिव । पूज्यात्मासादनाकारी,
गुर्वादिजनभीषितः ॥ ७९ ॥ भयघ्नकवित्रस्तः, परिवारद्विगर्वितः ।
समाजतो वहिर्भुय किंचिल्लज्जाकुलाशयः ॥ ८० ॥ प्रतिकूलो गुरोर्भूत्वा,
कुर्वाणो जल्पनादिकम् । कस्यचिदुपरि क्रुद्धस्तस्याकृत्वा क्षमा
त्रिधा ॥ ८१ ॥ ज्ञास्यते वंदनां कृत्वा भ्रमयेस्तजनामिति । हसनोद्धृते
कुर्वन्, भृकुटी कुटिलालकः ॥ ८२ ॥ निकटीभूय गुर्वादे, राचार्यादि-
भिरीक्षितः । करदानं गणेरमत्वा, कृत्वा दृष्टिपथं गुरोः ॥ ८३ ॥
लब्धोपक्राणादीनि, तेषां लाभाशयापि च । असंपूर्णविधानेन, सूत्रा-
दितपिधायकम् ॥ ८४ ॥ कुर्वन् मूक इवात्यर्थं, हुँकारादि पुः सरः ।
वंदारूणां स्वशब्देन परेषां छादयन् ध्वनिम् ॥ ८५ ॥ गुर्वादेरग्रतो
भूत्वा, मूर्द्धोपरिक्रमभ्रमी । द्वात्रिंशदिति मोक्तव्या दोषा वंदन-
कारिणाम् ॥ ८६ ॥

अर्थ—समस्त आदर रहित क्रियाकर्म करना सो अनाहृत दोष
है । १-बहुरि जात्यादि अष्टमदके वशीभूत भया वंदना करै सो स्तब्ध

दोष है, २-बहुरि प्रतीक्य कहिए देखकरि अंगनकों पीढे दाबै सो पीडित दोष है, ३-बहुरि डाढ़ीके वा मूँछके सिरके बालनकों मरोडै सो कुंचित दोष है, ४-बहुरि डोलामें बैठकी ज्यो समस्त शरीर चलावतासंता वंदना करै सो दोलायित दोष है, ५-बहुरि आगेतैं पषवाडेतैं पंछेतैं कछवेकी ज्यो तरफसैं चेष्टा करै अंग संकोचै वा विस्तारै सो कच्छपैंगित दोष है, ६-बहुरि हाथके अगूठाकों मस्तक विषै अंकुशकी ज्यो लगाय करकै बाकी ज्यो मस्तकों नीचा ऊँचा करै सो अंकुशित दोष है, ७-बहुरि मच्छकी ज्यो उल्लककरि औरनके आगै पडै वा मछलीकी ज्यो तडफडावै सो मत्स्योद्धत दोष है, ८-बहुरि द्रविड देशके पुरुषकी विनती समान वक्षस्थल्पै दोऊ हाथ करकै वंदना करै सो द्राविडी विज्ञप्ति दोष है तथा याहीका नाम वेदिकाबद्ध दोष है, ९-बहुरि आचार्यादिक पूज्य पुरुषनकी विराधना करता वंदना करै सो आसादना दोष है, १०-बहुरि गुरु आदिकके भयत वंदना करै सो विभीत दोष है, ११-बहुरि जो मरणादिक सात भयकरि भयभीत भया वंदना करै सो भय दोष है, १२-बहुरि परिवारश्रद्धि करि गर्वित भया संता वंदना करै सो ऋद्धिगौरव दोष है, १३-बहुरि साधमीनके समाजतैं बाहिर होय करि मानौ लज्जातैं किंचित् आकुल भया वंदना करै सो लज्जित दोष है, १४-बहुरि गुरुकै प्रतिकूल होय करि वंदना करै सो प्रतिकूल दोष है, १५-बहुरि वचना-लाप आदि करता संता वंदना करै सो शब्ददोष है, १६-बहुरि काडूकै ऊपर क्रोधरूप भया तामैं मन वचन काय करि क्षमा न करायकै वंदना करै सो प्रदुष्ट दोष है, १७-बहुरि कोई जाणैगा ऐसैं वंदना करि अंगुलीकों भमावै सो मनो दुष्ट दोष है, १८-बहुरि हंसना अर अंग घिसना इनकों करता संता वंदना करै सो हंसनोद्धत दोष

है, १९-बहुरि मौह टेडी करि वन्दना करे सो भूकुटीकुटिल दोष है, २०-बहुरि गुरु आदिकनिके अतिनिकट होय करि वन्दना करे सो प्रविष्ट दोष है, २१-बहुरि आचार्यादिकनि करि देख्या संता वन्दना करै,—

भावार्थ—आचार्यादिकनिके आगैं तौ भले प्रकार करे अन्यथा यद्वा तद्वा करे सो दृष्टदोष है, २२-संघविषै करदान मानकरि वन्दना करे, संघके खुशी रहनेके अर्थ वा संघतें भक्त्यादिककी वांछा करि वन्दना करे सो करमोचन दोष है, २३-बहुरि गुरुनकी आख्यां छिपाय वन्दना करै सो अदृष्ट दोष है, २४-बहुरि उपकरणादि पाय करि वन्दना करै सो आलब्ध दोष है, २५-बहुरि तिन उपकरणादिकनके भिलनेके वांछा करि वन्दना करै सो अनालब्ध दोष है, २६-बहुरि असम्पूर्ण विधान करि कहिए काल शब्द अर्थ इत्यादिक करि हीन वन्दना करै सो हीन दोष है, २७-बहुरि सूत्रके अर्थकों ढांक करि वन्दना करै सो पिषायिक दोष है, २८-बहुरि गूगेकी ज्यौं अतिशय करि हुंकारादि करता वन्दना करै सो मूक दोष है, २९-बहुरि और वन्दना करनेवालेनके शब्दनकों ढांपक वन्दना करै, सो दर्दुर दोष है, ३०-बहुरि गुरु आदिकनिके आगैं होय करि वन्दना करै सो अग्र दोष है, ३१-बहुरि अन्तमें वन्दनाकी चूलिकामें क्रम भूलि जलदी करै ।

भावार्थ—जब वन्दना थोड़ीसी बाकी रहै तब जलदी जलदी करै क्रम भूलि जाय सो उत्तर चूलिक दोष है, ३२-या प्रकार बत्तीक दोष वन्दना करनेवालेनकों त्यागने योग्य हैं ॥ ६८ ॥

क्रियमाणा प्रयत्नेन, क्षिप्रं कृषिरिवेप्सितम् ।

निराकृतमला दत्ते, वन्दना फलमुत्पणम् ॥ ८७ ॥

अर्थ—दूर करै हैं मल जाके ऐसी यत्नसँ करि भई जां बन्दना सो बाछित महाफलको देय है, जैसे दूर करै हैं तृण कण्टकादि मल जाके ऐसी यत्न करि करी भई खेती महाफल देय तैसँ, ऐसा जानना ॥ ८७ ॥

आगँ कायोत्सर्गके बत्तीस दोष कहै हैं—

स्तन्धाकृतैकपादस्य, स्थानमश्वपतेरिव । चलनं वातधूताया, लताया इव सर्वतः ॥८८॥ श्रयणं स्तंभकुट्यादेः, पटकाद्युपरिस्थितिः । उपरि मालमालंब्य, शिरसावस्थितिः कृता ॥ ८९ ॥ निगडेनेव बद्धस्य, विकटाग्रिष्वस्थिति । कराभ्यां जघनाच्छादः, किरातयुवतेरिव ॥९०॥ शिरसो नमनं कृत्वा, विधायोन्नमनस्थितिः । उन्नमय्य स्थितिर्विक्षाः, शिशोर्धात्र्या इव स्तनम् ॥९१॥ काकस्येव चलाक्षस्य, सर्वतः पार्श्व-वीक्षणम् । उर्द्धाधः कम्पनं मूर्ध्नः, खलीनार्त्तहरेरिव ॥ ९२ ॥ स्कंधा-रूढगजस्येव, कृतप्रीवानतोन्नती । सकपिस्थकरस्येव, मुष्टिबन्धन-कारिणः ॥ ९३ ॥ कुर्वतः शिरसः कम्पं, मूकसंज्ञाविधायिनः । अंगुलीगणनादीनि, भ्रूनुत्यादिककल्पनम् ॥ ९४ ॥ मदिराकुलितस्येव घूर्णनं दिग्वेक्षणम् । प्रीवोर्द्धनयनं भूरि, प्रीवाधोनयनादिकम् ॥९५॥ निष्ठीवनं बहुस्पर्शः, प्रपंचबहुला स्थितिः । सूत्रोदितविधेर्नूनं, वयोपेक्षा त्रिवर्जनम् ॥ ९६ ॥ कालापेक्षव्यतिक्रांति, व्याक्षेपासक्तचित्तता । लोभकुलितचित्तत्वं, पापकार्योद्यमः परः ॥ ९७ ॥ कृत्याकृत्यविमूढत्वं, द्वात्रिंशदिति सर्वथा । कायोत्सर्गविधेर्दोषास्याज्या निर्जरणार्थिभिः ॥९८॥

अर्थ—घोड़ेकी ज्यौ एक पांव उठाय करि खडै रहना सो घोटक दोष है, १—बहुरि पवनकरि हली जो लता बाकी ज्यौ सर्व तरफ चलना सो लता दोष है, २—बहुरि धम्म भीत आदिका आसरा लेना सो स्तम्भकुट्य दोष है, ३—बहुरि पाट आदिके ऊपर, तिष्ठ करि

कायोत्सर्ग करै सो पट्टिका दोष है, ४-बहुरि सिरके ऊपर माताकों अबलम्बकै तिष्ठना सो माला दोष है ।

५-बहुरि बेडीकरि बन्धे पुरुषकी ज्यों टेढे चरण धारि तिष्ठना सो निगड दोष है, ६-बहुरि भालकी खांकी ज्यों हाथन करि जंघानकों टांपना सो किरातयुवति दोष है, ७-बहुरि शिरकों नमाय करि तिष्ठना सो शिरोनमन दोष है, ८-बहुरि ऊँचा शिर करकै तिष्ठना सो उन्नमन दोष है, ९-बहुरि बालककों धायके स्तनकी ज्यों छाताकों ऊँची करकै तिष्ठना सो धात्री दोष है ।

१०-बहुरि कागलाकी ज्यों चंचल नेत्रका सर्व तरफ पसवाडे-नका देखना सो वायस दोष है, ११-बहुरि लगाम करि पोंडिन घोडेकी ज्यों ऊपर नीचै मस्तकका नमावना सो खलीन दोष है, १२-बहुरि कंधापर आरूढ है पुरुष जाकै ऐसे गजकी ज्यों प्रीवाका नमावना ऊँचा करना सो गज दोष है वा याहीका नाम युग दोष है, १३-बहुरि कँध सहित हस्तकी ज्यों मूठी बंधन करनेवालेके सो कपित्थ दोष है, १४-बहुरि शिरका कंपावना सो शिरः प्रकंपित दोष है ।

१५-बहुरि गूंगेकी ज्यों नासिकादि अंगनिकी सैनानी करने-वालेके मूक दोष है, १६-बहुरि कायोत्सर्गमें भ्रुकुटी नचावना आदि करै सो भ्रूदोष है, १८-बहुरि मदिरा करि आकुलित पुरुषकी ज्यों घूमै सो मदिरा पायी दोष है, १९-बहुरि कायोत्सर्गमें दशौं दिशान प्रति देखना सो दिगविषण दोष है ॥ २० ॥

२०-बहुरि प्रीवाकों बहुत ऊपर करना सो प्रीवोर्द्धनयन दोष है, २१-बहुरि प्रीवाकों नीची करना इत्यादि प्रीवाघोनयनादि दोष है, २२-बहुरि खकारना सो निष्टीवन दोष है, २३-बहुरि अंगका

स्पर्शना सो षपुःस्पर्शन दोष है, २४—बहुरि माया करि बहुत प्रपंच-
बहित तिष्ठना प्रपंचबहुल दोष है, २५—बहुरि सूत्रभाषित विधिकी
हीनता करनी सो विधिन्यून दोष है, २६—बहुरि वृद्धादि वयकी अपेक्षा-
दिकका त्यागना ।

भावार्थ—अपनी अवस्था विना देखे कायोत्सर्ग करना सो
वयोपेक्षादिव्रजन दोष है, २७—बहुरि कालकी अपेक्षाका उल्लंघन
करना कायोत्सर्गके काल कायोत्सर्ग न करना सो कालापेक्ष व्यतिक्रात
दोष है, २८—बहुरि चित्तकी विक्षिप्तताके कारणमें आसक्त चित्तपनां
सो आक्षेप सक्तचित्तता दोष है, २९—बहुरि लोभ करी आकुलित
चित्तपनां सो लोभाकुलित दोष है, ३०—बहुरि कायोत्सर्ग विषै पाप
कार्यमें परम उद्यम करना सो पापकार्योद्यम दोष है, ३१—बहुरि
करने योग्य न करने योग्य विषै मूढपनां सो मूढ दोष है, ३२—या
प्रकार कायोत्सर्गकी विधिके बत्तीष दोष हैं, ते निर्जराके अर्थी जे
पुरुष हैं तिनकरि सर्वथा त्यागना योग्य है ॥ ९७—९८ ॥

समाहितमनोवृत्तिः, कृतद्रव्यादिशोधनः । विविक्तं स्थानमास्थाय,
कृतेर्यागशोधनः ॥ ९९ ॥ गुर्वादिबंदनां कृत्वा, पर्यकासनमास्थितः ।
विधाय बंदनामुद्रां, सामान्योक्तनमस्कृतिः ॥ १०० ॥ ऊर्ध्वः सामा-
यिकस्तोतं, समुक्तामुक्तमुद्रकः । पठित्वा वर्त्तितावर्त्तो, त्रिदधाति
तनूःसृतिम् ॥ १०१ ॥ कृत्वाजैनेश्वरीं मुद्रां, ध्यात्वा पंचनमस्कृतिम् ।
उक्त्वा तीर्थकरस्तोत्रमुपविश्य यथोचितम् ॥ १०२ ॥ चैत्यभक्ति
समुच्चार्य, भूयः कृत्वा तनूःसृतिम् । उक्त्वा पंचगुरुस्तोत्रं, कृत्वा ध्यानं
यथावलम् ॥ १०३ ॥ विधाय बंदनां सुरैः कृतिकर्मपुरः चराम् ।
गृहीत्वा नियमं शक्या, विधत्ते साधुबंदनाम् ॥ १०४ ॥ आश्लेषकमिदं
प्रोक्तं नित्यं व्रतविधायिनाम् । नैमित्तिकं पुनः कार्यं, यथागम-
मतं, द्वितैः ॥ १०५ ॥

अर्थ—एकाग्र है मनकी वृत्ति जाकी अर करि है द्रव्यादिकनकी सोधना जानै सो एकांत स्थानपै तिष्ठकरि करधा है ईर्यापथका शोधन जानै ॥ ९९ ॥

गुरु आदिकनिकी वन्दना करकै पर्यकासनपरि तिष्ठया वन्दना मुद्राकौ रचिकै सामान्यपनै कहा है नमस्कार जानै ॥ १०० ॥

ता उपरांत सामायिक स्तोत्रकौ भले प्रकार कहिकै छोड़ी है मुद्रा जानै सो पाठ पढकै जान्या है आवर्त्त जानै ऐषा पुरुष सो कायोत्सर्गकौ करे है ॥ १०१ ॥

बहुरि जैनश्वरी मुद्राकौ करिकै अर पंच नमस्कार मंत्रका ध्यान करकै अर तीर्थकरनिका स्तोत्र कहिकै यथायोग्य बैठकरि ॥ १०२ ॥

चैत्य भक्तिका उच्चारन करि फेर कायोत्सर्ग करिकै बहुरि पंच गुरुनिके स्तोत्रकौ कहिकै बहुरि जैषा बल होय तैषा ध्यान करिकै ॥ १०३ ॥

बहुरि कृतिकर्म पूर्वक आचार्यकी वन्दनाकौ करिकै फेर शक्ति माफिक नियमकौ ग्रहण करि साधु वन्दनाकौ करै ॥ १०४ ॥

यहु आवश्यक व्रत करनेवालेनकौ नित्य कहा । आलस्य रहित पुरुषनि करि नैमित्तिक कहिए पूर्व आदिका निमित्त पाया सो जैषा आगममें कहा तैषा करना योग्य है ॥ १०५ ॥

भावार्थ—एकाग्र चित्त होयकै अर द्रव्यक्षेत्रादिक शोधन करि एकांत स्थानमें तिष्ठकै प्रथम ईर्यापथ दंडक पढ़ै, फेर गुरु आदिकनिकी वन्दना करकै पर्यकासन तिष्ठिकै पूर्वोक्त वंदना मुद्रा रचिकै कायोत्सर्ग करै, फेर पूर्वोक्त जैनेश्वरी मुद्रा करिक पंचनमस्कारका ध्यान करै फेर तीर्थकरनिका स्तोत्र पढ़कै यथायोग्य बैठै, फेर पंचपरमेष्ठीनिका स्तोत्र पढकै शक्तिवारू ध्यान करै फेर नमस्कार शिरोनत्ति आवर्त्त-

पुत्र आचार्य वन्दना करै फेर शक्तिसारू नियमकों ग्रहण करि साधु वन्दना करै; या प्रकार यहु आवश्यक तौ नित्य ही करै । बहुदि अष्टमी चतुर्दशी आदि पर्व विषै तथा और भी निमित्त पाय जैसे आगममें व ह्या तैसै आवश्यक करना योग्य है ॥ ९९-१०५ ॥

येन केन च सम्पन्नं, कालुष्यं दैवयोगतः ।

क्षमयित्वैव तं त्रेधा, कर्त्तव्याऽऽवश्यकक्रिया ॥ १०६ ॥

अर्थ—कर्मयोगतै जिष किसी पुरुष करि परिणामनिमें मलिन-पना कलुषपना उपज्या होय ता पुरुषसौ मन वचन कायकरि क्षमा करि आवश्यक क्रिया करनी योग्य है ॥ १०६ ॥

क्रियां पक्षभवां मूढश्चतुर्मासभवां च यः ।

विधत्तेऽक्षमपित्वासौ, न तस्याः फलमश्नुते ॥ १०७ ॥

अर्थ—जो मूढ़ विना क्षमा कराये पक्षजनित क्रियाकों बहुदि चतुर्मासजनित क्रियाकों करै है सो यहु ता क्रियाके फलकों न पावै है ।

भावार्थ—पंदरह दिनमें प्रतिक्रमणादि करिए सो पक्षकी क्रिया कहिए, चार महिनामें करिए सो चातुर्मासिक क्रिया कहिए सो इन क्रियानकों जासै कलुषता भई होय तासै क्षमा कराये विन करै तो परिणामनिकी शल्यतै क्रियाके फलकों न पावै ॥ १०७ ॥

देवनराधैः कृतमुपसर्गं, वन्दनकारी सहति समस्तम् ।

कम्पनमुक्तो गिरिरिव धीरो, दुष्कृतकर्मक्षपणमवेक्ष्य ॥ १०८ ॥

अर्थ—वन्दना करनेवाला मनुष्य है सो पाप कर्मकी निर्जराकों विचारिके देव मनुष्यादिकनि करि करघा समस्त उपसर्गकों सहै है, कैसी है ? पर्वतकी ज्यों कम्परहित है धीर है ॥ १०८ ॥

आगै अधिकारकों संकोचै है—

इत्थमदोषं सततमनूनं, निर्मलचित्तो रचयति नृनम् ।

यः कृतिकर्माभितगतिदृष्टं, याति च नित्यं पदमनदृष्टम् ॥ १०९ ॥

अर्थ—जो निर्मलचित्त पुरुष या प्रकार निर्दोष न्यूनता रहित निरंतर कृतिकर्म कहिए आवश्यक क्रिया ताहि कर है सो नित्य अर देखनेमें न आवैं ऐसा जो मांक्षपद ताहि प्राप्त होय है, कंषा है कृतिकर्म अमितगति कहिए अनंत है ज्ञान जाका ऐसा जो सर्वज्ञ देवता करि कहा है; ऐसा जानना ॥ १०९ ॥

अडिल्ल छन्द ।

रागद्वेष तजि सामायिक भजि, कीजे तीर्थकर गुणगान ।
पंच परमगुरु चरण वन्दि, नित पूर्वदोषको करि अवसान ॥
आगामी अघत्यागि देहभौं, ममताभाव निवारि सुजान ।
षट् आवश्यक माधि जीव इम, लहै अमितगति पद निरवान ॥
ऐसैं श्री अमितगति आचार्यचिरचित श्रावकाचारविधि
अष्टम परिच्छेद समाप्त भया ।

नवम परिच्छेद ।

दानं पूजा जिनै, शीलमुपवाश्वतुर्विधः ।

श्रावकाणां मतो धर्मः संसारारण्यपावकः ॥ १ ॥

अर्थ—दान १ पूजा २ शील ३ उपवास ४ यहू संसारवनकों अग्नि समान चार धर्म श्रावकनिका जिनदेवनिनै कहा है ।

तहां प्रथम ही दानका स्वरूप कहै हैं—

दानं विनरता दाता, देवं पात्रं विधिर्मतिः ।

फलैषिणाऽवबोद्धव्यानि, धीमता पंच तत्त्वतः ॥ २ ॥

अर्थ—फलका वांछक अर बुद्धिसहित ऐसा जो दान देनेवाला पुरुष ताकरि दाता १ देने योग्य वस्तु २ पात्र ३ विधि ४ मति ५ ये पांच स्वरूप सहित जानना योग्य हैं ।

भावार्थ—दान देनेवाले करि पूर्वोक्त पंच वस्तुका स्वरूप जानना योग्य है ॥ २ ॥

तहां दाताका स्वरूप कहै हैं—

भाक्तिकं तौष्टिकं श्राद्धं, अविज्ञानमलोलुपम् ।

सात्त्विकं क्षमकं सन्तो, दातारं सप्तधा विदुः ॥ ३ ॥

अर्थ—संतजन है ते दाताकों सात प्रकार कहै हैं; सात कौन? प्रथम तौ भक्ति सहित १ अर प्रसन्नचित्त २ अर श्रद्धासहित ३ अर विज्ञान सहित ४ अर लोलुपता सहित ५ अर सात्त्विक कहिये शक्तिमान ६ अर क्षमावान ७ ऐसा जानना ॥ ३ ॥

आगैं भाक्ति आदिका स्वरूप कहै हैं—

यो धर्मधारिणां धत्ते, स्वयं सेनापरायणः ।

निरालस्योऽशठः शांतो, भक्तिकः स मतो बुधैः ॥ ४ ॥

अर्थ—जो पुरुष धर्मके धारनेवालेनकी सेवामें तत्पर भयासंता स्वयं कहिये अपेक्षा रहित आप ही धारै है सो पंडितनि करि आलस्यरहित बुद्धिमान शांतचित्त ऐसा भाक्तिक कहिये भक्तिरहित कहा है ।

भावार्थ—धर्मात्मानकी सेवा करै सो भाक्तिक कहिए ॥ ४ ॥

तुष्टिर्दत्तवतो यस्य, ददतश्च प्रवर्त्तते ।

देयासक्तमतेः शुद्धास्तमाहुस्तौष्टिकं जिनाः ॥ ५ ॥

अर्थ—जिभकं आगैं देता भया ताकै वा वर्तमानमें देतेकै हर्ष प्रवर्त्तै है ताहि कर्ममलरहित जे शुद्ध जिनदेव हैं ते तौष्टिक कहिए हर्षरहित कहै हैं, कैसा है सो देने योग्य वस्तु विषै नाहीं है लोभरूप बुद्धि जाकी ॥ ५ ॥

साधुभ्यो ददता दानं, लभ्यते फलमीक्षितम् ।

यस्यैषा जायते श्रद्धा, नियं श्राद्धं वदन्ति तम् ॥ ६ ॥

अर्थ—साधुनके अर्थ दान देता जो पुरुष ताकरि वाञ्छित फल पाइए है यहू जाके नित्य ही श्रद्धा प्रतीति है ता पुरुषकों आचार्य श्रद्धावान कहैं हैं ॥ ६ ॥

द्रव्यं क्षेत्रं सुधीः कालं, भावं सम्यक् विविष्य यः ।

साधुभ्यो ददते दातं, सत्रिज्ञानमिमं विदुः ॥ ७ ॥

अर्थ—द्रव्य क्षेत्र काल भावकों भले प्रकार विचारके साधूनके अर्थ सुबुद्धि दान देय है इसकों आचार्य सत्रिज्ञान कहैं हैं ॥ ७ ॥

त्रिधापि याचते किञ्चिद्यं, न सांसारिकं फलम् ।

ददानो योगिनां दानं, भाषंते तमलोलुपम् ॥ ८ ॥

अर्थ—जो योगीनकों दान देता सन्ता मन, वचन, काय करि भी सांसारिक फलकों न याचै है ताहि आचार्य अलोलुप कहैं हैं ॥ ८ ॥

स्वल्पत्रित्तोऽपि यो दत्ते, भक्तिभारवशीकृतः ।

स्वाख्याश्चर्यकरं दानं, सात्त्विकं तं प्रचक्षते ॥ ९ ॥

अर्थ—जो थोड़ा धनवान भी भक्तिके भार करि वश किया सन्ता धनवानकों आश्चर्य करनेवाला दानकों देय है ताहि आचार्य सात्त्विक कहैं हैं ।

भावार्थ—जो धनरहित भी भक्ति करि दान देय है जाकों देखके धनवान भी आश्चर्य माने जो धन्य है यह सो ऐसा दान देय है ता पुरुषकों सात्त्विक कहिए है ॥ ९ ॥

कालुष्यकारणे जाते, दुर्निवारे महीयसि ।

यो न कुप्यति केभ्योऽपि क्षमक कथयंति तम् ॥ १० ॥

अर्थ—क्रोधरूप मलिन परिणामका दुर्निवार महान् कारण उपजे सन्तै जो किसीतै भी क्रोध न करै है ताहि आचार्य क्षमावान कहैं हैं ॥ १० ॥

आगै उत्तम मध्यम जघन्य दातानिका स्वरूप कहैं हैं:—

सर्वैरलंकृतो वर्यो, जघन्यो वर्जितो गुणैः ।

मध्यमोऽनेकवाऽवाचि, दाता दानविचक्षणैः ॥ ११ ॥

अर्थ—पूर्वोक्त भक्ति तुष्टि आदि गुण वा आगै कहेंगे तिन सर्व गुणनि करि भूषित है सो तो उत्कृष्ट दाता है अर तिन गुणनि करि रहित है सो जघन्य दाता है। बहुरि दान विषै विचक्षण जे पुरुष तिन करि मध्यमदाता अनेक प्रकार कल्या है ॥ ११ ॥

आगै दाताका विशेष गुण कहै हैं:—

विनीतो धार्मिकः सेव्यस्तत्कालक्रमवेदकः । जिनेशशासनाभिज्ञो भोगनिस्पृहमानसः ॥ १२ ॥ दयालुः सर्वजीवानां रागद्वेषादिवर्जितः संसारासारतावेदी समदर्शी महोद्यम ॥ १३ ॥ परीषद्सहो धीरो निर्जिताक्षो विमत्सरः । वरात्मसमयाभिज्ञः प्रियवादी निरुत्सुका ॥ १४ ॥ वासितो व्रतिनां पूतैः परासाधारणैर्गुणैः । लोकलोकोत्तराचारविचारी संघवत्सलः ॥ १५ ॥ आस्तिको निरहंकारो वैयावृत्यपरायणः । सम्यक्कालंकृतो दाता जायते भुवनोत्तमः ॥ १६ ॥

अर्थ—विनयवान होय, धर्मात्मा होय, क्रूरतादिकके अभावतैं औरन करि सेवने योग्य होय, तत्काल क्रमका जाननेवाला होय ।

भावार्थ—जिस कालमैं जैसी वस्तु आदि चाहिये तैसा जानता होय; अर जिनेन्द्रके उपदेशका ज्ञाता होय, बहुरि भोगनि विषै वांछा रहित चित्त जाका ऐसा होय ॥ १२ ॥ सर्व जीवनि पर दया सहित होय, रागद्वेषादि रहित होय, संसारकी असारताका जाननेवाला होय, अर समान देखनेवाला होय,

भावार्थ—कोऊका इष्टानिष्टपनें करि हीनाधिक देखनेवाला न होय, अर उबसी होय ॥ १३ ॥ परीषद्वह्निका सहन करनेवाला

होय, धीर होय, अर जीती हैं इंद्रिया जानै ऐसा होय, बहुरि मत्सरता रहित होय अर श्रेष्ठ अध्यात्म शास्त्रका जाननेवाला होय, प्रियवचन बोलनेवाला होय, विषयनिकी वांछा रहित होय ॥ १४ ॥ बहुरि त्रतीनके औरनिविषै न पाइए ऐसे असाधारण पवित्र गुणनिकरि पवित्र गुणनिकरि वासित होय ।

भावार्थ—त्रतीनके गुणनिमें अनुरागी होय, बहुरि लौकिक आचार वा लाकोत्तर कहिए परमार्थ आचार ताका विचार सहित होय, अर च्यार प्रकार संघ विषै बच्छासे गौकी ज्यो प्रीति सहित होय ॥ १५ ॥ बहुरि अस्तिक कहिए परलोकादिक हैं ऐसी अस्ति बुद्धि सहित होय ।

भावार्थ—परलोक नाहीं पुण्य नाहीं इत्यादिक जो नास्तिक बुद्धि ता करि रहित होय, अहंकार रहित होय, धर्मात्मानकी टहल चाकरीमें तत्पर होय अर सम्यक्त करि भूषित होय ऐसा दाता लोक विषै उत्तम होय है,

भावार्थ—पूर्वोक्त गुणनिमहित होय मो उत्तमदाता जानना ॥ १६ ॥

आगै और भी कहै हैं—

आत्मीयं मन्यते द्रव्यं, यो दत्तं व्रतवर्तिनाम् ।

शेषं पुत्रकलत्राद्यन्तस्करै, रित्र लुण्ठितम् ॥ १७ ॥

अर्थ—जो दाता त्रतीनकूं दिया जो द्रव्य ताहि अपना माने है बहुरि बाकी रखा जो द्रव्य ताहि पुत्र स्त्री चौरन करि मानो लूट लिया तैसा मानै है ।

भावार्थ—पात्रनिकूं दानमें जो धन लग्या सो तो पुण्यबंधके कारण तै इस भवमें वा पर भवमें आपकों सुखदायी हैं तातैं अपना है अर पुत्र स्त्री आदिकनिनै सो पाप बंधके कारणतैं दोऊ भवमें दुख-

दायी है ताँ अपना नाहीं चौरन करि लूट लिप समान है, ऐसा जानना ॥ १७ ॥

ये लोकद्वितये सौख्यं, कुर्वते मम स्रग्धवः ।

बांधवा दारुणं दुःखमिति पश्यति चेतसा ॥ १८ ॥

अर्थ—ये साधुजन हैं ते मेरे इस भव विषै वा परभव विषै सुखकों करै हैं अर बांधव हैं ते भयानक दुःखकों करै हैं, ऐसा दाता मन विषै विचारै है ॥ १८ ॥

योऽत्रैव स्थावरं वेत्ति, गृहकार्ये नियोजितम् ।

सहगामि परं वित्तं, धर्मकार्ये यथोचितम् ॥ १९ ॥

अर्थ—जो पुरुष घरके कार्यमें लगाया जो द्रव्य ताहि इहांही रहनेवाला मानै है अर केवल धर्म कार्यमें लगाया योग्य द्रव्य ताहि संग जानेवाला मानै है ।

भावार्थ—विवाहादि कार्यमें द्रव्य लगाया सो तो इस लोकमें रह्या बाकी धर्म कार्यमें लगाया सो द्रव्य पुण्यबंधके कारणतैं आपके साथ जाय है ऐसा जानना ॥ १९ ॥

शरदभ्रसमाकारं, जीवितं यौवनं धनम् ।

यो जानाति विचारज्ञो, दत्ते दानं स सर्वदा ॥ २० ॥

अर्थ—जो पुरुष शरदकालके बादले समान अधिर जीवनकों अर जोबनकों अर धनकों जानै है सो विचारका जाननेवाला सदाकाल दानकों देय है ॥ २० ॥

यो न दत्ते तपस्विभ्यः, प्रासुकं दानमंजसा ।

न तस्याऽऽत्मभरेः, कोऽपि विशेषो विद्यते पशोः ॥ २१ ॥

अर्थ—जो पुरुष तपस्वीनके अर्थ प्रासुक दानकों भले प्रकार न देय है तिस आपापोबीकै अर पशूकै किछु विशेष नाहीं है ।

भावार्थ—दान न देय है सो पशु समान है जातैं अपना उदर तो पशु भी भर लेय है, मनुष्यपनेकी विशेषता तो दानहीतैं है ॥ २१ ॥

गृहं तदुच्यते तुंगं, तार्प्यते यत्र योगिनः ।

निगद्यते परं प्राज्ञैः, शारदं घनमंडलम् ॥ २२ ॥

अर्थ—जिस विषैं योगीश्वर तृप्त कीजिए हैं योगीश्वरनिकौ दान दीजिए है सो ऊँचा घर कहिए है अर दान रहित केवल घर है सो पंडितनिकरि सरदकालके बादलानिका मंडल कहिए है ॥ २२ ॥

घोतपादांभसा सिक्तं, साधूनां सौघमुच्यते ।

अपरं कर्दमालितं, मर्त्यचारकबंधनम् ॥ २३ ॥

अर्थ—साधूनांके घोये जे चरण तिनके जलकरि घींच्या जो घर ताहि सौघ कहिए है, अर सिंघाय दूजा घर है सो कीचकरि लिप्या मनुष्यरूप चरनेवालेका बंधन है ॥ २३ ॥

स गेही मन्यते भव्यो, यो दत्ते दानमंजसा ।

न परो गेहयुक्तोऽपि, पतत्रिव कदाचन ॥ २४ ॥

अर्थ—जो भले प्रकार दान देय है सो भव्य पंडितनिकरि गृही मानिये है अर दान रहित गृह सहित भी पक्षीकी ज्यो गृही न मानिए है ।

भावार्थ—दान देय सो गृहस्थ है अर दान रहित केवल घर तो पक्षीकै भी होय है, तातैं दान विना गृहहीतैं गृहस्थ न कहिये ऐसा जानना ॥ २४ ॥

किं द्रव्येण कुबेरस्य, किं समुद्रस्य वारिणा ।

किमन्धसा गृहस्थस्य, भुक्तिर्यत्र न योगिनाम् ॥ २५ ॥

अर्थ—जहां योगीश्वरनिका भोजन नाहीं तिस कुबेरके द्रव्य करि कहा अर समुद्रके जलकरि कहा अर गृहस्थके भोजन करि कहा ।

मावार्थ—जहां दान नाहीं तिन बहुत द्रव्यादिकनि करि कहा
साध्य है किछु साध्य नाहीं, ऐसा जानना ॥ २५ ॥

ध्यानेन शोभते योगी, संयमेन तपोधनः ।

सत्येन वचसा राजा, गृही दानेन चारुणा ॥ २६ ॥

अर्थ—योगी तो ध्यानकरि सोहै है अर तपोधन जो तपस्वी है
सो संयमकरि सोहै है अर सत्य वचन करि राजा सोहै है अर गृहस्थ
सुन्दर दानकरि सोहै है ॥ २६ ॥

तपोधनं गृहायात यो न गृह्णाति भक्तिः ।

चिन्तामणि करप्राप्तं च, कुनीस्यजति स्फुटम् ॥ २७ ॥

अर्थ—घर प्रति आया जो तपोधन साधु ताहि जो भक्ति न
पढगाहै है सो कुबुद्धि हस्तविषै आया जो चिन्तामणि ताहि प्रकटपनै
तजै है ॥ २७ ॥

विद्यमानं धनं धिष्ये, साधुभ्यो यो न यच्छति ।

स वंचयति मूढात्मा, स्वयमात्मानमात्मना ॥ २८ ॥

अर्थ—घरविषै विद्यमान जो धन ताहि जो साधुनके अर्थ न
देय है सो मूढात्मा आप ही आपकरि आपकों ठगै है । घरमें धन होतें
मुनीनकों आहारादि दान न देय है सो आपकों ठगै है ॥ २८ ॥

स भण्यते गृहस्वामी, यो भोजयति यां गिनः ।

कुर्याणां गृहकर्माणि, परं कर्मकरं विदुः ॥ २९ ॥

अर्थ—जो योगीनकों भोजन करावै है सो घरका स्वामी कहिषे
है अर दान विना केवल घरके कार्यकों करै है ताहि पंडित हैं ते
गुलाम कहै है, ऐसा जानना ॥ २९ ॥

यः सर्वदा क्षुषां धृत्वा, साधुवेलां प्रतीक्षते ।

सः साधूनामलाभेऽपि, दानपुण्येन युज्यते ॥ ३० ॥

अर्थ—जो सदा क्षुधा घारणकरि साधूनिके आहारकी बेलाकी प्रतीक्षा करै है अर आहार बेला टले पीछे भोजन करै है सो पुरुष साधूनका अलाभ होते भी दानके पुण्यकरि युक्त होय है ॥ ३० ॥

भवने नगरे प्रामे, कानने दिवसे निशि ।

यो वृत्ते योगिनश्चित्तं, दत्तं तेऽभ्योऽमुना ध्रुवम् ॥ ३१ ॥

अर्थ—जो पुरुष घरविषे नगरत्रिषे ग्रामविषे वनविषे दिवसविषे रात्रिविषे योगीश्वरनिको चित्तविषे धरै है, सो इम पुरुष करि निश्चयते मुनिनके अर्थ दान दिया ।

भावार्थ—जो सदा मुनीश्वरनिकी भक्तिका परिणाम राखै है ताके मुनीनका मिलना न होतै भी भावनाकी शुद्धिताते दानका पुण्य होय है ॥ ३१ ॥

यः सामान्येन साधूनां, दानं दातुं प्रवर्तते ।

त्रिकालगोचरास्तेन, योगिनो भोजिताः स्तुताः ॥ ३२ ॥

अर्थ—जो सामान्यपने करि साधूनके दान देनेको प्रवर्तते है ता पुरुषकरि भूत भविष्यत वर्तमान कालके सर्व यागीश्वर जिमाए अर स्तुतिगोचर किये ।

भावार्थ—जाके मुनिमात्रके दानमें हर्ष है प्रकृति है ताके सर्व ही मुनीनिकी भक्ति हानेतै सर्वको दान दिया अर सर्वहीकी स्तुति करी, ऐसा जानना ॥ ३२ ॥

दत्ते दूरेऽपि यो गत्वा, विमृश्य व्रतशालिनः ।

सः स्वयं गृहमायाते कथं दत्ते न योगिन ॥ ३३ ॥

अर्थ—जो दूर जायकरि भी व्रतीनको हेर करि दान देय है सो आप ही योगीश्वरनिको घर आये सन्ते दान कैसे न देय है ? देय ही है ॥ ३३ ॥

सद्रव्याद्रव्ययोर्भेदधे यः, पात्रं प्राप्य भक्तिः ।

ददानः कथ्यते दाता, न दाता भक्तिवर्जितः ॥ ३४ ॥

अर्थ—एक तो द्रव्य रहित पुरुष अर एक द्रव्य रहित पुरुष इन दोउनिके मध्य जो पात्रकों पायकै भक्तिद्वे दान देय है सो दाता कहिये है अर भक्तिरहित है सो दाता न कहिए है, ऐसा जानना ॥ ३४ ॥

पात्रे ददाति योऽकाले, तस्य दानं निरर्थकम् ।

क्षेत्रेऽप्युतं विना कालं, कुत्र बीजं प्ररोहति ॥ ३५ ॥

अर्थ—बहुरि जो अकालमें पात्रि विषे दान देय है ताका दान निष्प्रयोजन है । जैसे विना काल क्षेत्र विषे बोया भी बीज कहुं ऊगै है ? नाहीं ऊगै है, ऐसा जानना ॥ ३५ ॥

काले ददाति योऽपात्रे, वितीर्णं तस्य नश्यति ।

निक्षिप्तमूषरे बीजं, किं कदाचिदवाप्यते ॥ ३६ ॥

अर्थ—बहुरि जो दानके कालमें भी अपात्र विषे दान देय है ताका दान नाशकों प्राप्त होय है । जैसे ऊसर भूमि विषे बोया बीज कहा कहीं पाइए है अपितु नाहीं पाइए है । ३६ ॥

प्रक्रमेण विना वंध्यं, वितीर्णं पात्रकालयोः ।

फलाय किमसंस्कारं, निक्षिप्तं क्षेत्रकालयोः ॥ ३७ ॥

अर्थ—बहुरि पात्र अर काल इन दोऊन विषे दिया दान भी दानकी विधि विना निष्फल है । जैसे सुन्दर क्षेत्र अर योग्यकाल विष भी घरतोका जोतना आदि संस्कार रहित बोया बीज है सो कहा फलके अर्थ होय है ? अपितु नाहीं होय है ॥ ३७ ॥

कालं पात्रं विधिं ज्ञात्वा, दत्तं स्वल्पमपि स्फुटम् । :

उतं बीजमिन्न प्राज्ञैर्विधत्ते, विपुञ्जं फलम् ॥ ३८ ॥

अर्थ—कालकों पात्रकों अर विधिकों जानिके थोड़ा भी दिया

जो दान है सो बोये बीजकी ज्यों प्रकटपणे विस्तीर्ण फलकों धारन करै है, ऐसा जानना ॥ ३८ ॥

देयं स्तोकादपि स्तोकं, व्यपेक्षो न महोदयः ।

इच्छानुसारिणी शक्तिः, कदा कस्य प्रजायते ॥ ३९ ॥

अर्थ—थोडेते भी थोडा देना योग्य है अरु महा उदयकी अपेक्षा करनी योग्य नाहीं जातैं इच्छानुसारिणी शक्ति कहीं कोईकै होय है ? अपितु नाहीं होय है ।

भावार्थ—आपकै थोडा भी धन होय है थोडेमेंसे थोडा धन दानमें लगावना । ऐसी न विचारना जो हमारे बहुत धन हो गया जब दान करैंगे, जातैं जितनी इच्छा है तितना धन तौ कहीं कोईकै होय नाहीं; ऐसा जानना ॥ ३९ ॥

श्रुत्वा दानमतिर्वर्यो, भण्यते वीक्ष्य मध्यमः ।

श्रुत्वा दृष्ट्वा च यो दत्ते, न दानं स जघन्यकः ॥ ४० ॥

अर्थ—दान देतेकों सुनकरि दान देनेमें जाकी बुद्धि होय सो उत्कृष्ट पुरुष है अरु दान देतेकुं देखकरि जाकी दान देनेकी बुद्धि होय सो मध्यम पुरुष है अरु सुनकरि देखकरि भी जो दान न देय है सो जघन्य पुरुष कहिए अधम है ॥ ४० ॥

ताडनं पीडनं स्तेयं, रोषणं दूषणं भयम् ।

यः कृत्वा ददते दानं, स दाता न मतो जिनः ॥ ४१ ॥

अर्थ—जो और जीवनिकी ताडना करिकैं वा पीडना करिकैं वा चोरी करिकैं वा रोष करिकैं वा तृष्णादि दूषण करिक वा भय करिकैं जो दानकों देय है सो जिन देवनिन दाता नाहीं कहा है ॥ ४१ ॥

यहीयसा सदा दानं, प्रदेयं प्रियवादिना ।

प्रियेण रहितं दत्तं, परमं वैरकारणम् ॥ ४२ ॥

अर्थ—प्रिय वचन सहित बुद्धिमान पुरुष करि सदा दान देना योग्य है जातैं प्रिय वचन विना दिया बहुत दान है सो वैरका कारण है।

भावार्थ—दान देना सो मीठे वचनसहित देना अर मीठे वचन विना दान भी वैरका कारण है, जातैं कटुक वचन सबको बुरा लागै है ॥ ४२ ॥

यः शमायाकृतं वित्तं, विश्राणयति दुर्मतिः ।

कलिं गृह्णाति मूल्यान, दुर्निवारमसौ ध्रुवम् ॥ ४२ ॥

अर्थ—जो दुर्बुद्धि पुरुष समभाव रहित धनको देय है सो यह निश्चयतैं मोल करि दुर्निवार कहिये दुःखसैं निवारण करिने योग्य पापको ग्रहण करै है ।

भावार्थ—क्रोधसहित दान देनेमें उलटा पापबन्ध होय है तातैं समनासहित दान देना योग्य है ॥ ४३ ॥

आगै दान देना योग्य वस्तुको आमान्यपनै कहै हैः—

जीवा येन निहन्यंते, येन पात्रं विनश्यते ।

रागो विवर्द्धते येन, यस्मात् संपद्यते भयम् ॥ ४४ ॥

आरम्भा येन जन्यंते, दुःखितं यच्च जायते ।

धर्मकामैर्न तद्दयं, कदाचन निगद्यते ॥ ४५ ॥

अर्थ—जा करि जीव हनिये अर जाकरि पात्रजनका नाश कीजिए अर जा करि राग बढ़ाईए अर जातैं भय उपजै ॥ ४४ ॥ अर जाकरि आरम्भ उपजै अर जातैं दुःखी होय सो वस्तु धर्मके वांछक पुरुषनि करि देने योग्य कदाच नहीं कहिये है ॥ ४५ ॥

आगै तिन न देने योग्य वस्तुनिके विशेष कहै हैंः—

हलैर्त्रिदार्यमाणायां, गर्भिण्यामिव योषिति ।

अग्र्यन्ते प्राणिनो यस्यां, सा भूः किं ददते फलम् ॥ ४६ ॥

अर्थ—हलनि करि विदारी भई गर्भिणी स्त्री विष जसैं जाविषैं प्राणी मरै है सो पृथ्वी रुहा फल देय अपितु नाहीं देय हैं ।

भावार्थ—जंभैं गर्भिणी स्त्रीके गर्भमें बालरु है तैस पृथ्वीके गर्भमें अनेक जीव वसे हैं ता पृथ्वीको हलनि करि अनेक जीवनिकी हिंसा होय तानें भूमिदानमें पुण्यनाहीं, पाप ही है; ऐसा जानना ॥४६॥

मर्थत्र भ्रमना येन, कृतातेनेव देहिनः ।

विपाद्यंते न तल्लहं, दत्तं कस्यापि शांतये ॥ ४७ ॥

अर्थ—जा करि सर्व जायगा भ्रमण करने करि यमकी उर्यो जीव विनाशिये हैं सो लंह दिया मया कोईक भी शांतिके अर्थ नाहीं ।

भावार्थ—लोह जहां ही जाय तहां ही हिंसा होय तातैं लोह-दान पुण्यके अर्थ नाहीं पापहीके अर्थ है ॥ ४७ ॥

यदर्थं हिंस्यते पात्रं, यत्प्रदा भयकारणम् । संयमा येन हीयंते, दुष्कालेनेव मानवाः ॥ ४८ ॥ रागद्वेषमदक्रोध, लोभमोहमनोभवाः । जन्यंते तापका येन, काष्ठेनेव हुताशनाः ॥ ४९ ॥ तथेनाष्टापदं यस्य, दीयते हितकाम्यया । स तस्याष्टापदं मन्ये, दत्ते जीवितशांतये ॥५०॥

अर्थ—जिषके अर्थ पात्रकी हिंसा कीजिए अर जो सदा भयका कारण अर दुर्भिक्ष करि मनुष्य जैसे हीन होय तैसें जा करि संयम हीन होय ॥ ४८ ॥ अर जैसे काष्ठ करि अग्नि उपजै है तैसें संताप-कारी राग-द्वेष, मद, क्रोध, लोभ, मोह, काम जा करि उपजै हैं ॥४९॥ सो अष्टापद कहिये सुवर्ण जा करि जिषको हितकी वांछा करि दीजिए सो जिषकी जीवनेकी शांतिके अर्थ अष्टापदनामा क्रूर हिंसक जीव तानें दिया ऐसा मैं मानूं हूं ।

भावार्थ—जैसें कोऊ जीवनेके अर्थ काडूको अष्टापद नाम हिंसक जीवको देय तो ताका मरन ही होय है तैसें धर्मके अर्थ सिध्यादृष्टीनको

दिया जो सुवर्ण तातैं हिंसादिक होनेतैं परके वा आपके ही पाप होय, ऐसा जानना ॥ ५० ॥

संभजंत्यंगिनो येषु, भूरिशस्त्रसकायिकाः ।

फलं विश्राणने तेषां, तिलानां कल्मषं परम् ॥ ५१ ॥

अर्थ—जिन विषै धने ब्रह्मकायिक जीव उपजै है तिन तिलनके देने विषै फल केवल पाप है ।

भावार्थ—तिल देनेमें ब्रह्मकायिक जीवनिकी हिंसातैं केवल पाप ही है पुण्य नाहीं ॥ ५१ ॥

प्रारंभा यत्र जायंते, चित्राः संसारहेतवः ।

तत्सद्य ददतो घोरं, केवलं कलिलं फलम् ॥ ५२ ॥

अर्थ—जिस विषै संसारके कारण नाना प्रकार आरंभ होय है तिम घरके देनेवालेके फल केवल घोर पाप होय है ॥ ५२ ॥

पीडा संपद्यते यस्या, वियोगे गोनिकायतः । पया जीवा निहन्त्यते, पुच्छशृङ्गसुरादिभिः ॥ ५३ ॥ यस्यां च दुह्यमानायां, तर्णकः पीड्य-
तेतराम् । तां गां वितरता श्रेयो, लभ्यते न मनागपि ॥ ५४ ॥

अर्थ—जिसकौ गौनके समूहतैं वियोग हानेकी पीडा उपजै है अर जाकरि पूंछ सींग खुल आदिकनि करि जीव हनिए हैं अर जाका दुहे सतैं बच्छा अतिशय करि पीडिए है तिस गौके देनेवाले पुरुष करि किछु भी पुण्य न पाइए है ।

भावार्थ—गौ देनेमें पुण्यका अंश भी नाहीं, पाप ही होय है ॥ ५३-५४ ॥

या सर्वतीर्थदेवानां, निवासीमूतविप्रहा ।

दीयते गृह्यते सा गौः, कथं दुर्गतिगामिभिः ॥ ५५ ॥

अर्थ—जो गौ सर्व अर देवनिके बसनेका स्थान है शरीर जाका

सो गौ दुर्गतिके जानेवालेन करि कैसें दीजिए है और कैसें प्रहण करिय है ।

भावार्थ—मिध्यादृष्टि गौके शरीरमें सर्व तीर्थ अर देव वसते मानें हैं, ऐसी गौ कौं पापी कैसें देय है अर कैसें लेय है; ऐसी तर्क करी है ॥ ५५ ॥

तिलधेनु घृतधेनु, कांचनधेनु च रुक्मधेनु च ।

परिकल्प्य भक्षयंत, श्रांडालेभ्यस्तरां पापाः ॥ ५६ ॥

अर्थ—तिलनिकी गौ घृतकी गौ सुवर्णकी गौ रूपेकी गौ बनाय बनाय करि जे भखें हैं ते चांडालतैं भी अधिक पापी हैं ।

भवार्थ—चांडाल गौ तो न खाय है अर इन मिध्यादृष्टिनैं तिलादिककी बनाय करी गौ भी खाय लीनी तातैं ते चांडालतैं भी सिवाय पापी हैं, ऐसा जानना ॥ ५६ ॥

या धर्मवनकुठारी, पातकवसतिस्तपोदया चौरौ । वैगयासासूया विषादशोकश्रमक्षोणी ॥ ५७ ॥ यस्यां सक्ता जीवा दुःखतमानोत्तरंति भवजलधेः । कः कन्यायां तस्यां, दत्तायां विद्यते धर्मः ॥ ५८ ॥

अर्थ—जो कन्या धर्मवनके काटनेको कुल्हारी समान अर पापकी वसती अर तपश्चरण दया की चौरनेवाली अर वैर प्रयास ईर्षा शोक खेद इनकी भूमिका है ॥ ५७ ॥ अर जा विषैं आसक्त जीव हैं ते अतिशय करि दुःखस्वरूप जो संसारसमुद्र तातैं न उतरें हैं तिस कन्याको दिये संते कहा धर्म होय है ? पाप ही होय है ।

भावार्थ—कन्यादानते पूर्वोक्त पापनिका संतान बढै है तातैं पाप ही है धर्म नाहीं, ऐसा जानना ॥ ५८ ॥

सर्वारम्भकरं ये वीबाहं, कारयन्ति धर्माय ।

ते तरुखण्डविवृद्धयै, क्षिपति बहिं ज्वलज्ज्वालम् ॥ ५९ ॥

अर्थ—जो पुरुष सर्व ऋषादिक आरम्भका करनेवाला जो विवाह ताहि धर्मके अर्थ करावै है ते वृक्षनके वनकों बढ़ावनेके अर्थ जाज्वल्यमान है ज्वाला जाकी ऐसी अग्निकों खेपै हैं ।

भावार्थ—जैसे अग्नितैं वन बढ़ै नाहीं उलटा जल जाय तैसे विवाह कराये धर्म नाहीं धर्मका नाश ही है ॥ ५९ ॥

यः संक्रांतौ ब्रह्मणे वारे, वित्तं ददाति मूढमतिः ।

सम्यक्त्वनं छित्त्वा, मिथ्यात्ववनं वपत्येषः ॥ ६० ॥

अर्थ—जो मूढ़बुद्धी पुरुष संक्रांति विषैं आदित्यवारादि वार विषैं वनकों देय है सो सम्यक्त वनकों छेदिकै मिथ्यात्व वनकों बाध है ॥ ६० ॥

ये ददते मृततृप्तये बहुधा, दानानि नूनमस्नधियः ।

पल्लवयितुं तरुं ते, भरमीभूतं निषिचंति ॥ ६१ ॥

अर्थ—जे निर्बुद्धि पुरुष मरे जीवकी तृप्तिके अर्थ बहुत प्रकार दान देय है ते निश्चय करि अग्नि करि भस्मरूप भए वृक्षकों पत्रसहित करनेकों सींचै है ।

भावार्थ—जैसे भस्म भए वृक्षकों सींचै फेर हरा न होय सींचना निष्फल है तैसे मरे पितरनकी तृप्तिके अर्थ दान देना घृथा है, मिथ्यात्व पुष्ट होनेतैं पाप ही है ॥ ६१ ॥

विप्रगणे सति मुक्ते, तृप्तिः संपद्यते यदपि नृणाम् ।

नान्येन घृते पीते, भवति तदान्यः कथं पुष्टः ॥ ६२ ॥

अर्थ—ब्राह्मणके समूहकों भोजन कराये सन्ते जो पितरके तृप्तिता होय तो आर करि घी पिये सन्तैं और पुष्ट कैसें न होय ॥ ६२ ॥

दाने दत्ते पुत्रैर्मुच्यंते, पापतोऽत्र यदि पितरः ।

विहिते तदा चरित्रे, परेषु मुक्तिं परो याति ॥ ६३ ॥

अर्थ—पुत्रनि करि दान दिये सतं जो पितर पापने छूटें हैं तो और करि चारित्र करे संतैं और मुक्तिर्त्तै प्राप्त होय ॥ ६३ ॥

गंगामतेऽस्थिजाले भवति, सुखी यदि मृतोऽत्र चिरकालं ।

भस्मीकृतस्तदांभः सिक्तः, पल्लवयते वृक्षः ॥ ६४ ॥

अर्थ—हाड़नके समूहको गंगानदी विषै गये सन्तैं जो यह प्राणी बहुत सुखी होय है तो भस्म करया वृक्ष सींच्या भया हरया होय है ॥ ६४ ॥

उपयाचंते देवान्नष्टधियो, ये धनानि ददमानाः ।

ते सर्वस्वं दत्त्वा नूनं, क्राणंति दुःखानि ॥ ६५ ॥

अर्थ—जे नष्ट बुद्धि दान देते सन्ते देवनि प्रति धननिको याचैं हैं ते निश्चय करि सर्व अपना धन देकरि दुःखनि तौ खरीदैं हैं ॥ ६५ ॥

पूर्णे काले देवेन रक्षयते, कोऽपि नूनमुपयातैः ।

चित्रमिदं प्रतिविम्बेचेतने, रक्षयते तेषाम् ॥ ६६ ॥

अर्थ—कालको पूर्ण भये सन्ते निश्चय करि कोई भी पुरुष निकट आये जे देव तिन करि नहीं रक्षिण है, बहुरि तिन देवनिके अचेतन प्रतिबिम्बनि करि रक्षा मानिये सो यह बड़ा आश्चर्य है ।

भावार्थ—कोई मिथ्यादृष्टि कुदेवनिकी प्रतिमा बनाय तिनके आगे अपना जीवना वांछे है तहां आचार्य कहैं हैं कि आयु पूर्ण भये साक्षात् देव भी रक्षा न करि सकै है तो तिनके अचेतन प्रतिबिम्बनितैं जीवितव्य वांछना यह बड़े आश्चर्यकी बात है ॥ ६६ ॥

मांसं यच्छन्ति ये मूढा, ये च गृह्णन्ति लोलुपाः ।

द्वये वसन्ति ते श्वश्रे, हिंसामार्गप्रवर्तिनः ॥ ६७ ॥

अर्थ—जे मूढ़ मांसको देय है बर के लोलुपी मांसका ग्रहण करैं हैं ते दोऊ हिंसा मार्गके प्रवर्त्तावनहारे नरक विषै बाध करैं हैं ॥ ६७ ॥

धर्मार्थं ददते मांसं, ये नूनं मूढबुद्धयः ।

जिजीविषन्ति ते दीर्घं, कालकूटविषाशने ॥ ६८ ॥

अर्थ—जे मूढबुद्धी धर्मके अर्थ मांसकों देय हैं ते निश्चयकरि कालकूट विषकों खाय करि जिये चाहैं हैं ॥ ६८ ॥

तादृशं यच्छतां नास्ति, पापं दोषमजानताम् ।

यादृशं गृह्णन्तां मांसं, जानतां दोषमूर्जितम् ॥ ६९ ॥

अर्थ—दोषके स्वरूपकों न जानते ऐसे दानके देनेवाले तिनकों तैसा पाप नाहीं जैसा महापाप दोषकों जानते जे मांसकों ग्रहण करनेवाले तिनकों हे ।

भावार्थ—कुदानका देनेवाला अज्ञानतैं धर्म जानि दान देय है सो पापी तो है ही परन्तु जो जानकरि दोष सहित दान ग्रहण करै है सो ताहू तैं महापापी है तातैं भोले जीवतैं जानिकै प्रपंच करै ताकै कषाय अधिक है, ऐसा जानना ॥ ६९ ॥

दाता दोषमजानानो, दत्ते धर्मधियाऽखिलम् ।

यः स्वीकरोति तद्दानं, पात्रं त्वेष न सर्वथा ॥ ७० ॥

अर्थ—दाता है सो तो दोषकों न जानता संता धर्मबुद्धिकरि सर्व दान देय है अर जो ता कुदानकों अंगीकार करै है सो सर्वथा पात्र नाहीं ॥ ७० ॥

बहूनि तानि दानानि, विधेयैषा न शोमुषी ।

विपद्यतेतरां प्राणी, भूरिभिर्भक्षितैर्विषैः ॥ ७१ ॥

अर्थ—पूर्वे कहे ते बहुत प्रकार दान हैं ऐसी यह वाणी कहना योग्य नाहीं, जातैं बहुत खाये भये जे विष तिनकरि जीव है सो अतिशयकरि नाश कीजिए है ।

भावार्थ—पहले कहे जे बहुत कुदान ते दान हैं ऐसे कहना

भी योग्य नहीं बहुत कुदान किये पाप ही है जैसे बहुत विष खाये प्राणीका विशेषतँ मरण ही है तैसेँ ॥ ७१ ॥

अल्पं जिनमतं दानं, वदंतीमं न कोविदाः ।

पीयूषेणोपभुक्तेन, किं नाल्पेनापि जीव्यते ॥ ७२ ॥

अर्थ—यह जिनमतका कहा दान है सो अल्प है ऐसैँ पंडितजन न कहँ हैं, जातँ खाया भया थोड़ा भी अमृत करि कहा न जिवाइए है जिवाइए ही है ।

भावार्थ—कोई कहै कि जैनमतका दान तो थोड़ा है जातँ कहा भला होय ताकोँ आचार्यनैँ कहा है जो सुदान थोड़ा भी महा-पुण्य उपजावै है, जैसेँ अमृत थोड़ा है सो भी जिवावै है तैसेँ जिन-भाषित दान थोड़ा न जानना ॥ ७२ ॥

ग्रहीतुः कुरुते सौख्यं दानैस्तरिखिलैर्यतः ।

पुण्यभागी ततो दाता नेदं वचनमंचितम् ॥ ७३ ॥

आपाते लभ्यते सौख्यं विपाके दुःखमुल्वणम् ।

अपथ्यैरिव तैर्दानैर्दुर्जरंजननिदितैः ॥ ७४ ॥

आपाते सुखदं पुण्यमंते दुःखावतारिभिः ।

भूमिदानादिभिर्दत्तैर्न किं पाकफलैरिव ॥ ७५ ॥

अर्थ—जातँ पहले कहे जे समस्त दान तिनकरि दान ग्रहण करनेवालेके सुख करिए है तातँ दाता पुण्यका भजनेवाला होय है ऐसा वचन योग्य नहीं ॥ ७३ ॥ जातँ वर्तमानमें तो तिन कुदाननि करि कुप-थ्यकी ज्योँ सुख पाइए हे अर तिनके विपाकविषैँ अत्यंत दुःख होय है, कैसे है कुपथ्य-दुःख करै है पचना जिनका अर लोककरि निदित है तैसेही कुदान है ऐसा जानना ॥ ७४ ॥ वर्तमानमें सुखदायक अर अन्तमें दुःखके बढ़ावनेवाले ऐसे किंपाप फल समान जे दिये भये बहुत कुदानादि तिनकरि पुण्य नहीं होय है ।

भावार्थ—कोऊ कहै कि पृथ्वीदानादि लेनेवाला सुखी होय है तातैं दाताकौ पुण्य होय है ताकौ बह्या है कि जैसे कुपथ्य वर्त्तमानमें तो मीठा लागै, परन्तु प्राण ही हरै है अर किपाकका फल खाते तो मीठा लागै पाछै प्राण हरै है तैसेँ पृथ्वी आदि दाननिविषैँ वर्त्तमानमें सुखसा भाषैँ परन्तु आगामी हिंसादिकके योगतैं नरकादिकमें लेने-वालेकौ तीव्र दुःख उपजायैँ है, तातैं देनेवालेकैँ पुण्य नाहीं पाप ही है ॥ ७५ ॥

प्रचुरोऽपात्रसंघाते मर्दचित्वाऽपि पोषिते ।

पाये संपद्यते धर्मो, नैषा भाषा प्रशस्यते ॥ ७६ ॥

अर्थ—जीवनके समूहकौँ नाशकैँ भी पात्रकौँ पोखे संते प्रचुर धर्म होय है ऐसी वाणी सराहने योग्य नाहीं ॥ ७६ ॥

ताका दृष्टान्तः—

निहस्य भेकसंदभ यः, प्रीणाति भुजंगमम् ।

सोऽश्नुते यादृशं पुण्यं, नूनमन्योऽपि तादृश्यम् ॥ ७७ ॥

अर्थ—मीडकानिके समूहकौँ हनिकैँ जो सर्पकौँ पोखे है सो पुरुष जैसा पुण्यकौँ ग्रहण करै है तैसा ही पुण्य निश्चयकरि और भी ग्रहण करै है ।

भावार्थ—जैसेँ अनेक मीडकानिकौँ हनिकैँ कोइँ सर्पकौँ पोखे ताकैँ पाप होय तैसेँ और जीवनकौँ मारकैँ ब्राह्मणादिकनिके पोषनेतैं पाप होय है, पुण्य नाहीं; ऐसा जानना ॥ ७७ ॥

आत्मीकरोति यो दानं, जीवमर्दन सम्भवम् ।

आकाक्षन्नात्मनः सौख्यं, पात्रता तस्य कीदृशी ॥ ७८ ॥

अर्थ—जो आपकेँ सुख वांछता संता जीवनिके घाततैं उपज्यः जो दान ताहि ग्रहण करै है, ताकैँ पात्रता कैसी ।

भावार्थ—अयोग्य दान लेय सो पाप काहेका, वह तो अपाप ही है ॥ ७८ ॥

न सुवर्णादिक देयं न, दाता तस्य दायकः ।

न च पात्रं ग्रहीताऽस्य, जिनानामीति शासनम् ॥ ७९ ॥

अर्थ—सुवर्णादिक तौ देने योग्य वस्तु नहीं अर तिस सुवर्णादिकका देनेवाला दाता नहीं अर इस दानका ग्रहण करनेवाला पात्र बाहीं, या प्रकार जिनदेवनिका शासन कहिए आज्ञा है ॥ ७९ ॥

पात्रं विनाशितं तेन, तेनाधर्मः प्रवर्तितः ।

येन स्वर्णादिकं दत्तं, सर्वानर्थविधायकम् ॥ ८० ॥

अर्थ—तिसनै पात्रका तौ विनाश किया अर तिसनै अधर्म प्रवर्त्ताया जाकरि सर्व अनर्थनिका करनेवाला सुवर्णादिक दिया तामै ।

भावार्थ—सुवर्णादिकत हिंसादिक पाप उपजै है तातै लेनेवालेका तो नाश किया अर अधर्म प्रवर्त्ताया, तातै कुदान देना योग्य नाहीं ॥ ८० ॥

आगै देनेयोग्य वस्तुका वर्णन करै हैः—

रागो निपूयते येन येन धर्मो विवद्ध्यते ।

संयमः पोष्यते येन विवेको येन जन्यते ॥ ८१ ॥

आत्मोपशम्यते येन येनोपक्रियते परः ।

न येन नाश्यते पात्रं तदातव्यं प्रशम्यते ॥ ८२ ॥

अर्थ—जाकरि राग नाशकीं प्राप्त होय अर जाकरि धर्म वृद्धिकीं प्राप्त हांय अर जाकरि संयम पुष्ट हांय अर जाकरि विवेक उपजै ॥ ८१ ॥ अर जाकरि आत्मा उपशांत होय अर जाकरि परका उपकार होय अर जाकरि पात्रका बिगाड़ न होय सो देने योग्य वस्तु सराहिए है ॥ ८२ ॥

आगै देनेयोग्य वस्तुके विशेष कहै हैं—

अभयानौषधज्ञानभेदतस्तश्चतुर्विधम् ।

दानं निगद्यते सद्भिः प्राणिनामुपकारकम् ॥ ८३ ॥

अर्थ—अभयदान १ अन्नदान २ औषधदान ३ ज्ञानदान ४ इन भेदनिर्तितैः प्राणिनिका उपकार करनेवाला दान सन्तन करि व्याप्य प्रकार कहिए है ॥ ८३ ॥

धर्मार्थकाममोक्षाणां, जीवितव्ये यतः स्थितिः ।

तदानतस्ततो दत्तास्ते, सर्वे संति देहिनाम् ॥ ८४ ॥

अर्थ—जा कारणतैः धर्म अर्थ काम मोक्ष इनकी स्थिति जीवितव्य होत सन्तै होय है तातैः जीवनको जीवितव्यके दानतैः धर्म अर्थ काम मोक्ष सर्व दिये ।

भावार्थ—जानैः जीवनको अभयदानादि दिया तातैः धर्म अर्थ काम मोक्ष दिये तातैः धर्मादिकका आधार जीवना ही है तातैः ॥ ८४ ॥

देवैरुक्तो वृणीष्वैकं, त्रैलोक्यप्राणितव्ययोः ।

त्रैलोक्यं वृणुते कोऽपि, न परित्यज्य जीवितम् ॥ ८५ ॥

अर्थ—तीन लोक अर जीवितव्य इन दोऊनिमेंसै एक ग्रहण कर ऐसै देवनिकरि कहा पुरुष जीवितव्यको छोड़ करि कहा तीन-लोकको ग्रहण करै है, अपि तु नाहीं करै है ।

भावार्थ—जीवितव्यके आग तीन लोकका सम्पदा कछु नाहीं जातै जीवितव्यको छोड़करि कोऊ भी तीन लोकको न चाहै है ॥ ८५ ॥

त्रैलोक्यं न यतो मूल्यं, जीवितव्यस्य जायते ।

तद्रक्षता ततो दत्तं, प्राणिनां किं च काक्षितम् ॥ ८६ ॥

अर्थ—जातैः जीवितव्यका माल तीन लोक न होय है तातैः जीवितव्यको रक्षा करता जो पुरुष ताकरि प्राणीनिको कहा वाञ्छित वस्तु न दिया, अपि तु सर्व ही दिया ॥ ८६ ॥

नाभीतिदानतो दानं, समस्ताधारकारणम् ।

महीयो निर्मलं नित्यं, गगनादिव विद्यते ॥ ८७ ॥

अर्थ—आकाशकी ज्यों समस्त आधारका कारण अर बढ़ा अर निर्मल अर नित्य ऐसा अभयदानके सिवाय और कोऊ दान नार्ही है ॥ ८७ ॥

आगें आहारदानका वर्णन करें हैं—

आहारेण विना पुंसां, जीवितव्यं न तिष्ठति ।

आहारं यच्छता दत्तं, ततो भवति जीवितम् ॥ ८८ ॥

अर्थ—आहार विना पुरुषनिका जीवितव्य न तिष्ठै है, तातें आहारकों देता जो पुरुष ताकरि जीवितव्य दिया ही होय हैं ॥ ८८ ॥

नेत्रानंदकरं सेव्यं, सर्वचेष्टाप्रवर्त्तिनम् ।

अन्धसा धार्यते देहं, जीवितेनेव जन्मिनाम् ॥ ८९ ॥

अर्थ—जैमें नेत्रनिकों आनन्दकारी सेवने योग्य चेष्टाका प्रवर्त्तन करनेवाला आयुकरि जीवनिक देह धारिये है तैसें भोजनकरि देह धारिए हैं ॥ ८९ ॥

कांतिः कीर्तिर्मतिः क्षांतिः शांतिर्नीतिर्गती रतिः ।

उक्तिः शक्तिर्द्युतिः प्रीतिः प्रतीतिः श्रान्व्यवस्थितिः ॥ ९० ॥

आहारवर्जितं देहं सर्वे मुंचन्ति तत्त्वतः ।

द्राविणापाकृतं मर्त्यं वेश्या इव मनोरमाः ॥ ९१ ॥

अर्थ—कांति, कीर्ति, बुद्धि, क्षमा, शांति, नीति, गति, रति, वाणी, शक्ति, दीप्ति, प्रीति, प्रतीति, लक्ष्मी, स्थिरता ये सर्व आहार रहित देहकों निश्चयतैं छोड़े हैं, जैसें मनकों प्यारी जे वेश्या ते द्रव्य रहित पुरुषकों छोड़े है ॥ ९०-९१ ॥

शमो दमो दया धर्मः, संयमो विनयो नयः ।

तपो यशो वचोदाक्ष्यं, दीयतेऽन्नप्रदायिना ॥ ९२ ॥

अर्थ—कषायनकी मंदतारूप शम अर इंद्रियनिका दमन अर दया अर धर्म संयम अर विनय अर नय अर तप अर वचनका चतुर-पना ये सर्व अन्न देनेवाले पुरुषकरि दीजिए है ॥ ९२ ॥

क्षुद्रोगेण समो व्याधिराहारेण समौषधिः ।

नासीनास्ति न चाभावि, सर्वव्यापारकारिणी ॥ ९३ ॥

अर्थ—क्षुधारोग समान तो रोग अर भोजन समान औषधि सर्व व्यापारकी करावनेवाला न तो आगै भई अर न है अर न होयगी ॥ ९३ ॥

दुर्गधिकुथितं शीर्णं, विवर्णं नष्टचेष्टितम् ।

भोजनेन विना गात्रं, जायते मृतकोपमम् ॥ ९४ ॥

अर्थ—दुर्गधरूप बिगड़ा सड़ा और वर्णकों प्राप्त भया अर नष्ट भई है चेष्टा जाकी ऐसा शरीर है सो भोजन विना मृतक समान होय है ॥ ९४ ॥

न पश्यति न जानानि, न श्रणोति न जिघ्रति ।

न स्पृसति न वा वक्ति, भोजनेन विना जनः ॥ ९५ ॥

अर्थ—भोजन विना मनुष्य है सो न देखे है न जानै है न सुनै है न सूँवै है न स्पर्शै है अर न बालै है सर्व चेष्टा नष्ट होय है ॥ ९५ ॥

प्रविक्रीयान्न कृच्छ्रेषु, कांताकन्यातनूभुवः ।

आहारं गृह्णते लोका, बलभानपि निश्चितम् ॥ ९६ ॥

अर्थ—बलके कष्ट होने करि लोक हैं ते स्त्री कन्या पुत्र इन प्यारेनकूं भी बेचकरि आहारकों निश्चयतैं प्रहण करै है ॥ ९६ ॥

यया खादंल्यभक्ष्याणि, क्षुषया क्षपिता जनाः ।

सा हन्यतेऽशनेनैव, राक्षसीव भयंकरा ॥ ९७ ॥

अर्थ—जिस क्षुषाकरि पीडित जन है ते अभक्षकौ खाय हें सो क्षुषा राक्षसीकी ज्यो भयंकर भोजन करि ही नाश कीजिए है ॥ ९७ ॥

यश्चैवाहारमात्रेण शरीरं, रक्ष्यते नृणाम् ।

चामीकरस्य कोटोभिर्वह्नीभिरपि नो तथा ॥ ९८ ॥

अर्थ—जसी आहारमात्र करि मनुष्यनिके शरीरकी रक्षा करिए है तैसी बहुत कोटि सुवर्ण करि भी रक्षा न करिए है ॥ ९८ ॥

क्षिप्रं प्रकाश्यते सर्व माहारेण कलेवरम् ।

नभो दिवाकरेणैव, तमोजालावगुंठितम् ॥ ९९ ॥

अर्थ—जैसे अन्धकार करि व्याप्त जो आकाश सो सूर्यकरि प्रकाशिये है तैसें सर्व शरीर आहारकरि शीघ्र प्रकाशिए है ॥ ९९ ॥

न शक्नोति तपः कर्तुं, स्रोगः संयतो यतः ।

ततो रोगापहारार्थं देयं, प्रासुकमौषधम् ॥ १०० ॥

अर्थ—जातै रोग सहित संयमी हे सो तप करनेकौ समर्थ न होय है तातै रोगके दूर करनेके अर्थ प्रासुक औषधि देना योग्य है ॥ १०० ॥

न देहेन विना धर्मो न, धर्मेण विना सुखम् ।

यतऽनो देहगृक्षार्थं, भेषज्यं दायते यतैः ॥ १०१ ॥

अर्थ—जातै देह विना धर्म नाहीं अर धर्म विना सुख नाहीं जातै देहकी रक्षाके अर्थ साधुकौ औषध देना योग्य है ॥ १०१ ॥

शरीरं संयमाधारं, रक्षणीयं तपस्विनाम् ।

प्रासुकैरौषधैः पुंवा, यत्नतो मुक्तिकाक्षिणा ॥ १०२ ॥

अर्थ—संयमका आधार जो तपस्वीनका शरीर सो मुक्तिका बाँछक जो पुरुष ताकरि यत्नतै प्रासुक औषधनि करि रक्षा करनी योग्य है ॥ १०२ ॥

आगे शास्त्रदानका वर्णन करें हैं ।

विवेको जन्यते येन संयमो येन पाल्यते ।

धर्मः प्रकाश्यते येन मोहो येन विहन्यते ॥ १०३ ॥

मनो नियम्यते येन रागो येन निकृत्यते ।

तद्देयं भव्यजीवानां शास्त्रं निर्धूतकल्पषम् ॥ १०४ ॥

अर्थ—जाकरि विवेक उपजाइए अर जाकरि संयम पालिए अर जाकरि धर्म प्रकाशिए अर जाकरि मोह हनिए ॥ १०३ ॥ अर जाकरि मन निश्चल कीजिए अर जाकरि छेडिए तो नाश किया है पाप जानै ऐसा शास्त्र भव्यजीवनिकौ देना योग्य है ॥ १०४ ॥

विवेको न विना शास्त्रं, तमृते न तपो यतः ।

ततस्तपोविधानाय देयं, शास्त्रमनिदितम् ॥ १०५ ॥

अर्थ—जातै शास्त्रविना विवेक नाहीं अर विवेकविना तप नाहीं तात तप करनेके अर्थ अनिदित शास्त्र देना योग्य है ॥ १०५ ॥

आग और भी दान देनेयोग्य वस्तुनिकौ कहैं हैं ।

वस्त्रापात्राश्रयादीनि पराण्यपि यथोचितम् ।

दातव्यानि विधानेन रत्नत्रितयवृद्धये ॥ १०६ ॥

वर्यमध्यजघन्यानां पात्राणामुपकारकम् ।

दानं यथायथं देयं वैयावृत्यविषायिना ॥ १०७ ॥

अर्थ—वस्त्र पात्र अर वसतिका इत्यादि कभी रत्नत्रयकी वृद्धिके अर्थ विधानमहित यथायोग्य देनायोग्य है ॥ १०६ ॥ वैयावृत्यका करनेवाला जो पुरुष ताकरि उत्तम मध्यम जघन्य पात्रनिकर उपकार करनेवाला दाय यथायोग्य देनायोग्य है ॥ १०७ ॥

भावार्थ—पंच महाव्रतके धारक षाधु तो उत्तम पात्र हैं, अर देशव्रती श्रावक मध्यम पात्र हैं, अर अविरत सम्यग्दृष्टि जघन्य पात्र हैं

सो इनको यथायोग्य दान कहिए साधूनको साधूनके योग्य आहारादिक देना, श्रावकनको तथा अविरत सम्यग्दृष्टिनको योग्य वस्त्रपात्रादिक देना । ऐसैं जा पदमें जो वस्तु देनायोग्य होय सो देना, ऐसा जानना ॥ १०८ ॥

आगैं अधिकारको संकोचैं हैं;

पोष्यंते येन चित्राः सकलसुखफलस्तोमरोपप्रवीणाः,

सम्यक्त्वज्ञानचर्यायमनियमतपोवृक्षजातिप्रबंधाः ।

भव्यक्षोणीषु तद्यः क्षतनिखिलमलं मुंचते दानतोयं,

तुल्यस्तस्योपकारी मधुरप्रकृतो भव्यमेघस्य नान्यः ॥१०८॥

अर्थ—समस्त सुखरूप फलनिके समूहके धारणमें प्रवीण जे नानाप्रकार ऐसा सम्यक्त ज्ञान चारित्र यम नियम तप रूप वृक्षनिकी जातिनिके प्रबंध ते जाकरि पुष्ट कीजिए हैं, ऐसा जो दानरूप जल ताहि जो भव्यजीवरूप पृथ्वीनिविषैं ल्यागै है वरसै है कैसा है जल नाश क्रिये हैं समस्त मल जानैं ऐसा, सो उपकारी पुरुष मधुर शब्द करने-वाला जो मेघ ताके समान है अन्य ताके समान नाहीं ।

भावार्थ—दान देनेवाला पुरुष मेघके समान है पूर्वोक्त मेघके विशेषण दाताके सम्भवै है अन्य कृपणके न सम्भवै हैं, ऐसा जानना ॥ १०८ ॥

वात्सल्यासक्तचित्तो नयविनयपरो दर्शनालंकृतात्मा ।

देवादेये विदित्वा वितरति विधिना यो यतिभ्योऽत्र दानं ॥

कीर्त्ति कुन्दावदाताममितगतिमतां पूरयन्तो त्रिलोकम् ।

लब्ध्वा क्षिप्रं प्रयाति क्षपितभवभयं माक्षमक्षणमौर्ख्यं ॥१०९॥

अर्थ—वात्सल्य कहिए प्रीतिभाव तामें है आसक्त चित्त जाका बहुरि नीति अर विनय विषैं परायण अर सम्यग्दर्शन करि भूषित है आत्मा जाका ऐसा जो पुरुष देने योग्य न देने योग्य वस्तुको जान-

करि विविषहित यतीनके अर्थ दान देय है सो इष भवविषे तीनलोककों पूरती ऐसी अनंतज्ञानीनि करि कही जो कुन्दके फलप्रमाण निर्मल कीर्ति ताहि पाय करि शीघ्र माक्षकों प्राप्त होय है, कैसा हैं मोक्ष दूर किया है संसारका भय जानें अर अक्षाण है सुख जाविषे ।

भावार्थ—दानो पुरुष इन भवमै तौ निर्मलकीर्तिपात्र है अर परंपराय मोक्षकों प्राप्त होय है यह दानका फल है ऐसा जानना ॥१०९

छप्पय ।

धर्म माहि अतिप्रीति विनयजुत रीतिनीतिमति ।

सम्पददर्शनविमलरत्नभूषित पुनीत अति ॥

जोग अजोग विचार देत जां दानसहितविधि ।

साधु जननिके अधि देखि गुणमणिअपारनिधि ॥

सो तीनलोकमें विमलजस पाय अमितगति जिनकथित ।

पुनि लहै मोक्षपद अखयसुख ज्ञानमयी भवभयरहित ॥

इत्युपासकाचारे नवमः परिच्छेदः ।

ऐसैं श्री अमितगति आचार्यविरचित श्रावकाचारविषै

नवम परिच्छेद समाप्त भया ।

दशम परिच्छेद ।

आगैं पात्र कुपात्र अपात्रकों कहै हैः—

पात्रकुपात्रापात्राण्यवबुद्धयः फलार्थिना सदा देयम् ।

क्षेत्रमनवबुद्धयोसं बीजं न हि फलति फलमिष्टम् ॥ १५ ॥

अर्थ—फलका अर्थी जो पुरुष ताकरि पात्र कुपात्र अपात्र इनकों जानकरि सदा दान देना योग्य है, तानें क्षेत्रकों विना जाने बोया जो बीज सो बाछिन फलकों नाहीं फलै है ॥ १ ॥

तहां पात्रनिका स्वरूप कहै हैं:—

पात्रं तत्त्वपटिष्ठैरुत्तममध्यमजघन्यभेदेन ।

त्रेधा क्षेत्रमितोक्तं विविधफलनिमित्ततो ज्ञात्वा ॥ २ ॥

अर्थ—तत्त्वज्ञानीनते तीनप्रकार फलके कारणते जानकरि उत्तम मध्यम जघन्य भेदकरि क्षेत्रकी उयो पात्र तान प्रकार कहा है ॥ २ ॥

उत्तममुत्तमगुणतो मध्यमगुणतोऽथ मध्यमं पात्रम् ।

विज्ञेयं बुद्धिमता जघन्यगुणतो जघन्यं च ॥ ३ ॥

अर्थ—बुद्धिमान पुरुषकरि उत्तम गुणते उत्तमपात्र जानना योग्य है, बहुरि मध्यमगुणते मध्यम पात्र जानना योग्य है, अर जघन्य गुणते जघन्य पात्र जानना योग्य है ॥ ३ ॥

तत्रोत्तम तपस्वी विरताविरतश्च मध्यमं ज्ञेयम् ।

सम्यग्दर्शनभूषः प्राणी पात्र जघन्यं च ॥ ४ ॥

अर्थ—तहां तपस्वी म धु तो उत्तम पात्र जानना योग्य है अर विरताविरत श्रावक मध्यम पात्र जानना योग्य है, अर सम्यग्दर्शन युक्त प्राणी है सो जघन्य पात्र जानना ॥ ४ ॥

आगै उत्तम पात्रका स्वरूप कहै हैं:—

जीवगुणमार्गणविधि विधानतो यो विबुद्धय निःशेषम् ।

रक्षति जीवनिर्कायं सवितेव परोपकारपरः ॥ ५ ॥

पथ्यं तथ्यं श्रव्यं वचनं हृदयंगमं गुणगरिष्ठम् ।

यो ब्रूते हितकारी परमानसतापतो भीतः ॥ ६ ॥

निर्माल्पकमिव मत्वा पर वित्तं यक्षिषापि नाऽऽदत्ते ।

दन्तातरशोधनमपि पतितं दृष्ट्वाप्यदत्तमतिः ॥ ७ ॥

तिर्यङ्मानवदेवाच्चेतनभेदां चतुर्विधां योषाम् ।

परिहरति यः स्थिरात्मा मारीमिा सर्वथा घोरात् ॥ ८ ॥

त्रिविधं चेतनजातं संगं चेतनमचेतनं त्यक्त्वा ।
 यो नाऽऽदत्ते भूयो वातमिवान्न त्रिधा धीरः ॥ ९ ॥
 त्रिविधालंबनशुद्धिः प्रासुकमार्गेण यो दयाधारः ।
 युगमात्रांतरदृष्टिः परिहरमाणोऽगिनो याति ॥ १० ॥
 हृदयं विभूषयन्तीं वाणीं तापापहाग्निममलाम् ।
 मुक्तानामित्र मालां यो दूते सूत्रसंबद्धाम् ॥ ११ ॥
 षष्ट्वारिं शहोषापेढां यो विशुद्धनवकोटीम् ।
 मृष्टामृष्टप्रमानभुक्तिं विदधाति विजिताक्षः ॥ १२ ॥
 द्रव्यं विकृतिपुरः परमंगिप्रामप्रपालनासक्तः ।
 गृह्णाति यो विमुंचति यत्नेन दयांगमाश्लिष्टः ॥ १३ ॥
 निर्जंतुकेऽविरोधे दूरे गूढे विसंकटे क्षिपति ।
 उच्चारप्रश्रवणश्लेष्माद्यं यः शरीरमलम् ॥ १४ ॥
 जिनवचनपंजरस्थं विधाय बहुदुःस्वकारणं क्षिप्रम् ।
 विदधाति यः स्ववदयं मर्कटमित्र चंचलं चित्तम् ॥ १५ ॥
 यो वचनौषधमनघं जरामरणरोगहरणपरम् ।
 बहुशो मौनविधायो ददाति भव्यांगिनां महितम् ॥ १६ ॥
 कायोत्सर्गविधायी कर्मक्षयकारणाय भवभीतः ।
 कृत्याकृत्यपरो यः कार्यं वितनति सूत्रमतम् ॥ १७ ॥
 यस्येत्थं स्थेयस्य सम्यग्गतसमितिगुप्तयः संति ।
 प्रोक्तः स पात्रमुत्तममुत्तमगुणभाजनं जैनैः ॥ १८ ॥

अर्थ—जो जीवस्थान गुणस्थान मार्गणास्थानके मेंदनको
 विधानतै जानकरि जीवनके समूहकी रक्षा करै है अर सूर्यकी उयो
 पराये उपकारमें तत्पर है ।

भावार्थ—जो जैबै सूर्य अपेक्षारहित जीवनिर्को प्रकाश करै है

तैसैं अपेक्षा विना जो परके उपकारमें तत्पर है ॥ ५ ॥ बहुरि जो हितरूप सत्यार्थ सुननेयोग्य हृदयको ध्याया गुणनिकरि गरुवा ऐसे वचनको बोलै है, कैसा है सो हितका करनेवाला अर परके मनको ताप उपजावनेतैं भयभीत है ॥ ६ ॥ बहुरि जो परधनको निर्माल्यवत् मानकरि दांतनका अन्तर शोधन मात्र तृणादिक भी मन वचन काय करि ग्रहण नाहीं करै है कैसा है सो पड़े द्रव्यको देखकर भी अदत्तकी है बुद्धि जाके ।

पढ़ी वस्तुको भी देखकर अदत्त मानकर ग्रहण न करै है ॥ ७ ॥ बहुरि धिर है आत्मा जाका ऐसा जो तिर्यचणी मनुष्यणी देवांगना अचेतन पुतली आदि भेदरूप ऐसी च्यार प्रकार स्त्रीको भयानक मारी रोगकी उयो सर्वथा त्यागै है ॥ ८ ॥ बहुरि जो धीर नाना प्रकार चेतनतैं उपज्या चेतन परिग्रह खां पुत्रादिक अर अचेतन परिग्रह धन धान्यादिक ताहि त्याग करि फेरि वमन किये अन्नकी उयो ग्रहण नाहीं करै है ॥ ९ ॥ बहुरि प्रासुक मार्ग करि जीवनिको बचावता गमन करै है कैसा है सो तीन प्रकार मन, वचन, कायके आलंबनतैं है शुद्धि जाके, बहुरि दयाका आधार, युग प्रमाण आंतरै है दृष्टि जाके ।

च्यार हाथ ताई क्षेत्र देखकरि चालै है ऐसा है ॥ १० ॥ बहुरि जो हृदयको भूषित करती आतापको हरनेवाली अर सूत्रकरि भले प्रकार बन्धी ऐसी मोतीनकी माला समान जो वानी ताहि बोलै है ।

मोतीकी माला हृदयको शोभित करै है सो यह वाणी भी हृदय जो चित्त ताको शोभित करै है अर माला आताप हरै है अर माला सूत्र कहिये डोरा तासूं बन्धी है अर वाणी जिनभाषित सूत्रसूं बंधी है ऐसी समान उपमा जाननी ॥ ११ ॥

बहुरि जो छयालीस दोष रहित अर नवकोटी शुद्ध आहार ताहि ग्रहण करै है, भले बुरे आहारमें है समान बुद्धि जाकी अर जीती है इन्द्रिय जानै ॥ १२ ॥ बहुरि जो विकृति कहिये हस्त धोवनादि कार्यके अर्थ भस्म अर आदि शब्द करि पीछी कमंडलु सांथरा इत्यादि वस्तुकों यत्नसहित ग्रहण करै है, जीवनके समूहके पालनेमें आसक्त है चिन जाका अर दयाके अंग प्रति लिपट रखा है ॥ १३ ॥

बहुरि जो जीवरहित अर विरोध रहित बहुरि दूर गुप्त अर संवट रहित त्रिस्तीर्ण ऐसे क्षेत्र विषै मल मूत्र कफ आदि शरीरके मलों क्षेपे है ॥ १४ ॥ बहुरि जो बहुत दुःखका कारण वादरा मम न चञ्चल जो चित्त ताहि जिन वचन रूप पौजरेमें बैठाय करि शीघ्र अपने वश करै है ॥ १५ ॥

बहुरि जो जन्मजरामरणरूप रोगके हरणेमें तत्पर ऐसी निर्दोष अर पूजित जो वचनरूप औषधि ताहि भव्यजीवनकों देय है सो बहुषा मौनका धरनेवाला है ।

भावार्थ—मुख्यपनै तौ मौन ही धारै है अर कदाच बोले है, तौ सबका हितकारी वचन बोले है । ऐसा जानना ॥ १६ ॥ बहुरि जो कर्मनिके क्षयके अर्थ कायोत्सर्ग कर है अर संसारतैं भयभीत है अर जो करनेयोग्य न करने योग्यका ज्ञाता जिनसूत्रभाषित कार्यकों करै है ॥ १७ ॥ जा मुनिकै या प्रकार सम्यक् पंच महाव्रत पंच समिति तीन गुप्ति है सो उत्तम पात्र उत्तम गुणनिका भाजन जैनीनि करि कहा है ॥ १८ ॥

इन तेरह श्लोकनिमें तेरह प्रकार चारित्रिका वर्णन किंवा, जो इनकों धारै है सो उत्तम पात्र जानना, आगैं इस ही उत्तम पात्रका विशेष स्वरूप कहैं हैं—

राग द्वेषो मोहो लोभः क्रोधो मदः स्मरो माया ।

यं परिहरन्ति दूरं दिवाकरमिवांधकारचयाः ॥ १९ ॥

अर्थ—जैसे सूर्यको अंधकारके समूह दूर ल्यागे है तैसे जा मुनिको राग द्वेष मोह क्रोध लोभ मान काम माया दूर परिहरै है ।

भावार्थ—जाके रागादिकका अभाव भया है ॥ १९ ॥

दर्शनबाधचरित्रत्रितयं यस्यास्ति निर्मलं हृदये ।

आनंदितभव्यजनं विमुक्तिलक्ष्मीवशीकरणम् ॥ २० ॥

अर्थ—जाके हृदय विषे निर्मल दर्शनज्ञान चारित्रका त्रितय है, कैसा है दर्शन ज्ञानचारित्रका त्रितय आनंदको प्राप्तकिये हैं भव्यजीव जानै अर मुक्तिलक्ष्मीका वश करनेवाला है ॥ २० ॥

यस्यानवद्यवृत्तेर्जगममित्र मंदिरं तपोलक्ष्म्याः ।

कायक्लेशैरुपैवंशीकृतं राजते गात्रम् ॥ २१ ॥

अर्थ—बहुरि जिन मुनिका शरीर उग्र कायक्लेशनि करि कृश किया चालता तप लक्ष्मीका मंदिर समान सोहै है, कैसा है सो मुनि पाप रहित है प्रवृत्ति जाकी ॥ २१ ॥

वैर्विजिता जगदीशा, विविधा विपदः सदा प्रपद्यन्ते ।

तानीन्द्रियाणि सद्यो, महीयसा येन जीयन्ते ॥ २२ ॥

अर्थ—जिन इंद्रियनि करि जीते जे इंद्रादिक ते नाना प्रकार विपदानको सदा प्राप्त होय हैं ते इंद्रिय जिस महात्मा करि तत्काल जीतिर है ।

भावार्थ—वे साधू इंद्रियनिके बस करनेवाले हैं ॥ २२ ॥

पूजायामपमाने सौरुये, दुःखे समागमे विगमे ।

क्षुम्यति यस्य न चेतो, पात्रमसावुत्तमः साधुः ॥ २३ ॥

अर्थ—पूजा विषे तथा अपमानविषे, सुखविषे अर दुःखविषे,

लाभविषै अलाभविषै, जाका चित्त रागद्वेषकों न प्राप्त होय है सो यह साधु उत्तम पात्र है ॥ २३ ॥

यस्य स्वपरविभागो न विद्यते निर्ममत्वचित्तस्य ।

निर्वाधबोधदीपप्रकाशिताशेषतत्वस्य ॥ २४ ॥

अर्थ—जिष मुनिकै स्वपरका विभाग नाहीं है कैसा है सो मुनि पर वस्तुमें ममता रहित है चित्त जाका अर बाधारहित ज्ञान दीपक करि प्रकाशे हैं समस्त पदार्थ जानै ।

भावार्थ—जिष मुनिकै मोहके अभावसै परद्रव्यमें यह मेरा है यह पराया है ऐसा भेद नाहीं सबनिकोंज्ञेय मात्र करि जानै है ॥२४॥

संसारवनकुठारं दातुं, कल्पद्रुमफलमभीषम् ।

यो घत्ते निरवद्यं क्षमादिगुणसाधनं धर्मम् ॥ २५ ॥

अर्थ—जो मुनि निर्दोष क्षमादि गुण हैं साधन जाके ऐसे धर्मकों धारै है, कैसा है धर्म संसार वनके छेदनकों कुठार समान है, अर वांछित फल देनेकों कल्पवृक्ष समान है ॥ २५ ॥

लोकाचारनिवृत्तः कर्ममहाशत्रुमर्दनोद्युक्तः ।

यो जातरूपधारी संयतपात्रं मतं वर्धम् ॥ २६ ॥

अर्थ—जो मुनि लौकिक आचारतै निवृत्त है अर कर्मरूप महा-शत्रुके नाश करनेमें उद्यमी है अर जातरूप कहिए माताके गर्भतै जैसा उपज्या तैसा नम्ररूपका धारी मुनि उत्तम पात्र कहा है ॥२६॥

ऐसै उत्तम पात्रका स्वरूप कहा, आगै मध्यम पात्रका स्वरूप कहै हैं—

राकाशशांकोज्ज्वलदृष्टिभूषः, प्रवर्द्धमानव्रतशीललक्ष्मीः ।

सामायिकारोपितचित्तवृत्ति, निरन्तरोपोषितशोषितांगः ॥ २७ ॥

अचेतनाहारनिवृत्तचित्तो, वैरंगिको मुक्तदिनव्यवायः ।

निरस्तशश्वद्वमितोपभोगो, निराकृतासंयमकारि कर्मा ॥ २८ ॥

निवारिताशेषपरिग्रहेच्छः, सावधकर्मानुमतेरकर्ता ।

औद्देशिकाहारनिवृत्तबुद्धि, दुरंतसंसारनिपातभीतः ॥ २९ ॥

उपासकाचारविधिप्रवीणो, मंदीकृताशेषकषायवृत्तिः ।

उत्तिष्ठते यो जननव्यपाये, तं मध्यमं पात्रमुदाहरन्ति ॥ ३० ॥

अर्थ—पूर्णमासीके चन्द्रमा समान निर्मल जो सम्यग्दर्शन सोही है आभूषण जाके, बहुरि वर्द्धमान है पंच अणुव्रत अर सात शील इनकी लक्ष्मी जाके, बहुरि सामायिकविधैं आरोपित करी है चित्तकी वृत्ति तानैं अर सदा प्रोषधोपवास करि संख्या है अंग जानैं ॥२७॥ सचित्त आहारतैं निवृत्त है चित्त जाका अर विमुक्तरूप है, तथा छं ड्या है दिनविषैं मैथुन जानैं, अर दूर किया है । निगन्तर खाका उपभोग जानैं अर दूर किये हैं असंयमके करनेवाले कार्य जानैं ॥२८॥ बहुरि विनाशी है समस्त परिग्रहकी इच्छा जानैं, बहुरि पाप सहित कार्यमें अनुमोदनैनाकों नाहीं करे है । बहुरि आपके उद्देशकरि किया जो आहार ता विषैं निवृत्त है बुद्धि जाकी ऐसा जो संसार ताके पडनेतैं भयभीत है ॥ २९ ॥ उपासकाचारकी विधिमें प्रवीण अर मंद करी है समस्त कषायनकी प्रवृत्ति जानैं ऐसा जो पुरुष संसारके नाश विषैं उद्यमी है ताहि मध्यम पात्र कहैं हैं ॥ ३० ॥

भावार्थ—इति दर्शनादि उद्दिष्टाहारविरतिपर्यंत ग्यारह प्रतिमानकूं जो धरै है सो श्रावक मध्यम पात्र जाननां । इहां इतना और जानना । पहली दर्शन प्रतिमा तो अवश्य चाहिए ताके हांतैं बाकी दोय प्रतिमा आदि ग्यारह प्रतिमा पर्यंत श्रावक ही है ॥ २७-३० ॥

ऐसैं मध्यम पात्रका स्वरूप कहा, आगैं जघन्य पात्रका स्वरूप कहैं हैं—

कुमुदबांधवदीधितिदर्शनो, भवजरामरणार्तिविभीलुकः ।

कृतचतुर्विध संवहिते हितो, जननभोगशरीरविरक्तधीः ॥ ३१ ॥

भवति यो जिनशासनभाषकः, सततनिन्दनगर्हणचंचुरः ।

स्वपरतत्वविचारण कोविदो, व्रतविधाननिरुसुकमानसः ॥ ३२ ॥

जिनपतिरिततत्वविचक्षणो, विपुलधर्मफलेक्षणतोषितः । .

सकलजन्तुदयार्द्रितचेतन, स्तमिह पात्रमुशंति जघन्यकम् ॥ ३३ ॥

अर्थ—चन्द्रमाकी किरण समान निर्मल है सम्यग्दर्शन जाका बहुरि जन्म जरा मरणका पीडालै भय है अर कग्धा है ब्यार प्रकार संघके हितविषै हित कहिये प्रीतिरूप भाव जानै अर संसारके भोग शरीरविषै विरक्त है बुद्धि जाकी ॥ ३१ ॥ बहुरि जो जिन शासनका प्रकाशक है, अर निरन्तर अपनी निंदा गहाँ विषै प्रवीण है, बहुरि आत्मतत्व अर परतत्व इनके विचारमें पंडित है, बहुरि व्रतनिके आचरणविषै निरुसुक है मन जाका । भावार्थ व्रत न धार सकै है ॥ ३२ ॥ बहुरि जिनभाषित तत्वविषै विचक्षण है, अर बड़ा जो धर्मका फल ताके देखनेनै सन्तुष्ट है ।

भावार्थ—धर्मका मुख्य फल जो मोक्ष ता सिवाय अन्य फल न चाहै है, अर समस्त प्राणीनिवाी दया करि भीज ग्या है चित्त जाका ऐसा जो अविरत सम्यग्दृष्टी ताहि इहां जघन्यपात्र कहै हैं ॥ ३३ ॥

आगै कुपात्रका स्वरूप कहै हैं—

चरति यश्चरणं परदुश्चरं, विकटघोरकुदर्शनवासितः ।

सकलसत्वहितोद्यतचेतनो, विनथकर्कशवाक्यपराङ्मुखः ॥ ३४ ॥

घनकलत्रपरिग्रहनिस्पृहो, नियमसंयमशीलविभूषितः ।

कृतकषायद्वेषीकविनिर्जयः, प्रणिगदंति कुपात्रमिमं बुधाः ॥ ३५ ॥

अर्थ—जो परकौ कठिन है आचरण जाका ऐसे आचरणकौ आचरै है, अर विकट अर भयानक ऐसे मिथ्यादर्शन करि वासित है, बहुरि सर्व जीवनिके हितमें उद्यमी है मन जाका, अर ईठ अर

कठोर ऐसे वचनतेँ पराङ्मुख है ॥ ३४ ॥ बहुरि धन स्त्री परिग्रहतेँ निस्पृही है, अर नियम संयमशील इन करि भूषित है, बहुरि करषा है कषाय अर इंद्रियनिका पराजय जानै ऐसा है, इस पुरुषकोँ पंडितजन हैं ते कुपात्र कहै हैं ॥ ३५ ॥

भावार्थ—जो कायक्लेशादि करै है अर व्रत धारै अर कषाय इंद्रियनिकों भी जांतै है अर सम्यक्त रहित है सो कुपात्र है ऐषा जानना ॥ ३४-३५ ॥

आगै अपात्रका स्वरूप कहै हैं—

गतकृपाः प्रणिहन्ति शरीरिणो, वदति यो वितथं परुषं वचः ।

हरति वित्तमदत्तमनेकधा, मदनवाणहतो भजतेऽगनाम् ॥ ३६ ॥

विविधदोषविधायिपरिग्रहः, पिवति मद्यमयंत्रतमानसः ।

कृमिशुलाकुलितै प्रसते पलं, कलिलकर्मविधानविशारदः ॥ ३७ ॥

दृढकटुंबपरिग्रहपंजरः, प्रशमशीलगुणव्रतवर्जितः ।

गुरुकषायभुजंगमसेवितं, विषयलोलमपात्रमुशांत तम् ॥ ३८ ॥

अर्थ—जो दयारहित जीवनकोँ हनै है, बहुरि झूँट अर कठोर वचनकोँ बोलै है, अर दिना दिये धनकोँ अनेक प्रकार हरै है, अर कामबाण करि पीड़ित भया सन्ता स्त्रीकोँ सेवै है ॥३६॥ अर नाना दोषनिका करनेवाला जो परिग्रहता सहित है, अर नाहीं है वशीभूत मन जाका ऐसा भया सन्ता मदिराकोँ पीयै है, अर कीड़ाके समूहकरि व्यास जो मांस ताहि अर पाप कर्म करणे विषै प्रवीण है ॥३७॥ अर दृढ़ कुटुम्ब परिग्रहके पींजरा सहित है, बहुरि समता-शील गुणव्रत इन करि वर्जित है तिम विषय-लोलुपीकोँ आचार्य अपात्र कहै हैं, कैसा है सो तीव्र-कषायरूप सर्पकरि सेवित हैं ॥३८॥

भावार्थ—सम्यक्त अर व्रतादिक इन दोऊनि करि रहित है सो अपात्र है ।

विबुद्धय पात्रं बहुधेति पंडितै, विशुद्धबुद्धया गुणदोषभाजनम् ।

विहाय गह्वं परिगृह्य पावनं, शिवाय दानं निधिना वितीर्यते ॥ ३९ ॥

अर्थ—या प्रकार पंडितकरि निर्मल बुद्धिकरि गुण अर दोषनिका भाजन जो बहुत प्रकार पात्र ताहि जानकै अर निदनीककौ त्यागिकै अर पवित्रकौ ग्रहण करकै मोक्षके अर्थ विधि सहित दान दीजिए है ।

भावार्थ—या प्रकार गुण दोषनतें पात्र अर अपात्रकौ जानिकै मोक्षके अर्थ अपात्रनिकौ त्यागके पात्रनिकौ दान देना योग्य है ॥ ३९ ॥

आमैं उत्तम पात्रनिकौ आहार देनेकी विधि कहैं हैं—

कृतोत्तरासंगपवित्रविग्रहो, निजालयद्वारगतो निराकुलः ।

ससंभ्रमं स्वीकुरुते तपोधनं, नमोऽस्तु तिष्ठेति कृतध्वनिस्ततः ॥ ४० ॥

सुसंस्कृते पूज्यतमे गृह्णांतरे, तपस्विनं स्थापयते विधानतः ।

मनीषितानेकफलप्रदायकं, सुदुर्लभं रत्नमिवास्तदूषणम् ॥ ४१ ॥

अनेकजन्मार्जितकर्मकर्त्तिन, स्तपोनिधेस्तत्र पवित्रवारिणा ।

स सादरः क्षालयते पदद्वयं, विमुक्तये मुक्तिसुखाभिलाषिणः ॥ ४२ ॥

प्रसूनगन्धाक्षतदीपकादिभि, प्रपूज्य मर्यामरवर्गपूजितम् ।

मुदा मुमुक्षोः पदपंकजद्वयं, स वंदते मस्तकपाणिकुङ्कुमलः ॥ ४३ ॥

मनोवचः कायविशुद्धिमंजसा, विधाय विध्वस्तमनोभवद्विषः ।

चतुर्विधाहारमहार्यनिश्चयो, ददाति सः प्रासुकमात्मकल्पितम् ॥ ४४ ॥

अर्थ—करया है उज्ज्वल घोषती दुपट्टा सहित पवित्र शरीर जानै, बहुरि अपने घरके द्वारमें प्राप्त भया आकुलता रहित ऐसा भया सन्ता मुनिराजकौ अंगीकार करै है, कैसा है सो नमस्कार होऊं, हे मुनीन्द्र इहां तिष्ठौ ऐमें करया है शब्द जानै ॥ ४० ॥ बहुरि ता पीछें भले प्रकार किया है संस्कार जाका ।

भावार्थ—दया सहित लगा है चौका आदि जहां ऐसे अतिशय

करि प्रशंसा योग्य घरके भीतर तपस्वीकों विधानसँ स्थापित करै, कैसा है तपस्वी बाँलित अनेक फलका देनेवाला है, अर दुषण रहित ररनकी उर्यो भले प्रकार दुर्लभ है ॥ ४१ ॥ अनेक जन्मकरि उपाजें जे कर्म तिनका काटनेवाला ऐसा जो तपोधन मुनि ताके तहाँ पवित्र जल करि सो आदर सहित चरण युगलकों मुक्तिके अर्थ प्रक्षालन करै है, कैसे हैं मुनि मुक्तिके सुखकी है अभिलाषा जाकै ॥ ४२ ॥ बहुरि मनुष्य अर देवनके समूहकरि पूजित जो मोक्षभिलाषी मुनिका चरणयुगल ताहि पुष्प गन्ध अक्षत दीपक इत्यादि द्रव्यनि करि हर्ष सहित वेदै है, अर मस्तकसे लगाए हैं हस्तकमल जानें ॥ ४३ ॥ बहुरि नाश किया है कामरूप वैरी जानें ऐसे मुनिकों मन, वचन, कायकी विशुद्धिता भले प्रकार करके आपके अर्थ किया जो चार प्रकार प्रासुक आहार ताहि देय है, कैसा है सो पुरुष नाहीं हरणे योग्य है निश्चय जाका ।

भावार्थ—दृढ़ है श्रद्धान जाका ऐसा है ॥ ४४ ॥

अनेन दत्तं विधिना तपस्विनां, महाफलं स्तोत्रमपि प्रजायते ।

वसुन्धरायां वटपादपस्य किं, न बीजमुसं परमेति विस्तरम् ॥ ४५ ॥

अर्थ—इस विधि सहित तपस्वीनकों थोडा दिया जो दान सो महाफल उपजावै है । जैसे पृथ्वीविषै बोया जो वटवृक्षका बीज सो कहा उत्कृष्ट विस्तरकों प्राप्त न होय है, होय ही है ॥ ४५ ॥

निवेशितं बीजमिलातलेऽनघे, विना विधानं न फलावहं यथा ।

तथा न पात्राय वितीर्णमंजसा, ददाति दानं विधिना विना फलम् ॥ ४६ ॥

अर्थ—जैसे निदोष पृथ्वीतल विषै बोया भया बीज है सो विधान जो जतन आदि क्रिया ता विना फलदाता न होय है तैसे पात्रके अर्थ भले प्रकार दिया भया दान है सो विधि जो पडगाहन आदि ता विना फलकों न देय है ॥ ४६ ॥

सदाऽतिथिम्यो विनयं वितन्वता, निजं प्रदेयं प्रियजल्पिना धनम् ।
प्रजायते कर्कशभाषिणः स्फुटं, धनं वितीर्णं गुरुवैरकारणम् ॥ ४७ ॥

अर्थ—विनयको विस्तारता अर मिष्ट वचन बोलता जो पुरुष
ताकरि पात्रनिके अर्थ अपना धन कहिये यथायोग्य अहारादि वस्तु
देना योग्य है जातैं कठोर वचन बोलनेवालेकै दिया भया वस्तु है सो
प्रकटपने महावैरका कारण होय है ॥ ४७ ॥

निगद्य यः कर्कशमस्तचेतनो, निजं च दत्ते द्रविणं शठवतः ।

सुखाय दुःखोदयकारणं परं, मूल्येन गृह्णाति स दुर्मनः कालम् ॥ ४८ ॥

अर्थ—जो निर्बुद्धी कठोर वचनको बोलकै अर मूर्खपनातैं अपना
द्रव्य देय है सो दुष्टचित सुखके अर्थ केवल दुःखके उदयका कारण
जो पाप कलह ताहि मूल्यतैं ग्रहण करै है ।

भावार्थ—जो खोटा वचन बोलकै दान देय है सो उलटा
पाप बन्ध करै है ॥ ४८ ॥

सम्यग्भक्ति कुर्वतः संयतेभ्यो, द्रव्यं भावं कालमालोक्य दत्तम् ।

दातुर्दानं भूरि पुण्यं विषत्ते, सामग्राः सर्वकार्यप्रसिद्धिः ॥ ४९ ॥

अर्थ—भले प्रकार भक्तिकौ करता जो दाता ताके द्रव्य भावं
काल इनको विचारकै दिया भया दान है सो धने पुण्यको उपजावै है
जातैं सर्व कार्यको प्रसिद्धि है सो सामग्रातैं होय है ।

भावार्थ—भक्ति सहित द्रव्यादिक पूर्व कहे प्रमाण विचारकै
पात्रनिके अर्थ थोड़ा भी दिया दान है सो बहुत पुण्य बन्धको करै है,
इहां द्रव्य भाव काल तो कहे अर क्षेत्र पात्रनिकौ जान लेना ॥ ४९ ॥

बलाहकादेकरसं विनिर्गतं, यथा पथो भूरिरसं निःसर्गतः ।

विचित्रमाधारमवाप्य जायते, तथा स्फुटं दानमपि प्रदातृतः ॥ ५० ॥

अर्थ—जैसैं मेघतैं निकस्या जो एक रसरूप जल सो स्वभावहीतैं

नाना प्रकार आधारकों पाय करि अनेक रसरूप होय है तैसैं दातातैं निकस्या दान भी प्रकटवने नाना प्रकार पात्रनिकों पाय अनेक प्रकार रूप परिणमै है ।

भावार्थ—जैसैं पात्रकों दान दीजिए तैसां ही कर्मबन्ध स्वयमेव होय है, ऐसा जानना ॥ ५० ॥

घटे यथाऽऽमे सलिलं निवेशितं, पलायते क्षिप्रमसौ च भिद्यते ।
तथा वितीर्णं त्रिगुणाय निष्फलं, प्रजायते दानमसौ च नश्यति ॥५१॥

अर्थ—जैसैं काचे घट विधे भया जो जल है सो श प्र निकल जाय है अर घट भी छूट जाय है तैसैं गुण रहित पुरुषके अर्थ दिया भया दान है सो निष्फल होय है अर वो लेनेवाला भी नाशकों प्राप्त होय है, पापबन्ध करै है, ऐसा जानना ॥ ५१ ॥

विना विवेकेन यथा तपस्विता, यथा पटुर्विन विना सरस्वती ।
तथा विधानेन विना वदान्यता, न जायते शर्मकरी कटाचन ॥५२॥

अर्थ—जैमें विना विवेक तपस्वीपना अर चातुर्यपना विना सरस्वती व दाचित् सुखकारी न होय है तैसैं पूर्वोक्त विधान विना दान देना कटाच सुखकारी नाहीं ॥ ५२ ॥

यथा वितीर्णं भुजङ्गाय पावने, प्रजायते प्राणहरं विषं पयः ।
भवत्यपात्राय धनं गुणाञ्ज्वलं, तथा प्रदत्तं बहुदोषकारणम् ॥ ५३ ॥

अर्थ—जैसैं सर्पके अर्थ दिया भया जा पवित्र दूष सो प्राणनका हरनेवाला विष होय है तैसैं अपात्रके अर्थ गुणन करि उज्ज्वल जो धन सो दिया भया बहुत दोषका कारण होय है ॥ ५३ ॥

वित्तार्य यो दानमसंयतात्मने, जनः फलं कांक्षति पुण्यलक्षणम् ।
वित्तार्य वीजं उवलिते च पावके, समीहते सस्यमपास्तदूषणम् ॥५४॥

अर्थ—जो मनुष्य असंयत मनुष्यके अर्थ दान देकरि पुण्य है

लक्षण जाका ऐसे फलकों चाहे है सो जलती अग्निविषे बीजकों बोय करि दूषण रहित धान्यकों बाँछे है ।

भावार्थ—विषय कषायनि सहित मदोन्मत्त मिथ्यादृष्टीनकों दान देकै पुण्य चाहे है सो नाहीं होय है । बहुरि इहां असंयमीकों दान निषेध्या सो दुःखित जीवनिकों करुणा दान नाहीं निषेध्या है, ऐसा जानना ॥ ५४ ॥

विमुच्य यः पात्रमवधविच्छिदे, कुधीरपात्राय ददाति भोजनम् ।

स कर्षितं क्षेत्रमपोह्य सुन्दरं, फलाय बीजं क्षिपते बतोपले ॥ ५५ ॥

अर्थ—जो पुरुष पापके नाशके अर्थ पात्रकों छोड़कै अपात्रकों भोजन देय है तहां आचार्य कहैं हैं बड़े खेदकी बात है, जो सुन्दर जोते भये खेतकों छोड़करि पत्थर विषे बीजकों खेपे है ॥ ५५ ॥

यथा रजोधारिणि पुष्टिकारणं, विनश्यति क्षीरमलावुनि स्थितम् ।

प्ररूढमिध्यात्वमलाय देहिने, तथा प्रदत्तं द्रविणं विनश्यति ॥ ५६ ॥

अर्थ—जैसे पुष्टिकारी जो दूध सो धूरकी धारनेवाली जो तूंबडी ताविषे धरथा भया नाशकों प्राप्त होय है तैसे फैंल रह्या है मिध्यात्वरूप मल जाकै ऐसे प्राणोंको दिया भया द्रव्य है सो नाशकों प्राप्त होय है ।

भावार्थ—जैसे घूल मरी कटुक तूंबडी विषे भया दूध नाशकों प्राप्त होय अर कटुक परिणमें तैसे मिध्यादृष्टीको दिया धन नाशकों प्राप्त होय है अर पापबन्ध करे है, ऐसा जानना ॥ ५६ ॥

नो दातारं मन्मथाक्रान्तचिनः, संसारातेः पाति पापावलौढः ।

अम्भोराशेर्दुस्तरा ह्लाहमध्या, नावा लोहं तार्यमाणं न दृष्टम् ॥ ५७ ॥

अर्थ—कामकरि व्याप्त है चित्त जाका ऐसा पापरूप पुरुष सो दाताको संसारकी पीडाते न बचावै है, जाते दुस्तर समुद्रते लोहमयी नावकरि लोह तिराया न देख्या है ॥ ५७ ॥

ग्रन्थारम्भक्रोधलोभादि पुष्टो, ग्रन्थारम्भक्रोधलोभादिपुष्टम् ।

जन्माराते रक्षितुं तुल्यदोषो, नूनं शक्तो नो गृहस्थो गृहस्थम् ॥ ५८ ॥

अर्थ—आचार्य तर्क करि कहैं हैं—अहो ! जो परिग्रह आरम्भ क्रोध, लोभ इत्यादिकनि करि पुष्ट है, परिग्रहकरि गुरु है सो परिग्रह आरम्भ क्रोध लोभ आदि करि पुष्ट जो गृहस्थ ताहि संसार वैरीतें रक्षा करनेको समर्थ नाहीं, कैसा है सो गुरु गृहस्थ समान है दोष जा विषे ।

भावार्थ—परिग्रहादि दोषनि करि तैसा दाता तैसा ही पात्र सो दोष सहित पात्रका कैसें भला करै ऐसी आचार्यनैं तर्क करी है, ऐसा जानना ॥ ५८ ॥

लोभमोहमदमत्सरहीनो, लोभमोहमदमत्सरगेहम् ।

पातिजन्मजलधेरपरागो, रागवन्तमपहस्तितपापः ॥ ५९ ॥

अर्थ—दूर किया है पाप जानै ऐसा वीतराग लोभ मोह मद भावकरि रहित पात्र है सो लोभ मोह मद मत्सर भावनिका धर जो रागी पुरुष ताहि संसार-समुद्रतें रक्षा करै है ।

भावार्थ—रागी जीवनको तारनेको वीतराग ही समर्थ है अन्य नाहीं, ऐसा जानना ॥ ५९ ॥

सर्वदोषनिचिताय फलार्थी, यो ददाति धनमस्तविचारः ।

तदधाति स मल्लिच्छहस्ते, कानने पुनरपि ग्रहणाय ॥ ६० ॥

अर्थ—जो विचारहित पुरुष फलका अर्थी दोषनि करि व्याप्त पुरुषके अर्थ धनको देय है सो वन विषे चौरनके हाथमें फेर पाछा लेनेके अर्थ धन सोंपै है ॥ ६० ॥

दानं यतिभ्यो ददता विधानतो, मतिर्विधेया भवदुःखशांतये ।

दुरंतसंसारपयोधिपातिनी, न भोगबुद्धिर्मनसाऽपि धीमता ॥ ६१ ॥

अर्थ—विधान सहित यतीनके अर्थ दान देत

ताकरि संसार दुःखकी शांतिके अर्थि बुद्धि करनी योग्य है, अर दूर है अन्त जाका ऐसा जो संसार-समुद्र ताविषे पटकनेवाली जो भोगनिकी बुद्धि सो बुद्धिवानकरि मनकरि भी करनी योग्य नाहीं ।

भावार्थ—दान देकरि परमार्थहीकी बुद्धि करनी, भोगनिकी अभिलाषा न करनी ॥ ६१ ॥

प्रदाय दानं व्रतिनां महात्मनां, यो याचते भोगमनर्थकारणम् ।
मनीषितानेकसुखप्रदं मणि, प्रदाय गृह्णाति स दुर्जरं विषम् ॥ ६२ ॥

अर्थ—जो पुरुष महात्मा व्रतीनको दान देकरि अनर्थका कारण जो भोग ताहि बाँछै है सो बाँछित अनेक सुखका देनेवाला जो रत्न ताहि देकरि दुर्जर विषको ग्रहण करै है ॥ ६२ ॥

पन्नागानामिव प्राणिविनाशिना, मर्जने रक्षणे पोषणे सेवने ।
याति घाराणि दुःखानि येषां जनः, संति भोगाः कथं ते मतः धीमताम् ॥

अर्थ—प्राणीनको दुःख देनेवाले सर्पनके समान जो भोग तिनके उपजावने विषै रक्षणविष पोषणविषै सेवनेविषै भयानक दुःखनिको जाँच प्राप्त होय है ते भोग बुद्धिवाननिके मने भए कैसे होय ।

भावार्थ—भोगनिको बुद्धिमान सुखकारी कैसे मानै, अपि तु नाहीं मानै ॥ ६३ ॥

श्रद्धीयमाणा अपि वंचयंते, निषेव्यमाणा अपि मारयंते ।
ये पोष्यमाणा अपि पांडयंते, ते संति भोगाः कथमर्थनीयाः ॥ ६४ ॥

अर्थ—जे भोग प्रीति करे भए भी ठिगै हैं अर सेये भये भी मारै है अर पोषे भए भी पांडा उपजावै है ते भोग कैसे बाँछने योग्य होय हैं, अपि तु नाहीं होय हैं ॥ ६४ ॥

उत्पद्यमाना निलयं स्वकीयं, ये हृदयवाहा इव धार्यमाणाः ।
प्रप्लोषयंते हृदयं ज्वलंतं, स्ते याचनीयाः कथमिन्द्रियार्थाः ॥ ६५ ॥

अर्थ—जैमें जाववलयमान उपजी भई अग्नि हैं ते अपने स्थानकों जलावें तैमें वै भोग इच्छा करि घरेभए मन विषे जलते संते हृदयकों जलाव है ते इंद्रियनिके भोग कैसें वांछने योग्य होय ॥ ६५ ॥

दत्तप्रलापभ्रमशोकमृच्छाः, संतापयंतः सकलं शरीरम् ।

ये दुर्निवारां जनयति तृष्णां, उवरा इवैते न सुखाय संति ॥ ६६ ॥

अर्थ—दिया है प्रलाप कहिए वृथा वकवाद अर भ्रमकहिये औरका और जानना अर शोक अर अचेतनपना जिननें, बहुरि समस्त शरीरकों संताप उपजावते अर दुर्निवार तृष्णाकों उपजावै हैं ऐसे उवरनिके समान जे भोग ते सुखके अर्थ नाहीं हैं ॥ ६६ ॥

विश्राण्य दानं कुक्षियो यतिभ्यो, ये प्रार्थयते विषयोपभोगम् ।

ते लांगलैगा खलु कांचनीयं, विलिख्य किंपाकवनं वपति ॥ ६७ ॥

अर्थ—जे कुबुद्धि यतानके अर्थ दान देकरि विषयभोगकों चाहैं हैं ते पुरुष सुवर्णमयी हलनि करि पृथ्वीकों जोत करि किंपाकनिके वनकों बावें हैं ।

भावार्थ—किंपाकका फल खानेमें तौ प्रिय लागै है अर पाछे प्राण हरै है तैसें विषय भी भोगते तौ नीके लागें हैं अर परिपाकमें महादुःख देय हैं, ताते यह दृष्टांत दिया है ॥ ६७ ॥

भिन्दन्ति सूत्राय मणिं महर्षिं, काष्ठाय ते कल्पतरुं लुनन्ति ।

नावं च लाहाय विपाटयन्ते, भोगाय दानं ननु ये ददन्ते ॥ ६८ ॥

अर्थ—आचार्य तर्क करै हैं जो जे पुरुष अर्थ दान देय है ते डोराके अर्थ महामोल रत्नकों फोड़ै है, अर काष्ठके अर्थ कल्पवृक्षकों काटे हैं अर लोहके अर्थ जहाजकों तोड़ैं हैं ॥ ६८ ॥

परैरशक्यं दभितेन्द्रियाश्चा, श्रन्ति षर्म विषयार्थिनो ये ।

पाषाणमाषाय गळे महान्तं, विशन्ति ते तैरमलभ्यपारम् ॥ ६९ ॥

अर्थ—दमे है इंद्रिय रूप घांड़े जिनने ऐसे जे पुरुष औरनि करि अशक्य जो धर्म ताहि विषयार्थी भए सन्ते आचरें है ते बड़े बड़े पाषाणकों गले विषे धारकै नाहीं लेने योग्य है पार जाका ऐषा जो जल ता प्रति प्रवेश करै है ॥ ६९ ॥

दिने दिने ये परिचर्यमाणा, विवर्द्धमानाः परिपीडयन्ते ।

ते कस्य रोगा इव संति भोगा, विनिदनीया विदुषोऽर्थनीयाः ॥ ७० ॥

अर्थ—जे भोग दिन दिनविषे परिचार किये भए वर्द्धमान भए संते जैसे रोग पीड़ा उपजावै तैसे पीड़ा उपजावें हैं ते निदने योग्य भाग कौन पंडित जनकों वांछने योग्य होय है, अपितु नाहीं होय है ॥ ७० ॥ प्रयच्छन्ति सौख्यं सुराधीश्वरेभ्यो, न ये जातु भोगाः कथं ते परेभ्यः । निशुंभन्ति ये मत्तमत्र द्विपेन्द्रं, न कंठीरवास्ते कुरंगं ल्यजन्ति ॥ ७१ ॥

अर्थ—जे भोग सुरानिके नायक जो इन्द्र तिनके अर्थ ही कदाचित् सुख न देय हैं ते औरनके अर्थ सुख कैसे देय । इहां दृष्टांत कहै है—जे सिंह इहां लोकमें मतवारे गजेन्द्रकों मारें हैं ते हिरणकों नाहीं छोड़े हैं ॥ ७१ ॥

न याचनीयाविदुषेति दोषं, विज्ञाय रोगा इव जातु भोगाः ।

किं प्राणहारित्वमवेक्षमाणो, जिजीविषुः खादति कालकूटम् ॥ ७२ ॥

अर्थ—या प्रकार दोषकों जानिके पंडितजन करि रोग समान जे भोग ते कदाचित् वांछने योग्य नाहीं । इहां दृष्टांत कहै है—प्राणहारीपणों देखता जीवनेका वांछक जो पुरुष है सो कहा कालकूटकों खाय है, अपि तु नाहीं खाय है ॥ ७२ ॥

भोगाः संपद्यमानाः सुरमनुजभवाश्चित्तप्राप्तसौख्या
याच्यन्ते लब्धुकामैः कथमपविपदं धर्मतो मुक्तिकांताम् ।

सस्यं स्वीकर्तुकामाः क्षुदुरुतरतमस्कांडविच्छेददक्षं ।

स्वीकर्तुं किं पलाळं फलममलघियः कुर्वते कर्षणं हि ॥ ७३ ॥

अथ—धर्मते मुक्त स्त्रीकौ प्राप्त होनेकी है इच्छा जिनके ऐसे पुरुषनि करि वांछित प्राप्त किये हैं सुख जिननें ऐसे प्राप्त भए जे देव मनुष्य जनित भोग ते विपदा रूप कोई प्रकार याचिए है अपितु नाहीं याचिए है; जाते धान्यकौ अंगीकार करनेके वांछक जे निर्मल बुद्धि पुरुष है ते कहां ख्यार फलकौ अंगीकार करनेकौ खेती करै हैं, अपितु नाहीं करै हैं, कैसा है धान्य पीड़ा रूप जो बड़ा अन्धकारका समूह ताके छेदने विषे प्रवीण है ।

भावार्थ—जैसे खेतमें मुख्य फल तौ धान्य है अर पियार आदि स्वयमेव उपजै हे तैसे धर्मका फल तौ मोक्ष है । इन्द्रादिक पद तौ विना चाहे शुभोपभोगतै स्वयमेव उपजै है, ताते इन्द्रादिक पदके योग्य धर्मका वांछना योग्य नाहीं ॥ ७३ ॥

त्यक्ता भोगाभिलाषं भवमरणजरारण्यनिर्मूलनार्थं

दत्ते दानं मुदायो नयविनयपरः सप्तमेभ्यां यतिभ्यः ।

भुक्ता भोगानरोगानमरवरवधूलोचनाभोजभानु-

नित्यां निर्वाणलक्षमोममितगतियतिप्रार्थनीयां स याति ॥ ७४ ॥

अर्थ—नीति अर विनयविषे तत्पर भया जो पुरुष जन्म जरा मरणरूप वनके नाशके अर्थ भोगनिकी वांछाकौ ल्यागिकै हर्ष रहित संयमी मुनीश्वरनिके अर्थ दानं देय है सो देवांगनाके नयनकमलकौ सूर्य समान देव होय रोग रहित भोगनिकौ भोगि मोक्ष लक्ष्मीकौ प्राप्त होय है, कैसी है मोक्ष लक्ष्मी अविनाशी है अर अप्रमाण है ज्ञान जिनका ऐसे यतीन करि वांछने योग्य है ॥ ७४ ॥

दोहा ।

भोग चाह तजि साधुकों, देत दान जो जीव ।
सुरसुख सब लहि अमितगति, होय माक्षतिय पीव ॥

इत्युपासकाचारे दशमः परिच्छेदः

इस प्रकार अमितगति आकाशविरचित भावकाचारविषे
दशवां परिच्छेद पूर्ण भया ।



एकादश परिच्छेद ।

फलं नाभयदानस्य, वक्तं केनाऽपि पार्यते ।

यस्याऽऽकल्पं मुखे जिह्वा, ब्रह्मप्रियन्ते सहस्रशः ॥ १ ॥

अर्थ—अभयदानके फलको कहनेको कोऊ करि भी समर्थ
हूजिए है, अपितु नाहीं हूजिए है; जिसके कहनेको कल्पकाल पर्यंत
हजारों जीभ मुखविषे व्यापार कीजिए है तो भी अभयदानके फल
कहनेको कोऊ करि भी समर्थ न हूजिए है ॥ १ ॥

धर्मार्थकाममोक्षाणां, जीवितं मूलमिष्यते ।

तद्रक्षता न किं दत्तं, हरता तन्न किं ह्वतम् ॥ २ ॥

अर्थ—धर्म अर्थ काम मोक्ष इन चारों ही पुरुषार्थनिका मूल-
जीवना कहिए है ताते तिस जीवनेको रक्षा करता जो पुरुष ताकरि
कहा न दिया अर ता जीवनेको रक्षा हरता जो पुरुष ताकरि कहा न
नाश किया, सर्व ही नाश किया ॥ २ ॥

गोबालब्राह्मणस्त्रीतः पुण्यभागी यदीष्यते ।

सर्वप्राणिगणत्रायी, नित्यं न तदा कथम् ॥ ३ ॥

अर्थ—जो गो बालक ब्राह्मण स्त्री इनकी रक्षार्ते पुण्यवान जीव

मानिए है तो समस्त प्राणीनिके समूहका रक्षा करनेवाला पुरुष है सो अधिक पुण्यवान कैसे नाहो ॥ ३ ॥

यद्येकमेकदा जीवं त्रायमाणाः प्रपूज्यते ।

न तदा सर्वदा सर्वं त्रायमाणः कथं बुधैः ॥ ४ ॥

अर्थ—जो एक काल एक जीवको रक्षा करता सन्ता पुरुष है सो पूजिए है तो सदा काल सर्व जीवको रक्षा करता सन्ता पुरुष है सो पंडितनि करि कैसें नाहीं पूजिए है, पूजिए ही है ॥ ४ ॥

चामीकरमयी मुर्वी ददानः पर्वतैः सह ।

एकजीवाभयं नूनं ददानस्य समः कुतः ॥ ५ ॥

अर्थ—आचार्य तर्क करै हैं—पर्वतनि सहित सुवर्णमयी पृथ्वीको देता पुरुष है सो एक जीवको रक्षा करता जो पुरुष ताके समान कहाँतै होय, अपितु नाहीं होय ॥ ५ ॥

गुणानां दुःखः पानामर्चितानां महात्मभिः ।

दयालुर्जीयते स्थानं मणीनामित्रं सागरः ॥ ६ ॥

अर्थ—बड़े पुरुषनि करि पूजित ऐसे जे दुर्लभ गुण तिनका दयालु स्थानक होय है, जैसें रत्ननिका स्थान समुद्र होय है तैसें ॥ ६ ॥

संयमा नियमाः सर्वे दयालोः सन्ति देहिनः ।

जायमाना न दृश्यंते भूरुद्रा घरणीमृते ॥ ७ ॥

अर्थ—दयावान जीवके संयम नियम सर्व होय है, जाते पृथ्वी विना वृक्ष हैं ते उपजे न देखे ॥ ७ ॥

कारणं सर्ववैराणां प्राणिनां विनिपातनम् ।

तत्सदा त्यजतस्त्रेधा कुतो वैरं प्रवर्त्तते ॥ ८ ॥

अर्थ—प्राणीनिको घात है सो सर्व वैर भावनिका कारण है, ताते प्राणीके घातको मन वचन काय करि त्यागता जो पुरुष ताके वैरभाव कहाँ प्रवर्त्तै ॥ ८ ॥

मनोभूरिव कातांग सुवर्णाद्रिरिव स्थिरः ।

सरस्वानिव गम्भीरो विवस्वानिव भास्वरः ॥ ९ ॥

आदेयः सुभगः सौम्यस्त्यागी भोगी यशोनिधिः ।

भवत्यभयनदानेन चिरजीवी निरामयः ॥ १० ॥

अर्थ—अभयदान करि कामदेव समान सुन्दर शरीर होय है, अर मेरुसमान स्थिर होय है, अर समुद्र समान गम्भीर होय है, अर सूर्यसमान प्रभावान होय है ॥ ९ ॥ सबनिकै प्यारा होय है, सुन्दर होय है, सौम्य होय है, त्यागी होय है, भोगी होय है, यशनिका भंडार होय है, बहुत काल जीवै है, रोगरहित होय है, ये सर्व अभयदानके फल कहै ॥ १० ॥

तीर्थकृच्चक्रिदेवानां सम्पदो बुधवन्दिताः ।

क्षणेनाभयदानेन दीयन्ते दलितापदः ॥ ११ ॥

अर्थ—अभयदान करि तीर्थकर चक्रवर्ती देव इनिकों सम्पदा क्षणमात्र करि दीजिए है, कैसी है सम्पदा पण्डितनि करि बंदत है, अर नाश करी है आपदा जिनमें ऐसी हैं ॥ ११ ॥

तदस्ति न सुखं लोके न भूतं न भविष्यति ।

यन्न सम्पद्यते सद्यो जन्तोरभयदानतः ॥ १२ ॥

अर्थ—लोक विषै सो सुख वर्तमानमें नाहीं है अर न भया अर न होयगा सो सुख जीवकों शीघ्र अभयदानतें नाहीं प्राप्त होय है, सर्व ही सुख प्राप्त होय है ॥ १२ ॥

शरीरं ध्रियते येन शममेव महाव्रतम् ।

कस्तस्याभयदानस्य फलं शक्नोति भाषितुम् ॥ १३ ॥

अर्थ—जिष अभयदान करि जीवनिका शरीर पोषिए है, जैसे समभाव करि महाव्रत पोषिए तैसे सो, जिष अभयदानके फल कहनेकों कौन समर्थ होय है ॥ १३ ॥

ऐसैं अभयदानका वर्णन किया ।

आगे आहार दानका वर्णन करै हैं:—

आहारेण विना कायो न तिष्ठति कथंचन ।

भास्करेण विना कुञ्च वासरो व्यवतिष्ठते ॥ १४ ॥

अर्थ—जैसैं सूर्य विना दिन कहाँतै तिष्ठै, दिन न होय तैसैं
आहार विना शरीर कोई प्रकार न तिष्ठै है ॥ १४ ॥

शमस्तपो दया धर्मः संयमो नियमो दमः ।

सर्वे तेन वितीर्यते येनाऽहारो वितीर्यते ॥ १५ ॥

अर्थ—जो पुरुष करि आहार दीजिए है ताकरि शमभाव तप
धर्म संयम नियम इन्द्रियनिका दमन ये सर्व दीजिए है ॥ १५ ॥

चित्तितं पूजितं भोज्यं क्षायते तस्य नालये ।

आहारो भक्तितो येन दीयते व्रतवर्तिनाम् ॥ १६ ॥

अर्थ—जो पुरुष करि भक्तिवै व्रतीनको आहारदान दीजिए है
ताके घर विषै वाळित अर प्रशंसा योग्य जो भोजन सो क्षीण नाहीं
होय है ॥ १६ ॥

कल्याणानामशेषाणां भाजनं स प्रजायते ।

सलिलानामिवांभोधिरेनाहारो वितीर्यते ॥ १७ ॥

अर्थ—जो पुरुष करि आहारदान दीजिए है सो पुरुष जैसे
जलनिका भाजन समुद्र हाय तैसैं समस्त कल्याणनिका भाजन
होय है ॥ १७ ॥

स्वयमेव श्रियोऽन्विष्य धन्यं दातारमन्वषः ।

आयाति तरसा श्रेष्ठाः सुभगं वनिता इव ॥ १८ ॥

अर्थ—आहारदान देनेवाले पुरुषको बेगि करि लक्ष्मी है ते
स्वयमेव श्रेष्ठ आय प्राप्त होय है । जैसे श्रेष्ठ स्त्री है ते सुन्दर पुरुषको
आय प्राप्त होय तैसैं ॥ १८ ॥

सम्पदस्तीर्थकतृणां चक्रिणामर्द्धचक्रिणाम् ।

भजन्यशनदं सर्वाः पयोधिमिवनिम्नगाः ॥ १९ ॥

अर्थ—तीर्थकरनिकी चक्रवर्तीनिकी अर्द्धचक्रवर्तीनिकी सर्व संपदा हैं ते आहार देनेवाले पुरुषकों सेवे है जैसे नदी समुद्रकों सेके तैसैं ॥ १९ ॥

प्रक्षीयन्ते न तस्यर्था, ददानस्यापि भूरिश ।

ददाना जनतानन्दं, चन्द्रस्येव मरीचयः ॥ २० ॥

अर्थ—जैसे लोचनकों आनन्द देती जे चन्द्रमाकी किरण ते क्षीण न होय हैं तैसैं बहुत दान देनेकी भी सम्पदा क्षीण न होय है ॥ २० ॥

तत्फलं ददतः पृथ्वी, प्रासुकं यच्च भोजनम् ।

अनयोरंतरं मन्ये, तृणाब्धिजलयोरिव ॥ २१ ॥

अर्थ—पृथ्वीकों देता जो पुरुष ताका जो फल है । बहुरि प्रासुक भोजनकों देते पुरुष ताका जो फल है, इनि दोऊनिका अन्तर तृणकी अणीका जल अर समुद्रका जल इनि दाऊनिका अन्तर है तैसैं मानूँ हूँ ।

भावार्थ—पृथ्वी दानका तौ लोकमें प्रशंसा मात्र फल है अर पाप बड़ा है, अर भोजनदानका दोऊ भवनिमें सुखकारी फल है; तातें इनिका बड़ा अन्तर क्य्या है, ऐसा जानना ॥ २१ ॥

अन्नदानप्रसादेन यत्र यत्र प्रजायते ।

ततोऽज्यते भोगैर्नभास्वानिव रश्मिभिः ॥ २२ ॥

अर्थ—जैसे सूर्य जहाँ जहाँ जाय तहाँ तहाँ किरणनिकरि न छोडि है तैसैं अन्नदानके प्रसाद करि जहाँ जहाँ जीव जाय तहाँ योगनि करि नाहीं छोडि है ॥ २२ ॥

ददानोऽशनमानं यत्फलं प्राप्नोति मानवः ।

दानात्सुवर्णकोटीनां न कदाचन तद्भुवम् ॥ २३ ॥

अर्थ—भोजनमात्र देता जो पुरुष सो जिस फलको पावै है सो कोड सुवर्णको देता जो पुरुष सो निश्चयतें कदाच न पावै है ॥ २३ ॥

विना भोगोपभोगेभ्यश्चिरं जीवति मानवः ।

न विनाऽऽहारमात्रेण तुष्टिपुष्टि प्रदायिना ॥ २४ ॥

अर्थ—भोग उपभोग विना तौ मनुष्य बहुत काल जावै है । बहुरि संतोष अर पुष्टपनाको देनेवाला जो भोजन ताविना न जीवै है ॥ २४ ॥

केवलज्ञानतो ज्ञानं निर्वाणसुखतः सुखम् ।

आहारदानतो दानं नोत्तमं विद्यते परम् ॥ २५ ॥

अर्थ—केवलज्ञानतें और दूजा उत्तम ज्ञान नाहीं, अर मोक्ष सुखतें और दूजा सुख नाहीं, अर आहारत अर दूजा उत्तम दान नाहीं ॥ २५ ॥

अंधसा क्रियते यावानुपकारः शरीरिणः ।

न तावान् रत्नकोटिभिः पुंजिताभिरपि स्फुटम् ॥ २६ ॥

अर्थ—प्राणीका जिनना उपकार भोजन करि करिये है तितना उपकार एकठे किये कोठ्यां रत्ननि करि भी प्रगटपने नहीं करिये है ॥ २६ ॥

हीयंते निखिलाश्चेष्टा विना भोजनमात्रया ।

गुप्तयो व्यवतिष्ठते विना कुत्र तितिक्षया ॥ २७ ॥

अर्थ—भोजनरूप मात्रा विना समस्त चेष्टा नाशको प्राप्त होय है । जैसे क्षमा विना मन वचन कायकी गुप्ति हैं ते कहां तिष्ठे हैं, कहां भी न तिष्ठे हैं ॥ २७ ॥

सीर्यते तरसा गात्रं जंतोर्वर्जितमंधसा ।

विना नीरं क सस्यस्य कोमलस्य व्यवस्थितिः ॥ २८ ॥

अर्थ—प्राणीका शरीर है सो भोजन विना जल्दी क्षीण होय है । जैसे जल विना कोमल घानकी स्थिरता कहां होय, अपि तु कढ़ं भी न होय है, ऐसा जानना ॥ २८ ॥

यथाऽऽहारः प्रियः पुंसां न तथा किञ्चनापरम् ।

विक्रीयन्ते प्रियाः पुत्रास्तदर्थं कथमन्यथा ॥ २९ ॥

अर्थ—पुरुषनिकों जैसा भोजन प्रिय है तैसा और किछू प्रिय नहीं, जो ऐसे न होय तो प्यारे पुत्र तिस आहारके अर्थि कैसे बेचिये है, ताते आहार सर्वते प्यारा है ॥ २९ ॥

यत्किञ्चित्सुन्दरं वस्तु दृश्यते भुवनत्रये ।

तदन्नदायिना क्षिप्रं लभ्यते लीलयाऽखिलम् ॥ ३० ॥

अर्थ—जो किछू वस्तु तीन लोकविषै सुन्दर देखिये है सो सर्व वस्तु अन्न दान करता जो पुरुष ता करि लीला मात्र करि शीघ्र पाह्ये है ॥ ३० ॥

बहुनाऽत्र किमुक्तेन विना सकलवेदिना ।

फलं नाऽऽहारदानस्य परः शक्नोति भाषितुम् ॥ ३१ ॥

अर्थ—इहां बहुत कहने करि कहा है, आहारदानका फलः सर्वज्ञ विना और दूजा कहनेकों समर्थ नहीं ॥ ३१ ॥

ऐसै आहारदानका फल वर्णन किया, आगे औषधिदानका वर्णन करें हैं—

रक्षयते व्रतिनां येन शरीरं धर्मसाधनम् ।

पार्यते न फलं वक्तुं तस्य भैषज्यदायिनः ॥ ३२ ॥

अर्थ—जिम औषधदान करनेवाले करि धर्मका साधन जो व्रतीनका शरीर ताकी रक्षा कीजिये है तिस औषधदानीके फलः कहनेकों समर्थ न हूजिये है ॥ ३२ ॥

येनौषधप्रदस्येह वचनैः कथ्यते फलम् ।

चुलुकैर्मीयते तेन पयो नूनं पयोनिधेः ॥ ३३ ॥

अर्थ—आचार्य कहें हैं मैं ऐसा मानूं हूँ कि जिस करि इस लोकमें औषध देनेवालेका फल वचन करि कहिये है, ताकरि समुद्रका जल चलूनि करि मापिये है ॥ ३३ ॥

वातपित्तकफोत्थानै रोगैरेष न पीड्यते ।

दावैरिव जलस्थायी भेषजं येन दीयते ॥ ३४ ॥

अर्थ—जा पुरुष करि औषध दीजिए है सो पुरुष जैसे दावानल करि जल विषैं तिष्ठथा पुरुष न पीड़िए तैसें वात पित्त कफ करि उठे रोगनि करि न पीड़िए है ॥ ३४ ॥

रोगैर्निपीडितो योगी न शक्तो व्रतरक्षणे ।

नास्वस्थैः शक्यते कर्तुं स्वस्थकर्म कदाचन ॥ ३५ ॥

अर्थ—रोगनि करि पीडित जो साधु सो व्रतनिकी रक्षा विषैं समर्थ न होय है। बहुरि आकुलता सहित जीवनि करि निराकुल कार्य कदाच करनेकौ समर्थ न हूजिये है ॥ ३५ ॥

न जायते स्रोगत्वं जन्तोरौषधदायिनः ।

पावकं सेवमानस्य तुषारं हि पलायते ॥ ३६ ॥

अर्थ—औषध देनेवाले पुरुषकें स्रोगपना न होय है, जातैं अग्निकौ सेवते पुरुषका शीत दूर भागै है ॥ ३६ ॥

आजन्म जायते यस्य न व्याधिस्तनुतापकः ।

किं सुखं कथ्यते तस्य सिद्धस्यैव महात्मनः ॥ ३७ ॥

अर्थ—जाकै जन्मते लगाय शरीरकौ ताप उपजावनेवाला रोग न होय है तिस सिद्ध समान महात्माका सुख कहाँ कहिए। इहा सिद्ध समान कहा सो जैसे सिद्धनिकौ रोग नहीं तैसें यकै भी रोग

नाहीं, ऐसी समानता देखि उपमा दीनी है, सर्व प्रकार सिद्ध न जान
लेना ॥ ३७ ॥

निधानमेष कांतीनां कीर्तिनां कुलमंदिरम् ।

लावण्यानां नदीनाथो भैषज्यं येन दीयते ॥ ३८ ॥

अर्थ—जा पुरुष करि औषध दीजिए है सो यह पुरुष कांति
कहिये दीतिनिकां तौ भण्डार होय है, अर कीर्तिनिका कुलमंदिर
होय है जा मैं यश कीर्ति सदा वसै है, बहुरि सुन्दरतानिका समुद्र
होय है जानना ॥ ३८ ॥

ध्वांतं दिवाकरस्येव शीतं चित्ररुचेरिव ।

भैषज्यदायिनो देहद्रोहित्वं प्रपलायते ॥ ३९ ॥

अर्थ—जैसैं सूर्यके शरीरतैं अन्धकार दूरि भागै है अर अग्निके
शरीरतैं शीत दूरि भागै है तैसैं औषध देनेवाले पुरुषके देहतैं रोगीपना
दूरि भागै है ॥ ३९ ॥

आरोग्यं क्रियते येन योगिनां योगमुक्तये ।

तदीयस्य न धर्मस्य समर्थः कोऽपि वर्णने ॥ ४० ॥

अर्थ—जाकरि योगीश्वरके मन वचन कायकी मुक्तिके अर्थ
रोगरहितपना कीजिए है ताके धर्मके वर्णन विषे कोई भी समर्थ
नाहीं ॥ ४० ॥

चारित्रं दर्शनं ज्ञानं स्वाध्यायो विनयो नयः ।

सर्वेऽपि विहितारस्तेन दत्तं येनौषधं सताम् ॥ ४१ ॥

अर्थ—जाने साधूनिकों औषधदान दिया ताने चारित्र दर्शन-
ज्ञान विनय नीति ये सर्व ही किये ।

भावार्थ—औषधते शरीर निरोग होय तब सर्व धर्मका साधन
बनै है, ऐसा जानना ॥ ४१ ॥

ऐसे औषधदानका वर्णन किया; आगे शास्त्रदानकों कहै है—

संसृतिश्छिद्यते येन निर्वृतिर्थेन दीयते ।

मोहो विघ्नयते येन विवेको येन जन्यते ॥ ४२ ॥

कषायोर्मद्यते येन मानसं येन शम्यते ।

अकृत्यं त्याज्यते येन कृत्ये येन प्रवर्त्यते ॥ ४३ ॥

तत्त्वं प्रकाशयते येन येनातत्त्वं निषिध्यते ।

संयमः क्रियते येन सम्यक्तं येन पोष्यते ॥ ४४ ॥

देहिभ्यो दीयते येन तच्छास्त्रं सिद्धिलब्धये ।

कस्तेन सदृशो धन्यो विद्यते भुवनत्रये ॥ ४५ ॥

अर्थ—जाकरि संसार छेदिए है, अर जाकरि मोक्ष दीजिए है, अर जाकरि मोह छुड़ाइए है, अर जाकरि विवेक उपजायिए है ॥ ४२ ॥ अर जाकरि क्रोधादिक कषाय नाश कीजिए है, अर जाकरि मन शांत कीजिए है, अर जाकरि अकार्य छुड़ाइए है, अर जाकरि कृत्यमें प्रवर्ताइए है ॥ ४३ ॥ अर जाकरि पदार्थनिका सांचा स्वरूप निषेधिये है, अर जाकरि पदार्थनिका अन्यथा स्वरूप निषेधिये है, अर जाकरि संयमभाव करिए है, अर जाकरि सम्यक्त पाविए है ॥ ४४ ॥ ऐसा जो शास्त्र प्राणनिकौ जाकरि मुक्तिके अर्थ दीजिए है तासमान तीनलोक विषे धन्य पुरुष कौन है, अपितु कोई नाहीं ॥ ४५ ॥

मुक्तिः प्रदीयते येन शास्त्रदानेन पावनी ।

लक्ष्मीं सांसारिकीं तस्य प्रददानस्य कः श्रमः ॥ ५६ ॥

अर्थ—जिस शास्त्रदान करि पावत्र मुक्ति दीजिए है ताके संसारकी लक्ष्मी देतेके कहा श्रम है ।

भावार्थ—जाकरि मुक्ति पाइए ताकरि इन्द्रादिक पद दुर्लभ नाहीं ॥ ४६ ॥

लभ्यते केवलज्ञानं यतो विश्वावभासकम् ।

अपरज्ञानलामेषु कीदृशी तस्य वर्णना ॥ ४७ ॥

अर्थ—जा शास्त्रज्ञानते विषयका प्रकाशक केवलज्ञान पाइए है तो और मतिज्ञान आदिके पावने विषै ताकी कथनी कैसी, और ज्ञान पावना तो सहज ही है ॥ ४७ ॥

मर्त्यामरश्रियं भुक्त्वा भुवनोत्तमपूजिताम् ।

ज्ञानदानप्रसादेन जीवो गच्छति निर्वृतिम् ॥ ४८ ॥

अर्थ—ज्ञानदानके प्रसाद करि जीव है सो लोक विष उत्तम अर पूजित ऐसी मनुष्यनिकी अर देवनिकी लक्ष्मीको भोगकै मुक्तिको प्राप्त होय है ॥ ४८ ॥

चतुरंगं फलं येन दीयते शास्त्रदायिना ।

चतुरंगं फलं तेन लभ्यते न कथं स्वयम् ॥ ४९ ॥

अर्थ—जिस शास्त्रके देनेवाले पुरुष करि चतुरंग कहिए धर्म, अर्थ, काग, मोक्ष, ये चार पुरुषार्थरूप फल दीजिए है ताकरि धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप फल स्वयमेव कैसे न पाइए है ॥ ४९ ॥

शास्त्रदायी सतां पूज्यः सेवनीयो मनीषिणाम् ।

वादी वाग्मी कविर्मान्यः ख्यातशिक्षः प्रजायते ॥ ५० ॥

अर्थ—शास्त्रको देनेवाला पुरुष संततिके पूजनीक होय है अर पंडितनिके सेवनीक होय है, अर वादीनिको जीतनेवाले हैं वचन जाके ऐसा वादी होय है, बहुरि वाग्मी कहिए सभाको रंजायमान करनेवाला वक्ता होय है, अर कवि कहिये नवीनग्रन्थ रचनावाला होय है, अर माननेयोग्य होय है, अर विख्यात है शिक्षा जाकी ऐसा होय है ॥ ५० ॥

ऐसे शास्त्रदानका वर्णन किया । आगे वसतिका दानको कहै हैं—

विचित्ररत्ननिर्माणः प्रोत्तुङ्गो बहुभूमिकः ।

लभ्यते वासदानेन वासश्चन्द्रकरोऽज्वलः ॥ ५१ ॥

अर्थ—वसतिका दान करि चन्द्रमाकी किरण समान उज्वल

विचित्ररत्न करि रच्या महाऊँचा बहुत खणनिका महल पाइये है ।

आगैं वखदानकों कहै हैं:—

कोमलानि महार्घ्याणि विशालानि घनानि च ।

वासोदानेन वासांसि सम्पद्यन्ते सहस्रशः ॥ ५२ ॥

अर्थ—वखदानकरि कोमल अर महामोल अर सघन ऐसे हजारों वख पाइए है ।

भावार्थ—आर्जिका श्रावक, श्राविका इत्यादिकनिकों वखदान करै ताका फल इहां कहा है ॥ ५२ ॥

ददति जनतानन्दं चन्द्रकांतिरिवामला ।

जायते पानदानेन वाणी तापपनोदिनी ॥ ५३ ॥

अर्थ—पान कहिये पीवने योग्य वस्तु ताके दान करि चन्द्रकांति मणि समान निर्मल लोकनिकों आनन्द देनेवाली तापकी नाश करनेवाली ऐसी वाणी होय है ॥ ५३ ॥

ददानः प्रासुकं द्रव्यं रत्नत्रितयवृंहकम् ।

काक्षितं सकलं द्रव्यं लभते परदुर्लभम् ॥ ५४ ॥

अर्थ—रत्नत्रयका बढ़ावनेवाला ऐसा जो प्रासुक द्रव्य है ताहि देता पुरुष औरनिकों दुर्लभ ऐसा वांछित सकल पदार्थ पावै है ॥ ५४ ॥

विश्राणयति यो दानं सेवमानस्तपस्विनः ।

सेव्यते भुवनाधीशैः स सदा सुखकाक्षिभिः ॥ ५५ ॥

अर्थ—जो पुरुष तपस्वनिकों सेवना संता दान देय हैं सो पुरुष सुखके वांछक जे इन्द्रादिक तिनकरि सदा सेइए है ॥ ५५ ॥

यः प्रशंसापरो नत्वा दानं यच्छति योगिनाम् ।

प्रशस्य स सदा सद्भिर्जिनेन्द्र इव नम्यते ॥ ५६ ॥

अर्थ—जो पुरुष मुनीनिकों प्रशंसामैं तत्पर भया दान देय है सो

पुरुष सदा प्रशंसा योग्य होय है, अर सःपुरुष जैसे तीर्थकर देवकों नमैं तैसें ताहि नमैं हैं ॥ ५६ ॥

दत्ते शुश्रूषयित्वा यो दानं संयमशालिनाम् ।

शुश्रूष्यते बुधैरेष भक्त्या गुरुरिवा निशम् ॥ ५७ ॥

अर्थ—जो शुश्रूषा करिकें संयमी मुनीनकों दान देय है सो यह पंडितनि करि निरन्तर जैसे गुरुनिकी शुश्रूषा कीजिए तैसें ताकी शुश्रूषा कीजिए है ॥ ५७ ॥

आदृत्य दीयते दानं साधुभ्यो येन सर्वदा ।

आदरेणैष लोकेन निधानमिव गृह्यते ॥ ५८ ॥

अर्थ—जा पुरुष करि आदर सहित साधुनके अर्थ सदा दान दीजिये है सो यह पुरुष लोककरि निधानकी ज्यों आदर सहित ग्रहण कीजिए है ॥ ५८ ॥

पूजापरायणः स्तुत्वा यो यच्छति महात्मनाम् ।

त्रिदशंस्तीर्थकारीव स्तावं स्तावं स पूज्यते ॥ ५९ ॥

अर्थ—जो पुरुष पूजाविषै तत्पर स्तुति करिकें साधु पुरुषनिकों दान देय है सो पुरुष देवनि करि जैसे तीर्थकर देवकों पूजिए तैसें स्तुति करि करिकें पूजिए है ॥ ५९ ॥

यद्यद्दानं सतामिष्टं तपः संयमपोषकम् ।

तत्तद्विनरता भक्त्या प्राप्यते फलमीक्षितम् ॥ ६० ॥

अर्थ—जो जो दान तप संयमका पुष्ट करनेवाला सःपुरुषनिर्ने मान्या है सो सो दान भक्ति सहित देता जो पुरुष ताकरि बांछित फल पाइए है ॥ ६० ॥

दानानीमानि यच्छंति स्तोकान्यपि महाफलम् ।

बीजानीव बटादीनां निहितानि विधानतः ॥ ६१ ॥

अर्थ—पूर्वै कहे ते दान विधान सहित थोड़े भी महाफलकौ देय हैं, जैसे वड़ आदि वृक्षनिके बीज हैं ते विधानतें बोर भए बड़े फलकौ देय हैं ॥ ६१ ॥

पात्रेभ्यो यः प्रकृष्टेभ्यो मिथ्यादृष्टिः प्रयच्छति ।

स याति भोगभूमिषु प्रकृष्टासु महोदयः ॥ ६२ ॥

अर्थ—जो मिथ्यादृष्टि उत्कृष्ट पात्रनिके अर्थ दान देय है सो महान् है उदय जाका ऐसा उत्कृष्ट भोगभूमिकौ जाय है ॥ ६२ ॥

क्रोशत्रय वपुस्तत्र त्रिपल्योपमजीवितः ।

चिन्ताकल्पितमान्निध्यं स भोगसुखमश्नुते ॥ ६३ ॥

अर्थ—तहाँ उत्कृष्ट भोगभूमिषिषे तीन क्रोशको शरीर अर तीन पल्यकी आयु जाकी सो चिन्ताकरि कल्प्या ही निकट प्राप्त भया ऐसा भोगनिका सुख भोग है ॥ ६३ ॥

सदा मननुकूलाभिः सेव्यमाना दिवाऽनिशम् ।

नारीभिर्न गतं कालं जानंते भोगभूभुवः ॥ ६४ ॥

अर्थ—मनके अनुकूल जे स्त्री तिनकरि सदा सेये भये ते भोगभूमिया गये कालकौ न जानै हैं । ६४ ॥

मध्यमानां स पात्राणां दानतो याति मध्यमाम् ।

कारणस्यानुरूपं हि कार्यं जगति जायते ॥ ६५ ॥

अर्थ—सो दाता मध्यम पात्रनिके दानतें मध्यम भोगभूमिकौ प्राप्त होय है, जातें लोकविषै जैसा कारण होय तैसा ही कार्य निपजै है ॥ ६५ ॥

द्विक्रोशोच्छ्रयदेहोऽसौ द्विपल्यायुर्निरामयः ।

स तत्रास्ते महाबासः कांताक्षाभोजषट्पदः ॥ ६६ ॥

अर्थ—सो यह मध्यम भोगभूमिया दाय क्रोश ऊँचा है दह जाका,

अर दोय पल्य आयु, रोगरहित, बड़ा है आवास कहिये स्थान जाका,
अर स्त्रीके नेत्रकमलनिकों अमर समान सो तहां तिष्ठै है ॥ ६६ ॥

जघन्येभ्यः स पात्रेऽभ्यो जघन्यां याति दानतः ।

एककोशोच्छ्रयं भूमिमैकपल्योपमस्थितिः ॥ ६७ ॥

अर्थ—बहुरि सो दाता जघन्य पात्रनके अर्थ दिया जो दान
तातें जघन्य भोगभूमिकों प्राप्त होय है, एक कोश ऊँचा अर एक
पल्यकी है स्थिति जाकी ॥ ६७ ॥

बरदामलरुविभीतकमात्रं त्रिद्वयेकवासैः क्रमतः ।

आहारं कल्याणं दिव्यरसं भुंजते घन्याः ॥ ६८ ॥

अर्थ—ते पुण्यवान भोगभूमिया वेर आमला बहेडा इन प्रमाण
क्रमतैं कल्याणरूप दिव्य है स्वाद जाका ऐसा आहारकों तीन दोय
एक दिन करि खाय है ।

भावार्थ—उत्तम भोगभूमिया तीन दिनमें वेर प्रमाण आहार
करैं हैं, मध्यम भोगभूमिया दोय दिनमें आबले प्रमाण आहार करैं हैं,
जघन्य भोगभूमिया एक दिनमें बहेडे प्रमाण आहार करैं हैं ऐसा
जानना ॥ ६८ ॥

विश्राणयन् यतीनामुत्तममध्यमजघन्यपरिणामैः ।

दानं यच्छति भूर्मीरुत्तममध्यमजघन्या वा ॥ ६९ ॥

अर्थ—पहले तौ तीन प्रकार पात्रनके अर्थ दानतैं तीन
प्रकार ही भोगभूमि मिलै है ऐसा कहा; अब कहै है कि दूजा
प्रकार यह भी है कि यतीनकों उत्तम मध्यम जघन्य परिणामनि करि
दान देता जो पुरुष सो उत्तम मध्यम जघन्य भोगभूमिकों पावै है ॥ ६९ ॥

सर्वे द्वंद्वपरित्यक्ताः सर्वे क्लेश विवर्जिताः ।

सर्वे यौवनसंपन्नाः सर्वे संति प्रियंवदाः ॥ ७० ॥

अर्थ—ते सर्व भोगभूमिया आजीविकाके द्वंद्व करि रहित हैं, अर सर्व ही क्लेशवर्जित हैं अर सर्व ही यौवन सहित है, अर सर्व ही प्रिय वचन बोलनेवाले हैं ॥ ७० ॥

मददैन्यश्रमायासक्रोधलोभमदक्लमाः ।

मुक्तानामिव नो तेषां नाप्यन्यत्र गमागमः ॥ ७१ ॥

अर्थ—मद टीनता श्रम प्रयास क्रोध लोभ मद क्लेश ये सर्व मुक्त आत्मानकी ज्यों तिनके नाहीं अर और जायगा तिनका गमनागमन नाहीं। इहां मुक्त आत्माका दृष्टांत दिया सो प्रगटपनें मदादिकके कार्य भोगभूमिमें नाहीं तातैं उपचारतैं कहा है, सर्वथा वीतराग मुक्त आत्माकी ज्यों न जान लेना ॥ ७१ ॥

अयमेव विशेषोऽस्ति देवेभ्यो भोगभोगिनाम् ।

यत्ते यांति मृता नाकं देवास्तिर्यङ्मनस्त्वयोः ॥ ७२ ॥

अर्थ—देवनिताँ भोगभूमियानका यही भेद है जातैं भोगभूमिया मरे मये स्वर्गको प्राप्त होय है अर देव हैं ते तिर्यच मनुष्य गतिको प्राप्त होय है ॥ ७२ ॥

यतो मन्दकषायास्ते ततो यांति त्रिविष्टपम् ।

उक्तं तीव्रकषायत्वं दुर्गतेः कारणं परम् ॥ ७३ ॥

अर्थ—जाकारणतैं ते मन्द कषाय हैं ता कारणतैं ते स्वर्गको प्राप्त होय हैं। तीव्र कषायपना है सो केवल दुर्गतिका कारण कहा है ॥ ७३ ॥

दीयन्ते चिंतिता भोगा येषां कल्पमहीरुहैः ।

दशांगैः कः सुखं तेषां शक्तो वर्णयितुं गिरा ॥ ७४ ॥

अर्थ—जिन भोगभूमियानको दशभेदरूप कल्पवृक्षनि करि

वाञ्छित भोग दीजिए है तिन भोगभूमियानके सुखकों वाणी करि वर्णन करनेकों कौन समर्थ है ॥ ७४ ॥

न वियोगः प्रियैः सार्द्धं न संयोगोऽप्रियैः सह ।

न व्रतं न तपस्तेषां न वैरं न पराभवः ॥ ७५ ॥

अर्थ—तिन भोगभूमियानके इष्टपदार्थन करि साथ वियोग नाही, अर अनिष्ट वस्तुनि सहित संयोगता नाही, अर तिनके व्रत नाही तप नाही वैर नाही अनादर नाही ॥ ७५ ॥

यतः स्वस्वामिसम्बन्धस्तेषां नास्ति कदाचन ।

परच्छन्दानुवर्त्तिष्वं ततस्तेषां कुनस्तनम् ॥ ७६ ॥

अर्थ—जातैं तिन भोगभूमियानके स्वस्वामि कहिये सेवक ईश्वरपनेका सम्बन्ध कदाचित् नाही तातैं पराधीन प्रवर्त्तना तिनके काहेका होय ॥ ७६ ॥

नाऽपूर्णं समये सर्वे ते म्रियन्ते कदाचन ।

रचयन्ति न पैशून्यं सुखसागरमध्यगाः ॥ ७७ ॥

अर्थ—ते सर्व भोगभूमियां आयुके अपूर्ण काल विषैं कदाचन मरै है, अर सुखसमुद्रके मध्य प्राप्त भये ते ईर्षा भावकों नाही करै हैं ॥ ७७ ॥

आयासेन विना भोगी नीरोगीभूतविप्रहः ।

क्षुतेन पुरुषस्तत्र म्रियते जंभयांगना ॥ ७८ ॥

अर्थ—खेद विना भोगनि करि सहित अर रोगरहित है शरीर जाका ऐषा भोगभूमिका पुरुष तौ छीक करि मरै है अर जंभाई करि ली मरै है ॥ ७८ ॥

ते जायन्ते कलालापा मकरध्वजसंनिभाः ।

सर्वे भोगक्षमाः रम्यादिनानां सप्त सप्तकैः ॥ ७९ ॥

अर्थ—ते सर्व भोगभूमिया दिननके घात घतक कहिये गुण-
चाष दिनन करि उपजै हैं, कैसे हैं ते भोगभूमिया, सुन्दर है शब्द
जिनका अर कामदेव समान है रूप जिनका अर भोगनिविष सामर्थ्य
सहित रमणीक ऐसे हैं ॥ ७९ ॥

कोमलालापया कान्तः कान्तयाऽऽर्यो निगद्यते ।

कातेनाऽऽर्या पुनः कांता चित्रचादुविषायिना ॥ ८० ॥

अर्थ—कोमल है शब्द जाका ऐसी स्त्री करि आर्य जो भोग-
भूमिया अपना पति सो कहिए है ।

भावार्थ—स्त्री कोमलवचन सहित पतिसौ बोलै है । अर नाना
प्रकार खुशामद करनेवाला जो पति ता करि भोगभूमियाकी स्त्री सो
कहिए है, पति शुश्रूषाके वचन सहित स्त्रीसौ बोलै है ॥ ८० ॥

आदेयाः सुभगाः सौम्याः सुन्दरांगा वशंवदाः ।

रमन्ते सह रामाभिः स्वसमाभिर्भियो मुदा ॥ ८१ ॥

अर्थ—आदर करने योग्य अर सुन्दर अर सौम्य अर सुन्दर हैं
अङ्ग जिनके अर भले वचन बोलनेवाले ऐसे ते भोगभूमिया अपने
समान जे स्त्री तिनकरि सहित परस्पर हर्ष करि रमै हैं ॥ ८१ ॥

युगमुत्पद्यते सार्द्धं युगं यत्र विपद्यते ।

शोकाक्रन्दादयो दोषास्तत्र संति कुतस्तनाः ॥ ८२ ॥

अर्थ—जहां स्त्री-पुरुषका युगल साथ उपजै है अर साथ ही
युगल मरै है तातें शोक अर रोवना इत्यादि दोष है ते कहतें होय,
नाहीं होय हैं ॥ ८२ ॥

करिकेशरिणौ यत्र तिष्ठन्तौ बांधवामिव ।

एकत्र सर्वदा प्रीत्या सख्यं तत्र किमुष्यते ॥ ८३ ॥

अर्थ—हामी अर सिंह जहां बांधवजिकी ज्यों एक जायगी सदः

प्रीति रहित तिष्ठे है तहां वैरभाव कैसे कहिए, अपितु नाहीं कहिए
ऐसा जानना ॥ ८३ ॥

कुपात्रदानतो याति कुत्सिना भोगमेदिनीम् ।

उत्ते कः कुत्सिते क्षेत्रे सुक्षेत्रफलमनुते ॥ ८४ ॥

अर्थ—कुपात्रके दानतै जीव कुभोगभूमिकों प्राप्त होय है, इहां
दृष्टांत कहै हैं—सोटा क्षेत्रविषै बीज बोये संते सुक्षेत्रके फलकों कौन
प्राप्त होय है, अपितु कोई न होय है ॥ ८४ ॥

येंऽतरद्वीपजाः संति ये नरा म्लेच्छखंडजाः ।

कुपात्रदानतः सर्वे ते भवन्ति यथायथम् ॥ ८५ ॥

अर्थ—जे अन्तरद्वीप कहिए लवणसमुद्रविषै वा कालोद समुद्र-
विषै स्थानवै कुभोगभूमिके टापू परे हैं तिनविषै उपजे मनुष्य हैं अर
म्लेच्छ खण्डविषै उपजे मनुष्य हैं ते सर्व कुपात्रदानतै यथायोग्य
होय है ॥ ८५ ॥

वर्यमध्यजघन्यासु तिर्यचः संति भूमिषु ।

कुपात्रदानवृक्षोत्थं भुंजते तेऽखिलाः फलम् ॥ ८६ ॥

अर्थ—उत्तम मध्यम जघन्य भोगभूमिन विषै जे तिर्यच हैं ते
सर्व कुपात्र दानरूप वृक्षतै उपज्या जो फल ताहि खाय हैं ॥ ८६ ॥

दासीदासद्विपम्लेच्छसारमेयादयोऽत्र ये ।

कुपात्रदानतो भोगस्तेषां भोगवतां स्फुटम् ॥ ८७ ॥

अर्थ—इहां आर्यखण्डमें जे दासीदास हाथी म्लेच्छ कुत्ता
इत्यादि भोगवंत जीव हैं तिनकों जो भोगै है सो प्रगटपने कुपात्र
दानतै है, ऐसा जानना ॥ ८७ ॥

दृश्यन्ते नीचजातीनां ये भोगा भोगिनामिह ।

सर्वे कुपात्रदानेन ते दीयन्ते महोदयाः ॥ ८८ ॥

अर्थ—इहां आर्यखण्डविषे नीच जातिके भोगी जीवनिके जे भोग महा उदयरूप देखिए है ते सर्व कुपात्रदानकरि दीजिए हैं ॥ ८८ ॥

अपात्राय धनं दत्तं व्यर्थं संपद्यतेऽखिलम् ।

ज्वलिते पावके क्षिप्तं बीजं कुत्रांकुरीयति ॥ ८९ ॥

अर्थ—अपात्रके अर्थ दिया जा धन है सो सर्व वृथा होय है । इहां दृष्टांत कहैं हैं—जलती अग्निमें क्षेप्या बीज हैं सो कहां अंकुर सहित होय है, अपितु नहीं होय है ॥ ८९ ॥

अपात्रदानतः किञ्चिन्न फलं पापतः परम् ।

लभ्यते हि फलं खेदो बालुकापुंजपीडने ॥ ९० ॥

अर्थ—अपात्र दानते फल पापते दूसरा किल्ल नहीं होय है । जाते बालू रेतके समूहके पेलनेमें केवल खेद ही होय, सो ही फल है ॥ ९० ॥

विश्राणितमपात्राय विधत्तेऽनर्थमूर्जितम् ।

अपध्यं भोजनं दत्ते व्याधि किं न दुरुत्तरम् ॥ ९१ ॥

अर्थ—अपात्रके अर्थ दिया दान है सो बड़े अनर्थकों करै है जैसे अपध्य भोजन है सो दूर है उतरन जाका ऐसे रोगकों कहा न देय है, देय ही है ॥ ९१ ॥

संस्कृत्य सुन्दरं भोज्यं येनापात्राय दीयते ।

उत्पाद्य प्रबलं धान्यं दह्यते तेन दुर्विया ॥ ९२ ॥

अर्थ—सुन्दर भोजन बनायकें जिस पुरुष करि अपात्रके अर्थ दीजिए है ता दुर्बुद्धी करि पुष्टिकागी धान्य उपजायकें जलाइये है ॥ ९२ ॥

शीघ्रं पात्रेण संसारादेकेनापि गरीयसा ।

तार्यते बहवो लोकाः पातेनेव पयोनिधेः ॥ ९३ ॥

अर्थ—जैसे जहाजकरि समुद्रते तारिये तैसे एक ही गरिष्ठ पात्र करि बने लोक संसारते तारिये हैं ॥ ९३ ॥

जगद्गुपाद्यते सर्वमेकेनापि विवस्वता ।

नक्षत्रनिवहैः सर्वैरुदितैरपि नो पुनः ॥ ९४ ॥

अर्थ—एक सूर्य करि ही समस्त जगत् प्रकाशरूप कीजिए है । बहुरि उदय भये भी सर्व नक्षत्रनिके समूह तिनकरि प्रकाशित न कीजिए है ॥ ९४ ॥

एकेनापि सुपात्रेण तार्यते भवनीश्वरेः ।

सहस्रेगप्यपात्राणां पुंजितैर्न पुनर्जनः ॥ ९५ ॥

अर्थ—उपरि दृष्टांत कहा था ताका दार्ष्टांत कहिए है—तैसै एक भी सुपात्र करि जीव संसार-समुद्रतै तारिये है, बहुरि एकट्टे किये अपात्रनिके सहस्रनि करि भी संसार-समुद्रतै न तारिये है, ऐसा जानना ॥ ९५ ॥

अपात्रदानदोषेभ्यो विभ्यता पुण्यशालिना ।

विबुद्ध्य यत्नतः पात्रं देयं दानं विधानतः ॥ ९६ ॥

अर्थ—अपात्रके दोषतै डरता पुण्यवान जो पुरुष ताकरि यत्नतै पात्रकौ जानिकै विधानतै दान देना योग्य है ॥ ९६ ॥

अपात्राय धनं दत्ते यो हित्वा पात्रमुत्तमम् ।

साधुं विहाय चौराय तदर्पयति सः रफुटम् ॥ ९७ ॥

अर्थ—जो पुरुष उत्तम पात्रकौ छोडिकै अपात्रके अर्थ धन देय है सो प्रगट साधुकौ छोडिकै चौरके अर्थ ता धनकौ देय है, ऐसा जानना ॥ ९७ ॥

अपात्रमिव यः पात्रं विवृद्धिरवलोकते ।

चितामणिमसौ मन्ये मन्यते लोष्ठसनिभम् ॥ ९८ ॥

अर्थ—जो निर्बुद्धि पात्रकौ अपात्रकी ज्यो अवलोकै है सो यह चितामणी रत्नकौ लोह समान मानै है, ऐसा मैं मानूं हूं ॥ ९८ ॥

स्यक्ता शर्मप्रदं पात्रममात्रं स्वीकरोति यः ।

ष कालकूटमादत्ते मुक्ता पीयूषमस्तधीः ॥ ९९ ॥

अर्थ—सुखदायक पात्रकों छोड़िके जो अपात्रकों अंगीकार करे है सो निर्वुद्धि अमृतकों छोड़िके कालकूट विषकों ग्रहण करे है ॥९९॥

पात्रापात्रविभागेन मिथ्यादृष्टेरिदं फलम् ।

उदितं दानजं प्राज्यं सम्यग्दृष्टेर्वेदाम्यतः ॥ १०० ॥

अर्थ—यह दानते उपज्या फल पात्र अपात्रके भेदकरि मिथ्या-दृष्टीकों कद्दा बहुरि इष पीछे सम्यग्दृष्टीके दानते उपज्या जो महाफल ताहि कहूं हूं ॥ १०० ॥

दानं त्रिविधदात्राय सम्यग्दृष्टिर्ध्यागमम् ।

ददानो लभते याव्या कल्याणानां परम्पराम् ॥ १०१ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टी जीव है सो तीन प्रकार पात्रनिके अर्थि शालोक्त दान देता सन्ता मांगनेयोग्य कल्याणनिकी परंपराकों पावे है ॥१०१॥

पात्राय विधिना दत्त्वा दानं मृत्त्वा समाधिना ।

अच्युतातेषु कल्पेषु जायंत शुद्धदृष्टयः ॥ १०२ ॥

अर्थ—पात्रके अर्थि दान देकरि समाधि सहित मरके सम्यग्दृष्टी जीव है ते अच्युत पर्यंत स्वर्गनि विषे उपजे हैं ॥ १०२ ॥

उत्पद्योत्पादशय्यायां देहोद्योतितपुंरुगाः ।

सुप्तोत्थिता इव क्षिप्रमुत्तिष्ठंत दिनौकषः ॥ १०३ ॥

अर्थ—तहां स्वर्ग विषे उत्पादशय्या विषे उपजके देव हैं ते जैसे सोयकरि उठे तैसे उठे हैं, कैसे हैं देव देहकरि उद्योतरूप किया है आकाश जिनने ऐसे हैं ॥ १०३ ॥

निषण्णैस्त्र शय्यायां तैरीक्ष्यते मन्ततः ।

निकाया देवदेवीनां रचिताजलिकुड्मलाः ॥ १०४ ॥

अर्थ—तहां शय्या विषे तिष्ठते देवनि करि च्यारों तरफतें रची है हस्तांजलि जिननें ऐसे देवदेवीनके समूह देखिए है ॥ १०४ ॥

स्तुवानामां स्ततैः श्रव्यैर्भव्याभरणभासुराः ।

मूर्त्ताः केऽमी विलोक्यन्ते पुण्यपुंजा इवाभितः ॥ १०५ ॥

अर्थ—सुनने योग्य स्तोत्रनि करि स्तुति करते अर सुंदर आभूषणनकरि देदीप्यमान मूर्त्तीक पुण्यके समूह समान ये च्यारों तरफ कौन देखिए है ऐसैं नवीन देव विचारै हैं ॥ १०५ ॥

रम्याः रामा ममेमाः काश्चित्रचाटुपरायणाः ।

लावण्यावुनिघेर्वेला लोकंते कलनिस्वनाः ॥ १०६ ॥

अर्थ—रमने योग्य अर नाना प्रकार खुशामदमें तत्पर अर सुन्दरताके समुद्रकी विला सुन्दर हैं शब्द जिनके ऐसी स्त्री मोकौं देखै हैं ॥ १०६ ॥

किमिदं दृश्यते स्थानं रामणीयकमंदिरम् ।

कथमत्राहमायातः किं स्वप्नाऽयमुतान्यथा ॥ १०७ ॥

अर्थ—सुन्दरताका मंदिर ये कौन स्थान दीखै है । इहां मैं कैसैं आया अथवा कहां यह स्वप्न है ॥ १०७ ॥

किमकारि मया पुण्यं जातो येनात्र बंधुरे ।

न पुण्यव्यतिरेकेण लभ्यते सुखसंपदा ॥ १०८ ॥

अर्थ—अथवा मैं कहा पुण्य करत भया जाकरि इस सुंदर स्थान विषे उपज्या । पुण्य विना सुखसंपदा न पाइए है ॥ १०८ ॥

इत्थं चिंतयतां तेषां भवकारणकोऽवधिः ।

संपद्यते तदां दीपः पूर्वसंबंधसूचकः ॥ १०९ ॥

अर्थ—या प्रकार विचारते जे देव तिनके भव ही है कारण जाकू ऐसा भवप्रत्यय अवधि अतिशयकरि देदीप्यमान पहले सम्बन्धक सूचक उपजै है ॥ १०९ ॥

ज्ञानेन तेन विज्ञाय दानपुण्यप्रभावतः ।

त्रिदशीभूतमात्मानं ते भजन्ति सुखाधिकाम् ॥ ११० ॥

अर्थ—तिष्ठ ज्ञानकरि दानके पुण्यके प्रभावतें आपकों देव भया जानिकै ते देव सुखरूप समाधानताकों भजे हैं ॥ ११० ॥

प्रीतेनामरवर्गेण स्वहृदबंधेन सादरम् ।

क्रियमाणास्ततस्तुष्टा भजन्ते जननोत्पन्नम् ॥ १११ ॥

अर्थ—तापीछैं आपके सम्बन्धी जो प्रीतियुक्त देवनि का समूह ताकरि प्रसन्न करे भये जन्मोत्पन्नकों भजे हैं ॥ १११ ॥

ज्ञात्वा धर्मप्रभावेन तत्र प्रभवमात्मनः ।

पूजयन्ति जिनार्चास्ते भक्त्या धर्मस्य वृद्धये ॥ ११२ ॥

अर्थ—धर्मके प्रसाद करि तहां स्वर्गमें आपकों जानिकै ते देव धर्मकी वृद्धिके अर्थि जिन भगवानकी प्रतिमानकों भक्ति सहित पूजैं हैं ॥ ११२ ॥

सुखवारिनिमग्नास्ते सेव्यमानाः सुधाशिभिः ।

सर्वदा व्यवतिष्ठन्ते प्रतिवित्रैरिवात्मनः ॥ ११३ ॥

अर्थ—ते देव सुखजल विष दूबे अर अपने प्रतिबिंब समान देवनि करि सेये भये सदा काल तिष्ठैं हैं ॥ ११३ ॥

ते सर्वक्लेशनिर्मुक्ता द्वाविंशतिमुदन्वताम् ।

आसते तत्र भुञ्जाना दानवृक्षफलं सुराः ॥ ११४ ॥

अर्थ—ते देव सर्वक्लेश रहित दानरूप वृक्षके फलकों भोगते संते तहां बाईस सागर तिष्ठैं हैं ॥ ११४ ॥

तेषां सुखप्रमां वक्ति बचोभिर्यो महात्मनाम् ।

प्रयाति पदविक्षेपैर्गगनांतमसौ ध्रुवम् ॥ ११५ ॥

अर्थ—तिन महात्मा देवनिके सुखके प्रमाणकों जो पुरुष

वचननि करि है सो यहु निश्चय करि पावनके उठावने धरने करि आकाशके अन्तकों जाय है ।

भावार्थ—तिन देवनिका सुख वचनते न कहा जाय है, ऐसा जानना ॥ ११५ ॥

नवयौवनसम्पन्ना दिव्यभूषणभूषिताः ।

ते वरेण्याद्यसंस्थाना जायन्तेऽन्तर्मुहूर्ततः ॥ ११६ ॥

अर्थ—नवयौवनसहित अर दिव्य आभूषणनि करि भूषित अर श्रेष्ठ आदिका समचतुरस्र है संस्थान जिनका ऐसे अन्तर्मुहूर्तमें उपजै है ॥ ११६ ॥

तेषां खेदमलस्वेदजरा रोगादिवर्जिताः ।

जायते भास्कराकाराः स्फाटिका इव विग्रहाः ॥ ११७ ॥

अर्थ—तिन देवनिके खेद मल पसेव जरा रोग इत्यादि करि देदीप्यमान हैं आकार जिनके मानों स्फाटिकमणिके है ऐसे शरीर उपजै है ॥ ११७ ॥

राजते हृदये तेषां हारयष्टिर्विनिर्मला ।

निर्गमसम्भवा मूर्त्ता सम्यग्दृष्टिरिव स्थिता ॥ ११८ ॥

अर्थ—तिन देवनिके हृदयविषै विशेष निर्मल हारकी लडी सोहै है, मानों स्वभावकरि उपजी मूर्तिवन्त सम्यग्दृष्टी तिष्ठी है ॥ ११८ ॥

मुकुटो मस्तके तेषामुद्योतित दिग्गन्तरः ।

निषधानामिवादित्यस्तमोध्वंसीय भासते ॥ ११९ ॥

अर्थ—जैसे निषधाचलनके ऊपरि अन्धकारका नाश करने-वाला सूर्य सोहै है तैसें तिन देवनिके मस्तकविषै उद्योतरूप किया है दिशानका अन्तर जानें ऐसा मुकुट सोहै है ॥ ११९ ॥

निधुवनकुशलाभिः पूर्णचन्द्राननाभिः

स्तनभरवनिताभिर्मन्मथाध्यासिताभिः ।

पृथुत्तरजघनाभिर्वधूराभिर्वधूभिः

समममलवचोभिः सर्वदा ते रमन्ते ॥ १२० ॥

अर्थ—सुन्दर स्त्रीन करि निर्मल वचन सहित ते देव सदा रमै हैं, कैसी हैं ते स्त्री कामसेवन विषे प्रवीण है अर पूर्णचन्द्रमा समान है मुख जिनका अर स्तननके भारकरि नम्रीभूत है अर कामकरि व्याप्त है अर विस्तीर्ण है जघन स्थान जिनका ऐसी देवीन सहित ते देव रमै है ॥ १२० ॥

दिवोऽवतीर्योर्जितचित्तवृत्तयो

महानुभावा भुवि पुण्यशेषतः ।

भवन्ति वंशेषु बुधार्चितेषु

विशुद्धसम्यक्त्वधना नरोत्तमाः ॥ १२१ ॥

अर्थ—ते देव स्वर्गते अवतरिके बाकीके पुण्यते पृथ्वीविषे पंडित-निकरि पूजित वंशनिविषे नरनिविषे उत्तम चक्रवर्त्यादिक होय हैं, कसे है ते उदार है चित्तकी परणति जिनकी ऐसे अर महानुभाव अर निर्मल सम्यक्त है धन जिनके, ऐसे होय है ॥ १२१ ॥

अवाप्यते चक्रधरादिषम्पदं

मनोरमामत्र विपुण्यदुर्लभाम् ।

नयन्ति कालं निखिलं निराकुलाः

न लभ्यते किं खलु पात्रदानतः ॥ १२२ ॥

अर्थ—ते जीव इस लोकविषे पुण्यरहित जीवनको दुर्लभ एसी सुन्दर चक्रवर्ती आदिकनिकी सम्पदाको प्राप्त होयके निराकुल भये

घंते समस्त कालकों व्यतीत करै हैं, जाते पात्रदानते कहा न पाइए है ? सर्व ही पाइए है, ऐसा जानना ॥ १२२ ॥

निषेध्य लक्ष्मीमिति शर्मकारिणीं, प्रथीयसीं द्वित्रिभवेषु कल्मषम् ।
प्रदह्यते ध्यानकृशानुनाऽखिलं, श्रयति सिद्धि विधुतापदं घदा ॥ १२३ ॥

अर्थ—याप्रकार सुखकी करनेवाली महान लक्ष्मीकों भोगकै दोय तीन भवनिविषे समस्त कर्मनिकों ध्यान अग्नि करि जरायके ते जीव आपदा रहित मोक्ष अवस्थाकों घदा सेवै हैं ॥ १२३ ॥

विधाय घटाष्टभवेषु वा स्फुटं, जघन्यतः कल्मषकक्षकर्तनम् ।
व्रजंति सिद्धिं मुनिदानवासिता, व्रतं चरन्तो जिननाथभाषितम् ॥ १२४ ॥

अर्थ—अथवा मुनिराजनिके दानकी है वाचना जिनके ऐसे जीव हैं ते जिनभाषित व्रतकों आचरते सन्ते जघन्यपने सन्ते घात आठ भवविषे कर्मवनकों काटकै निश्चयकरि मुक्तिकों प्राप्त होय हैं, ऐसा जानना ॥ १२४ ॥

पात्रदानमहनीयपादपः, शुद्धदर्शनजलेन वर्द्धितः ।

यद्दाति फलमर्चितं घतां, तस्य को भवति वर्णने क्षमः ॥ १२५ ॥

अर्थ—निर्मल सम्यग्दर्शनरूप जलकरि वृद्धिकों प्राप्त भया ऐसा पात्रदानरूपी पूजनीक वृक्ष है सो सत्पुरुषनिके पूजित ऐसा जो फल देय है ताके वर्णनेविषे कौन समर्थ है, अपितु कोई समर्थ नहीं ॥ १२५ ॥
गणेशिनाऽमितगतिना यदीरितं, न दानजं फलमिदमीर्यते परैः ।

विभासितं दिनमणिना यदेवमं, न भास्यते कथमपि दीपकैरिदम् ॥ १२६ ॥

अर्थ—अपरिमत हैं ज्ञान जिनके ऐसे गणधर देवनि करि यह दानजनित फल कक्षा सो फल और करिन कहिए है । जैसे जो आकाश सूर्य करि प्रकशित किया सो यह दीपकनि करि कोई प्रकार भी नहीं प्रकाशिये है, ऐसा जानना ॥ १२६ ॥

छप्पय छन्द ।

पात्र कुपात्र अपात्र भेद भाष्यो इम जिनपति ।
 त्याग कुपात्र अपात्र करहु नितपात्रदानरति ॥
 जा प्रसाद सब भोग भोगि फिर होय महायति ।
 ध्यान धारि अरि टारि लहै शिबरमा अमितगति ॥
 तिहि काल अनन्तानन्त निजरूपमांहि अविचल रहै ।
 तसु ध्यानसलिलतै जीवका तुरत सकल कलिमलवहै ॥
 ऐसैं श्री अमितगति आचार्यविरचित भावकाचारविधैं
 ग्यारहवां परिच्छेद समाप्त भया ।



द्वादशम परिच्छेद ।

भावद्रव्यस्वभावैरुन्नताः कर्मपर्वताः ।
 विभिन्ना ध्यानवज्रेण दुःखव्यालालिसंकुलाः ॥ १ ॥
 कर्मक्षयभवाः प्राप्ता मुक्तिदूतीरघच्छिदः ।
 नव केवललब्धीर्ये पंचकल्याणभागिनः ॥ २ ॥
 सर्वभाषामयी भाषा बोधयन्ती जगत्रयीम् ।
 आश्चर्यकारिणी येषां ताल्वोष्ठस्पंदवर्जिता ॥ ३ ॥
 प्रातिहार्याष्टकं कृत्वा येषां लोकातिशायिनीम् ।
 सपर्यां चक्रिरे सर्वे सादरा भुवनेश्वराः ॥ ४ ॥
 वचांसि तापहारीणि पर्यासीव पयोमुचः ।
 क्षिपन्तो लोकपुण्येन भूतले विहरन्ति ये ॥ ५ ॥
 येषामिद्राङ्गया यक्षः स्वर्गशोभाभिभाविनीम् ।
 करोत्यास्थायिकीं कीर्णां लोकत्रितयजंतुभिः ॥ ६ ॥

आद्यं संहतिप्रस्थाना निःस्वेदा क्षीरशोणिता ।
 राजते सुन्दरा येषां सुगन्धिरमला तनुः ॥ ७ ॥
 येषां द्विष्टः क्षयं याति तुष्टो लक्ष्मीं प्रपद्यते ।
 न रुष्यंति न तुष्यंति ये तयोः समवृत्तयः ॥ ८ ॥
 लक्ष्मीं चातिशयां येषां भुवनत्रयतोषिणीम् ।
 अनन्यभावरनीं शक्तो वक्तुं कश्चिन्न विद्यते ॥ ९ ॥
 रागद्वेषमदक्रोधलाभमोहादयेऽखिलाः ।
 येषु दोषा न तिष्ठन्ति तेषु न कुला इव ॥ १० ॥
 शक्तितो भक्तितोऽर्द्धतो जगतीपतिपूजिताः ।
 ते देवा पूजया पूज्या द्रव्यभावस्वभावया ॥ ११ ॥

अर्थ—जिन करि भाव द्रव्य स्वभावनि करि सहित ऊँचे जे कर्मपर्यंत ते ध्यानरूप वज्र करि भेदे हैं, कैसे हैं कर्मपर्यंत दुःखरूप सर्पनिकी पंक्ति करि आकुल हैं ।

भावार्थ—जिन भगवाननै भावकर्म रागादिक द्रव्यकर्म ज्ञाना-
 वरणादिक पुद्गल स्कन्ध ते ध्यान करि नाश किये हैं ॥१॥ बहुरि जे
 गर्भादि पंचकल्याणके भोक्ता तीर्थकर देव कर्मके क्षयतै उपजी पापके
 करनेवाली अर मुक्तिकी दूर्ता समान ऐसी नव केवललब्धिनको प्राप्त
 भए हैं ॥ २ ॥ बहुरि जिनकी आश्चर्य उपजावनेवाली सर्व भाषामयी
 ताल वा होंठके चलने करि रहित ऐसी दिव्यध्वनि तीन जगतकों
 ज्ञान करती सन्ती है ॥३॥ बहुरि जिनके छत्र चमरादि अष्ट प्रातिहार्य
 रचिके मवे लोकके नायक जो इन्द्रादिक हैं ते आदर सहित लोक
 विषै अतिशय उपजावनेवाली जो पूजा ताहि करते भए ॥ ४ ॥

बहुरि जैवै मेष जलनिकों बरसावते लोकमें विचरै तैसै सन्ताप
 हरनेवाले वचननको फेजावते सन्ते जे भगवान जीवनके पुण्य करि

पृथ्वीतल विषे विहार करै हैं ॥ ५ ॥ बहुरि इन्द्रकी आज्ञा करि कुबेर जिनकी समवषरण भूमिकाकोँ करै हैं, कैसी है समवषरण भूमिका स्वर्गकी शोभाकोँ जीतनेवाली अर तीन लोकके जीवनि करि भरी ऐसी है ॥ ६ ॥ बहुरि जिनकी देह सुन्दर सुगन्धरूप निर्मल साँहै है, कैसी है देह आदिका वज्रवृषभनाराच है संहनन जा विषे अर धादिका समचतुर्मुख है संस्थान जाका अर पसेवरहिन अर दूध समान श्वेन है रुधिर जाका ऐसी है ॥ ७ ॥ बहुरि जिनका द्वेष करनेवाला पुरुष क्षयकोँ प्राप्त होय है अर भक्ति करनेवाला लक्ष्मीकोँ प्राप्त होय है, बहुरि ते भगवान न द्वेष करै हैं न राग करै तिन दोऊन विषे समान परणति है ॥ ८ ॥

जिनकी अतिशय रहित अर तीन भुवनकोँ संतोष करनेवाली अर अन्य हरिहरादि विषे न पाइए ऐसी जा लक्ष्मी ताहि कहनेकोँ कोऊ समर्थ नाहीं है ॥ ९ ॥ बहुरि राग द्वेष मद क्रोध लोभ मोह इत्यादिक समस्त दोष हैं ते न तिष्ठै हैं जेभैं तप्त भूमिमें नोले नहीं रहै हैं ॥ १० ॥ इंद्रादिकनि करि पूजित ते अर्हत भगवान शक्ति माफिक भक्तिनैँ द्रव्य भाव स्वभावरूपा दोग प्रकार पूजा करि पूजने योग्य हैं ॥ ११ ॥

वचोविग्रहसंकोचो द्रव्यपूजा निगद्यते ।

तत्र मानससंकोचो भावपूजा पुरातनैः ॥ १२ ॥

अर्थ—वचनका अर शरीरका जो संकोच कहिए और क्रिया-नितैँ रोकि जिनेन्द्रके सन्मुख करना सो द्रव्यपूजा कहिए है, अर मनका संकोच कहिए अन्य तरफतैँ रोकि जिनभक्तिमें लगावना सो पुराणे पुरुषनि करि भावपूजा कहिए है ॥ १२ ॥

गंधप्रसूनघान्नाह्यदीपधूपक्षतादिभिः ।

क्रियमाणाय वा ज्ञेया द्रव्यपूजा विधानतः ॥ १३ ॥

अर्थ—अथवा गंध पुष्प नैवेद्य दीप धूप अक्षतनिकरि विधानतै करी भई द्रव्यपूजा जाननी ॥ १३ ॥

व्यापकानां विशुद्धानां जिनानामनुरागतः ।

गुणानां यदनुद्धानं भावपूजेयमुच्यते ॥ १४ ॥

अर्थ—बहुरि जिनराजके गुणनिका अनुरागतै वारंवार चितवन करना सो यह भावपूजा कहिए है । कैसे हैं जिन व्यापक कहिए सर्वके जाननेवाले अर रागादि रहित विशुद्ध हैं ॥ १४ ॥

द्वेषापि कुर्वतः पूजां जिनानां जितजन्मनाम् ।

न विद्यते द्वये लोके दुर्लभं वस्तु पूजितम् ॥ १५ ॥

अर्थ—जीव्या है संघार जिननै ऐसे जिनदेवनिकी द्रव्य भाव करि दोऊ ही प्रकार पूजाकौ करता जो पुरुष ताकौ इसलोक परलोक विषे उत्तम वस्तु दुर्लभ नाहीं ॥ १५ ॥

यैः कल्मषाष्टकं प्लुष्ट्वा विशुद्धध्यानतेजसा ।

प्राप्तमष्टगुणैश्वर्यमात्मनीनमनव्ययम् ॥ १६ ॥

क्षुधा तृषा भ्रम स्वेदनिद्रातोषाद्यभावतः ।

अन्नपानाशनस्नानशयनाभरणादिभिः ॥ १७ ॥

क्षुधादिनोदनैर्येषां नास्ति जातु प्रयोजनम् ।

सिद्धे हि वाञ्छिते कार्ये कारणान्वेषणं ब्रूया ॥ १८ ॥

कर्मव्यपायतो येषां न पुनर्जन्म जायते ।

विलयं हि गते बीजे कुतः संपद्यतेऽकुरः ॥ १९ ॥

रागद्वेषादयो दोषा येषां सति न कर्मजाः ।

निमित्तरहितं कापि न नैमित्तं विलोक्यते ॥ २० ॥

न निर्वृत्तिममी मुक्ता पुनरायाति संसृतिम् ।

शर्मदं हि पदे हित्वा दुःखदं कः प्रपद्यते ॥ २१ ॥

सुखस्य प्राप्यते येषां न प्रमाणं कदाचन ।
 आकाशस्यैव नित्यस्य निर्मलस्य गरीयसः ॥ २२ ॥
 पश्यंति ये सुखी भूता लोकाप्रशिखरस्थिताः ।
 लोकं कर्मभ्रंकुशेन नाट्यमानमनारतम् ॥ २३ ॥
 येषां स्मरणमात्रेण पुंसां पापं पलायते ।
 ते पूज्या न कथं सिद्धा मनोवाक्पायकर्मभिः ॥ २४ ॥

अर्थ—जिनने निर्मल ध्यान अग्नि करि अष्टकर्मकों जलायकै आत्माका हित अर अविनाशी ऐषा सम्यक्तादि अष्ट गुणरूप ऐश्वर्य पाया ॥ १६ ॥ बहुरि क्षुधा तृषा भ्रम पसेव निद्रा हर्ष इत्यादिकके अभावतें क्षुधादिकके दूर करनेवाले जे अन्नपान आसन स्थान सोवना आभूषण इत्यादिकनि करि जिनसिद्धनिके कदाचित् प्रयोजन नाहीं, जातें वांछित कार्यकी सिद्धि भये कारणका हूँदना वृथा है ।

भावार्थ—लोकमें क्षुधादिककी पीड़ा होय है तब अन्नादिक हेरिए है । बहुरि सिद्ध भगवानके क्षुधादिक दोष ही रहे नाहीं तब अन्नादिककों हेरना काहेकों चाहिए, वह तौ सहज ज्ञानानंदविषै मग्न हैं ॥ १७-१८ ॥ बहुरि जिनके कर्मनिके अभावतें फेर जन्म होय है, जातें बीजकों नाश भये सन्ते अंकुर कहितें होय, अपितु नाहीं होय ।

जन्म होनेका कारण कर्म है सो तिनकै अष्ट कर्मका अभाव भया अब जन्म कैसें होय ॥ १९ ॥ बहुरि कर्मजनित रागद्वेषादि दोष जिनकै नाहीं हैं जातें निमित्त रहित कहुँ भी न अवलोकिए है ।

मोहादि कर्म निमित्त पाय नैमित्तिक रागादि होय है । अब सिद्धी-न्निकै मोहादि कर्म निमित्त रखा नाहीं नैमित्तिक रागादि काहेतें होय अपितु नाहीं होय ॥ २० ॥ बहुरि ये सिद्ध भगवान मोक्ष अवस्थाकों

छोड़िके फेर संसारमें नहीं आवै है, जातें सुखदायक ठिकानेको छोड़िके दुःखदायक ठिकानेको कौन प्राप्त होय अपितु कोई भी न होय ॥ २१ ॥ बहुरि जिनका आकाशकी ज्यों नित्य अर निर्मल अर बड़ा जो सुख ताका प्रमाण कदाचित् भी न पाइये है ॥ २२ ॥ बहुरि जे सुखरूप लोकके अप्र शिखर परि तिष्ठे सन्ते कर्मरूप नटवा करि निरन्तर नचाया जा लोक ताहि देखै हैं ।

कर्मकरि जीवनिकी नाना अवस्था होय है तिनको अवलोकै है परन्तु रागादिकके अभावतैं आप सुखरूप तिष्ठे हैं ॥ २३ ॥ बहुरि जिनके स्मरण मात्र करि पुरुषनिका पाप भागी जाय है ते निद्व भगवान् मन वचन कायकी क्रिया करि कैसैं पूजने योग्य नाही, अपितु पूजने ही योग्य है ॥ २४ ॥

चारयंत्यनुमन्यंते पंचाचारं चरंति ये ।

जनका इव सर्वेषां जीवानां हितकारणम् ॥ २५ ॥

येषां पादपरामर्शो जीवा मुंचंति पातकम् ।

धलिलं हिम रश्मीनां चन्द्रकांतोपला इव ॥ २६ ॥

उपदेशैः स्थिरं येषां चारित्रं क्रियतेतराम् ।

ते पूज्यंते त्रिधाऽऽचार्याः पदं वर्यं यियासुभिः ॥ २७ ॥

अर्थ—जे दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तप आचार, वीर्याचार ये जो पंच आचार सर्व जीवनिको आचरण करावै है अर आप आचरण करै हैं जैसैं पिता हितका आचरण करावै तैसैं ॥ २५ ॥ बहुरि जिनके चरणका स्पर्श होत सन्ते जीव पापको त्यागै है जैसैं चन्द्रमाकी किरणनिका स्पर्श होत सन्ते चन्द्रकांत पत्थर जलको छोड़े तैसैं ॥ २६ ॥ बहुरि जिनके उपदेशनि करि चारित्र अतिशय करि स्थिर कौजिए है ते आचार्य श्रेष्ठपद जो मोक्षपद ताहि जानेकी है वाछा जिनके ऐसे पुरुषनिकरि मन्त्र वचन कायतैं पूजिए हैं ॥ २७ ॥

तन्ननेभ्यः सप्तविभ्यो येभ्यो दालनस्कन्धाः ।

जायंते पावना विद्याः पर्वतेभ्य इवाऽऽगाः ॥ २८ ॥

अर्थ—जिनमें, नाश किया है पाप जिनमें ऐसी पवित्र विद्या उपजै है ! जैमें पर्वतमें नदी उपजै तैसे, कैसे हैं । ते बड़े हैं अर पराक्रम सहित हैं ॥ २८ ॥

चरन्तः पंचषाचारं भवाऽऽप्यदवानलम् ।

द्वादशांगश्रुतस्कन्धं पाठयंति पठन्ति ये ॥ २९ ॥

अर्थ—बहुरि जे संघार बनकों दावानल समान जो पंचाचार ताहि आचरण करै हैं । बहुरि जो ब्राह्म अंगरूत श्रुत स्कन्धकों पढ़ावै हैं अर पढ़ै हैं ॥ २९ ॥

यथा वचो हृदि स्नाता न मंति मलिना जनाः ।

तेऽर्च्यंते न कथं दक्षैरुपाध्याया विरेयमः ॥ ३० ॥

अर्थ—जिनके वचनरूप शरीर विषै न्हाये जन हैं ते मलिन न होय हैं ते पापरहित उपाध्याय भगवान चतुर पुरुषनि करि कैष न पूजिए, पूजिए ही है ॥ ३० ॥

थैरनंगानलस्तीव्रः संतापितजगत्प्रयः । विध्यापिनः शमांभोभिः
पापपंकायघारिभिः ॥३१॥ दिघक्षवो भवारण्यं ये कुर्वन्ति तपऽधनम् ।
निराकृतास्त्रिभ्रन्था निस्पृहाः स्वतनावपि ॥३२॥ निघानमिव रक्षति-
येरन्त्रयमादृताः । ते सद्भिर्वरिवस्यंते साधवो मय्यवांशवाः ॥ ३३ ॥

अर्थ—संतापकों प्राप्त किये हैं तीन लोक जानै ऐसी जो काम-रूप तीव्र अग्नि सो जिनमें पापरूप कीचके दूर करनेवाळे जे शांत भावरूप जल तिन करि उड़ाया है ॥ ३१ ॥ बहुरि जे संघारबनकों दग्ध करनेके बाळक पापरहित तपकों करै हैं । कैसे हैं ते साधु निराकरण किया है समस्त अन्तरङ्ग बहिरङ्ग परिग्रह जिनमें बहुरि अपने

शरीरविषै भी बांछा रहित हैं ॥ ३२ ॥ बहुति जे आदर सहित भण्डारकी ज्यो दर्शन ज्ञान चारित्ररूप रत्नत्रयको रक्षा करै हैं ते भव्य जीवनके बांधव जे साधु भगवान ते सत्पुरुषनि करि आराधिण है ॥ ३३ ॥

अर्चयद्भयस्त्रिधा पुंभ्यः पंचेति परमेष्ठिनः ।

नश्यति तरसा विघ्ना विडालेभ्य इवाऽऽखवः ॥ ३४ ॥

अर्थ—या प्रकार पंच परमेष्ठीनको पूजते जे पुरुष तिनतैं विघ्न शीघ्र नश्रको प्राप्त होय हैं, जैसे बिलावनतैं मूसा नशैं तैंसैं ।

भावार्थ—पंच परमेष्ठीनके पूजनादिकतैं शुभ परिणाम बन्धे हैं तातैं अन्तराय कर्मका अनुभाग हान होय है, तब विघ्न न होय है, ऐसा जानना ॥ ३४ ॥

पूजयंति न ये दीना भक्तिः परमेष्ठिनः ।

संपद्यते कुतस्तेषां शर्म निदितकर्मणाम् ॥ ३५ ॥

अर्थ—जे दीन अज्ञानी पुरुष पंच परमेष्ठीनको न पूजैं हैं तिन नीच कर्मनके सुख कहातैं होय, अपितु नार्ही होय, ऐसा जानना ॥ ३५ ॥

इन्द्राणां तीर्थकर्तृणां केशवानां रथांगिनाम् ।

संपदः सकलाः सद्यो जायंते जिनपूजया । ३६ ॥

अर्थ—इन्द्रनिकी तीर्थकरनिकी नारायणनिकी चक्रवर्त्तिनकी जे समस्त संपदा हैं ते जिनपूजा करि शीघ्र हांय हैं ॥ ३६ ॥

मानवैर्मानवावासे त्रिदशैस्त्रिदशालये ।

खेचरैः खेचरावासे पूज्यंते जिनपूजकाः ॥ ३७ ॥

अर्थ—जिनदेवकी पूजा करनेवाले पुरुष हैं ते मनुष्यलोक विषै लो मनुष्यनि करि पूजिये हैं अरु देवलोकविषै देवनि करि पूजिये है

अर विद्याधरनिके लोकविषै विद्याधरनि करि पूजिये है ॥ ३७ ॥

सकामा मन्मथालापा निविडस्तनमंडलाः ।

रमण्यो रमणीयांगा रमयंति जिनाचिनः ॥ ३८ ॥

अर्थ—जिनदेवकी पूजा करनेवाले पुरुषको रमणीक जे स्त्री रमावै हैं ते स्त्री कामसहित हैं अर मधुर हैं शब्द जिनके अर कठोर है कुचमण्डल जिनके अर सुन्दर हैं अंग जिनके ऐसी हैं ।

भावार्थ—जिनपूजाविषै पुण्यबन्ध होय है ताकरि देवादि पद विषै अनेक स्त्री मिलै है ॥ ३८ ॥

पवित्रं यन्निरातंकं मिद्धानां पदमव्ययम् ।

दुष्प्राप्यं विदुषामर्धयं, प्राप्यते तज्जिनाचिकैः ॥ ३९ ॥

अर्थ—जिनदेवके पूजक जे पुरुष तिनकरि मुक्त जीवनका पद जो मोक्षसुख सो पाइये है । कैसा है मुक्त जीवनिका पद रागादि मलरहित है पवित्र हैं अर संसार रोगरहित है अर अविनाशी है अर दुर्लभ है अर ज्ञानानिकरि बांछने योग्य है ऐसो पद जिनपूजक पावै हैं ।

भावार्थ—जिनपूजाके परिणामके निमित्त पाय परमराय रत्नत्रय आराधकै मोक्ष होय है ॥ ३९ ॥

जिनस्तत्रं जिनस्नानं, जिनपूजां जिनोत्सवम् ।

कुर्वाणो भक्तितो लक्ष्मीं लभते याचिनां जनः ॥ ४० ॥

अर्थ—जिनदेवका स्तवन जिनदेवका अभिषेक जिनदेवकी पूजा महा उत्सव इनको भक्तितै करता संता मनुष्य है सो बांछित लक्ष्मीको पावै है ॥ ४० ॥

इहाँ ताई पूजाका वर्णन किया । आगै शीलका वर्णन करै हैं:—

संसारारातिभीतस्य, वतानां गुरुमाक्षिकम् ।

गृहीतानामशेषाणां, रक्षणं शीलमुच्यते ॥ ४१ ॥

अर्थ—संसार वैरिंते भयभीत जो पुरुष ताकै गुरुकी साखि प्रहण करे जे समस्त व्रत तिनकी रक्षा करना सो शाल कहिए है ॥ ४१ ॥

साक्षीकृता व्रतादाने कुर्वते परमेश्विनः ।

भूपा इव महादुःखं विचारे व्यभिचारिणः ॥ ४२ ॥

अर्थ—व्रत प्रहण विष साक्षी किये जे परमेश्वरी हैं ते विचार विषै व्यभिचार करता जो पुरुष ताकौ राजानकी ज्यो महान् दुःख करै हैं ।

भावार्थ—जैसे राजाके आगे किल्लु प्रतिज्ञा करै अर तामें भूल जाय तो दण्ड पावै तैसे अहंतादिकनिके आगे लीनी जो आंकडी तामें भंग होय तौ महादुःख पावै । यद्यपि अहंतादिक वीतराग हैं उनके दुःख देनेका किल्लु प्रयोजन नहीं तथापि अपने ही परिणामनिकी मलिनताते पाप बाधि नरकादि दुःख भोगै है, ऐसा जानना ॥ ४२ ॥

एकदा ददते दुःखं नरनाथास्तिरश्रुताः ।

गुरवो न्यकृता दुःखं वितरंति भवे भवे ॥ ४३ ॥

अर्थ—तिरस्कार किये भए राजा हैं ते तौ एकवार ही दुःख देय हैं अर निराकरण भये गुरु हैं ते भव भव विषे दुःख देय हैं ।

भावार्थ—गुरूनके अनादर करि महापाप बंध होय है ताते जीव नरकादिविषे महादुःख पावै है ॥ ४३ ॥

भक्षयित्वा विषं घोरं वरं प्राणा विषर्जिताः ।

न कदाचिद्व्रतं भग्नं गृहीत्वा सूरिसाक्षिकम् ॥ ४४ ॥

अर्थ—भयानक विषकौ साध करि ब्यागे भये प्राण हैं ते श्रेष्ठ हैं अर आचार्यकी साखि व्रतकौ प्रहण करि भंग करना श्रेष्ठ नहीं ।

भावार्थ—मरण होय तो हो परन्तु आंकडी भंग करना योग्य नहीं ॥ ४४ ॥

वमनैर्भूषणैर्हीनः सकलैरपि शोभते ।

शीलेन बुद्धपूजयेन न पुनर्वर्जितो जनः ॥ ४५ ॥

अर्थ—सर्व वस्त्रनकरि आभूषणन करि रहित भी पुरुष सोहै हैं ।
बहुतरि पंडितनि करि पूजनीक जा शील ताकरि रहित पुरुष न सोहै
है ॥ ४५ ॥

सहजं भूषणं शीलं शीलं मंडनमुत्तमम् ।

पाथेयं पुष्कलं शीलं शीलं रक्षणमूर्जितम् ॥ ४६ ॥

अर्थ—शील है सो स्वभावरूप आभूषण है अर शील उत्तम
मंडन है अर शील है सो घणी बटभारा है अर शील है सो बड़ा रक्षा
करना है । शील ही जोवनिकी रक्षा करै है ॥ ४६ ॥

+शीलेन रक्षितो जीवो न केनाऽप्यभिभूयते ।

महाहृदनिमग्नस्य किं करोति दवानलः ॥ ४७ ॥

अर्थ—जो पुरुषकी शील करि रक्षा कीजिए है सो काहूकरि
भी तिरस्कारको प्राप्त नहीं होय है । जैसे बड़े सरोवरविषै दूब्या पुरुषका
दावानल क्या करि सकै है तैमें ॥ ४७ ॥

बान्धवाः सुहृदः सर्वे निःशीलस्य पराङ्मुखाः ।

शत्रोऽपि दुगराध्याः संमुखाः सति शीलनः ॥ ४८ ॥

अर्थ—बांधव जन हैं ते तथा मित्र हैं ते सर्व शीलरहित पुरुषके
परांगमुख होय है अर दुःखकरि आराधे जाय ऐसे शत्रु भी शीलवान
पुरुषके सहायक होय हैं ॥ ४८ ॥

शीलतो न परा बन्धुः शीलतो न परः सुहृत् ।

शीलतां न परा माता शीलतो न परः पिता ॥ ४९ ॥

+ यह श्लोक मूलप्रतिमें ४७ के नंबर पर है और वचनिकाकीं
प्रतिमें ४९ के नंबर पर है ।

अर्थ—शील सिवाय और बन्धु नाहीं, शीलतें सिवाय और मित्र नाहीं, शीलतें सिवाय और मातानाहीं, शीलतें सिवाय और पिता नाहीं ।

भावार्थ—जीवका हितकारी शीलसिवाय और नाहीं ॥ ४९ ॥

उपकारो न शीलस्य कर्तुमन्येन शक्यते ।

कल्पद्रुमफलं दत्ते परः कुत्र महीरुहः ॥ ५० ॥

अर्थ—शीलसमान उपकार करनेको और समर्थ न हुआए है, जैसे कल्पवृक्ष फल देय है सो और कहां वृक्ष फल कहां देय है, कहीं भी न देय है ॥ ५० ॥

तापेऽपि सुखितः शीली शीलमोची पुनर्जनः ।

चित्रं जनांगुलिच्छायो स्थितोऽपि पदितप्यते ॥ ५१ ॥

अर्थ—आचार्य कहै हैं बड़ा आश्चर्य है । देखो—शीलवान जीव है सो ताप कहिए घाम विषे भी सुखी है । बहुरि शीलका त्यागने-वाला है सो मनुष्यनिकी अँगुलीकी छाया विषे तिष्ठ्या भी ततायमान होय है ॥ ५१ ॥

कदाचन न केनापि सुशीलः परिभूयते ।

न तिरस्त्रियते यो हि श्लाघ्यते तस्य जीवितम् ॥ ५२ ॥

अर्थ—जो सुशील पुरुष कोऊ करि भी चलायमान न कीजिए है अर तिरस्कार न कीजिए है ताका जीवन सराहिए है ॥ ५२ ॥

भंगस्थानपरित्यागी व्रतं पालयतेऽमलम् ।

तस्करैर्लुट्यते कुत्र दूरतोऽपि पलायितः ॥ ५३ ॥

अर्थ—भंगस्थान कहिये जिस स्थानमें शील भंग होय ऐसा स्थानका त्यागनेवाला पुरुष है सो निर्मल व्रतको पालै है । जैसे दूर हीतें भाग्या जा पुरुष है सो चौरन करि लूटिए है, अपितु नाहीं लूटिए है ।

भावार्थ—जैसे चौरनिकों दूरहाँते त्यागै तो पुरुष छूटै नाहीं तैसे व्रतभंगके कारण स्थानादिक त्यागै ताका व्रत निर्मल पलै है ॥५३॥

आगँ—शीलभंगके कारण जे द्यूतादिक तिनका निषेध करै हैं, तहां प्रथम द्यूतका निषेध करै हैं:—

नानानर्थकरं द्यूतं मेक्तव्यं शीलशालिना ।

शीलं हि नाश्यते तेन गरलेनेव जीविनम् ॥ ५४ ॥

अर्थ—शील करि शोभित जो पुरुष है ताकरि अनेक अनेक अनर्थनिका करनेवाला जो जूवा है सो त्यागना योग्य है, जातैं निश्चय सेती ताकरि शील नाशिफ है जैसे विष भक्षण करि जीवन नाशिफ है ॥ ५४ ॥

विषादः कलहो राटिः कोपो मानः श्रमो भ्रमः ।

पेशून्यं मत्सरः शोकः सर्वे द्यूतस्य बाधवाः ॥ ५५ ॥

अर्थ—विषाद कलह राड क्रोध मान खेद संशय चुगली मत्सर भाव, शोक, ये सर्व जूवाके बन्धुजन हैं ।

भावार्थ—जहां जूवा होय है तहां पूर्वोक्त सर्व कुभाव अवश्य होय हैं ॥ ५५ ॥

दुःखानि तेन जन्वन्ते जलानीवावुवाहिना ।

व्रतानि तेन धूयन्ते रजांक्षीव चरण्युना ॥ ५६ ॥

अर्थ—तिम जूवा करि जैसे बादले करि जल उपजाइये है तैसे दुःख उपजाइए हैं अर जैसे पवन करि रज उडाइए है तैसे जूवा करि व्रत उडाइए है ।

भावार्थ—जूवा करि नाना दुःख होय हैं अर व्रतनिका लेश भी न रहै है ॥ ५६ ॥

न श्रियस्तत्र तिष्ठंते द्यूतं यत्र प्रवर्त्तते ।

न वृक्षजातयस्तत्र विद्यंते यत्र पावकाः ॥ ५७ ॥

अर्थ—जैसै जहां अग्नि हाथ है तहां वृक्षनकी जाति उत्पन्न न होय है तैसै जहां जूरा प्रथमै है तहां लक्ष्मी न तिष्ठै है ॥ ५७ ॥

मातृगप्युत्तराद्यं या ह्यते जनपूजिनम् ।

अकर्त्तव्यं परं तस्य कुर्वतः कीदृशां प्रया ॥ ५८ ॥

अर्थ—जा जूरा खेलनेवाला पुरुष सो लोकमें मान्य जो माताका लड़ा ताकी भी हू लेय है तिमकै और अकार्य करतेकै कैसी लज्जा ।

भावार्थ—कोऊ भी अकार्य करनेमें जुवावालेकै लज्जा नाहीं, ऐषा जानना ॥ ५८ ॥

सम्पदं सकलां हित्वा स गृह्णाति महाऽऽगदम् ।

स्वकुलं मलिनं कृत्वा वितनोति च दुर्यश ॥ ५९ ॥

अर्थ—सो जूरा खेलनेवाला पुरुष समस्त सम्पदाकौ त्याग करि महा आपदाकौ प्रदण करै है, बहुरि अपने कुलकौ मलिन करकै खोटा यश विस्तारै है ॥ ५९ ॥

नारकैरपरैः क्रुद्रैर्नारकस्येव मस्तके ।

निसन्ध्य किन्वैस्तस्य दुःखर्वालो उब्राल्यतेऽनलः ॥ ६० ॥

अर्थ—जैसै अन्य क्रोधायमान भए जे नारकी तिन करि नारकीके मस्तक विषै थापि करि दुःखकारी है उबाला जाकी ऐषा अग्नि जलाइये है तैसै जुवारीन करि जुवारीके सिर परि अग्नि जलाइए है ॥ ६० ॥

कर्कशं दुःश्रवं वाक्यं जल्पतो वंचिताः परे ।

कुर्वति धूनकारस्य कर्णनासादिकर्त्तनम् ॥ ६१ ॥

अर्थ—जिनका घन ठिगलिया ऐसे जे अन्य धूनकार हैं ते कठोर अर कानानिकौ दुःखदाई वचन बोलते सन्ते जुवा खेलनेवालेके कान नासिका आदि अंगनिकौ काटै हैं ॥ ६१ ॥

विज्ञायेति महादाघं द्यूतं दाव्यनि नात्तमाः ।

जानानाः पात्रकोष्णत्वं प्रविशंमि कथं बुवाः ॥ ६२ ॥

अर्थ—या प्रकार जूवाकों महादाघरूप जान करि उत्तम पुरुष
नाहीं खेलै है जैसे अग्निका उष्णपना जाणते संते पंडित जन हैं ते
अग्निमें प्रवेश कैसे करें, अपितु नाहीं करै हैं ॥ ६२ ॥

आगें—वेश्याका निषेध करें हैं;—

वितनोति दृशो रागं या वात्येव रजोमयी । विध्वंसयति या लोकं
शर्वरीव तमोमयी । ६३ ॥ या स्वीकरोति सर्वस्वं चौरीवार्यपरायणा ।
उत्तेन याति गृह्णाति शाकिनीवामिषप्रिया ॥ ६४ ॥ बहिज्वालेव या
स्पृष्टा संतापयति सर्वतः । शुनीव कुरुते चाटु दानतो याऽति वश्मला
॥ ६५ ॥ विमोहयति या चित्तं मदिरेव निषेविता । सा हेया दूरतो
वेश्या शीलालंकारवारिणा ॥ ६६ ॥

अर्थ—जो वेश्या नेत्रनि त्रिषै जैसे धूलि सहित पवन राग
विस्तारि तैसै राग विस्तारि है बहुरि या लोकका जैसे अंधकारमयी राग
नाश करै है तैसै नाश करै है ॥ ६३ ॥ बहुरि जो वेश्या धनमें
तत्पर चौरी करनेवालाकी ज्यों सर्व धनकों गृहण करै है । बहुरि जो
उलकरि मांस है त्रिय जाकों ऐसी शाकिनीकी ज्यों मनुष्यकों अतिशय
करि अंगीकार करै है ॥ ६४ ॥ बहुरि जो वेश्या अग्निकी ज्वाला
समान स्पर्शा भई सर्व तरफतें संताप उपजावै है । बहुरि धनके दब त
जो अत्यंत पापिनी कुत्तीकी ज्यों खुशामद विस्तारि है ॥ ६५ ॥ बहुरि
जो मदिराकी ज्यों सेई भई चित्तकों मोह उपजावै है सो वेश्या शीलरूप
आभूषणका धारी जो पुरुष ताकरि दूरतें त्यागनी योग्य है ॥ ६६ ॥

सत्यं शौचं शमं शीलं संयमं नियमं यमम् ।

प्रविशंति बहिर्मुक्ता विटाः पण्यांगनागृहे ॥ ६७ ॥

अर्थ—व्यभिचारी पुरुष हैं ते सब शौच शम शील संयम नियम यम इत्यादि सर्व धर्मके अंगनिकों बाहर छोड़िकरी वेश्याके घरमें प्रवेश करै है ।

भावार्थ—वेश्याके घरमें प्रवेश करते ही सर्व धर्मका नाश होय है ॥ ६७ ॥

तपो व्रतं यशो विद्या कुलीनत्वं दमो दया ।

छिद्यंत वेश्याया सद्यः कुठार्येवाऽखिला लताः ॥ ६८ ॥

अर्थ—जैसे कुल्हाड़ी करि मंत्र लता शीघ्र छेदि है तैसे वेश्या करि तप व्रत यश विद्या कुलीनपना इंद्रियनिका दमन दया ये सब शीघ्र छेदिये हैं । ६८ ॥

जननी जनको भ्राता तनयस्तनया श्रमा ।

न संति बल्लभास्तस्य दारिका यस्य बल्लभा ॥ ६९ ॥

अर्थ—जा पुरुषके वेश्या प्यारी है ता पुरुषके माता पिता भाई पुत्र पुत्रा बहन ये प्यारे नहीं ॥ ६९ ॥

न तस्मै रोचते सेव्यं गुरुणां वचनं हितम् ।

सशर्करामिव क्षीरं मित्ताकुलितचेतसे ॥ ७० ॥

अर्थ—वेश्या सेवनेवाले पुरुषकों सेवने योग्य जो गुरुनका हितरूप वचन सो नहीं रुचै है । जैसे पित्तकरि आकुलित है चित्त नाका ऐसा जो पुरुष ताके अर्थ मिश्री सहित दूध नहीं रुचै है तैसे ।

भावार्थ—वेश्यासक्तकों गुरु वचन नहीं सुहावै है ॥ ७० ॥

वेश्यावक्रगतां निघां लालां पिबति योऽधमः ।

शुचित्वं मन्यत स्वस्य काऽपरातो विडम्बना ॥ ७१ ॥

अर्थ—जे अधम पुरुष वेश्याके मुख विषे प्राप्त जो निंदनीक लाल ताहि पीवै है अर आपके शुचिपनां मानै है या सिवाय और कहां विडम्बना है ॥ ७१ ॥

यो वेश्यावदनं निस्ते मूढो मया दिवासितम् ।

मद्यमांसपरित्यागव्रतं तस्य कुतस्तनम् ॥ ७२ ॥

अर्थ—जो मूढ मदिरा करि वासित जो वेश्याका मुख ताहि चूमै है ताकै मदिरा मांसके त्यागरूप व्रत काहे ॥ ७२ ॥

वदनं जघनं यस्या नीचलोकमलाविलम् ।

गणिकां सेवमानस्य तां शौचं वद कीदृशम् ॥ ७३ ॥

अर्थ—जा वेश्याका मुख अर जघन नीच लोकके मल करि मलिन है ता गणिकाकौ सेवता जो पुरुष ताकै पवित्रपना कैंषा, कोई प्रकार पवित्रपना नाहीं ॥ ७३ ॥

या परं हृदये धत्ते परेण सह भाषते ।

परं निषेवते लुब्धा परमाह्वयते दृशा ॥ ७४ ॥

अर्थ—या वेश्या मनमें अन्य पुरुषकौ धारै है अर औरके साथ बोले है अर लोभनी औरकौ सेवै है अर दृष्टि करि औरकौ बुलवावै है ॥ ७४ ॥

सरलोऽपि सदक्षोऽपि कुलीनोऽपि महानपि ।

यथेक्षुरिव निःसारः सुपर्वापि त्रिभुष्यते ॥ ७५ ॥

अर्थ—जा वेश्या करि मायाचारहित सरल भी अर चतुर भी अर कुलीन भी अर बड़ा भी अर सुपर्वा कहिये सुन्दर अंग सहित भी निःसार कहिये द्रव्य रहित हाथ सां भठिकी ज्यों त्यागिए है ।

भावार्थ—जैसे सूधा भी भटा भी अर कुलीन कहिये पृथ्वी विषै लीन भी बड़ा भी अर सुपर्वा कहिये भली है मुठार जाकी ऐषा भी सांठा है सो सार रहित त्यागिए है तैसे वेश्या कारि निःसार मनुष्य त्यागिए है ॥ ७५ ॥

न सा सेव्या त्रिधा वेश्या शीलगतं यियासता ।

जानानां न हि हिंस्रत्वं व्याघ्रौ स्पृशति कञ्चन ॥ ७६ ॥

अर्थ—शील रत्नकी रक्षा करते जो पुरुष ताकरि सो वैश्या मन वचन काय करि सेवनी योग्य नाही जाते डिंसकपनेको जानता संता कोई भी पुरुष है सो व्याघ्रिकों नाही स्पर्श है ॥ ७६ ॥

आगें—परस्त्री सेवनका निषेध करै हैं;—

निरश्ची मानुषी देवी निर्जीवा च नितंबिनी ।

परकीया न भोक्तव्या शीलरत्नवता त्रिधा ॥ ७७ ॥

अर्थ—तिर्यचणी मनुष्यणी देवी ये तो चेतन अर अचेतन ऐसी काष्ठ पाषाणादिककी ऐसी व्याघ्र प्रकार परस्त्री है सो शीलरत्न सहित पुरुष करि मन वचन काय करि सेवनी योग्य नाही ॥ ७७ ॥

जीवितं हरते रामा परकीया निषेविता ।

श्लोषते सर्पिणां दुष्टा स्पृष्टा दृष्टिविषा न किम् ॥ ७८ ॥

अर्थ—परस्त्री सेई भई जीवितव्यकौ हरै है जैसे जाके देखे ही विष चङै ऐसी दुष्ट सर्पिणी स्पर्शा सन्ती कहां न जलावै, अपितु जलावै ही है ॥ ७८ ॥

यच्चह लौकिकं दुःखं परनारीनिषेवने ।

तत्प्रसूनं मतं प्राज्ञैरकं टारुणं फलम् ॥ ७९ ॥

अर्थ—जो परनारी सेवने विषै इष लोक सम्बन्धी दुःख है सो तो ताका फल है अर नरक सम्बन्धी मयानक दुःख है सो ताका फल पंडितनिनै बह्या है ॥ ७९ ॥

स्वजनैः रक्षमाणायस्तस्या लाभोऽतिदुष्करः ।

तापस्तु चित्तमानायां सर्वांगीणो निरन्तरः ॥ ८० ॥

अर्थ—स्वजननिकरि रक्षा करी भई परस्त्री है ताका लाभ अति दुष्कर है । बहुरि ताका चित्तवन करै सन्ते निरन्तर सर्व अंगमें ताप उपजे है ॥ ८० ॥

प्राप्यापि कष्टकष्टेन तां देशे यत्र तत्र वा ।

किं सुखं लभते भीतः सेवमानस्त्वगन्वितः ॥ ८१ ॥

अर्थ—बहुरि जिस तिस क्षेत्र विषै कष्ट कष्ट करि परखीकों पायकरि भी भयभीत आतुरता रहित सेवना संता कहां सुख पावै है ? किछू भी सुख न पावै है ॥ ८१ ॥

या हिनस्ति स्वकं कांतं सा जारं न कथं खला ।

विडालां याऽत्ति पुत्रं स्वं सा किं मुंचति मूषिकाम् ॥ ८२ ॥

अर्थ—जो स्त्री अपने पतिकों मारै है सो दुष्टनी यारकों कैसें नार्ही मारै है जैसें जो विडाई अपने पुत्रकों खाय है सो मूसेकों न खाय ? खाय ही है ॥ ८२ ॥

यावद्दर्शं कुचेतस्काः किं वृण्वंति परांगनाम् ।

न पापतः परो लाभः कदाचित्तत्र विद्यते ॥ ८३ ॥

अर्थ—ऐसी परखीकों खोटे हैं चित्त जिनके ऐसे पुरुष हैं ते क्यों भोगै हैं ? जातै परखी सेवन विषै पाप समान और लाभ नार्ही है ॥ ८३ ॥

या स्वं मुंचति भर्तारं विश्वासस्तत्र कीदृशः ।

को विश्वासमृते स्नेहः किं सुखं स्नेहतो विना ॥ ८४ ॥

अर्थ—जो स्त्री अपने भरतारकों छोडै ता विषै विश्वास कैसा ? अर विश्वास विना खेह विना सुख कहां ॥ ८४ ॥

वधो बंधो धनभ्रंशस्तापः शोकः कुलक्षयः ।

आयासः कलहो मृत्युः पारदारिक बांधवाः ॥ ८५ ॥

अर्थ—वध कहिए नाम अर बन्ध बन्धन अर धनका नाश अर सन्ताप अर शोक अर कुलका क्षय अर खेद अर कलह अर मरण ये परखी सेवनेवालेके बांधव हैं ।

भावार्थ—परखी सेवनेवालेके वध बन्धनादि सर्व ही होय है ॥ ८५ ॥

लिंगच्छेदं खरारोपं कुलालकुसुमार्चनम् ।

जननिदामभोगत्वं लभते पारदारिकः ॥ ८६ ॥

अर्थ—परखीका सेवनेवाला पुरुष है सो लिंगका छेदना गधापै बैठावना अर कुलालकुसुम कहिए छैनां कंडा तिनकरि पूजन कहिए मारना अर लोकनिदा अर भोगरहितपना इत्यादि पावै है ॥ ८६ ॥

लब्ध्वा विडम्बनां गुर्वामत्र प्राप्तः स पंचताम् ।

अत्रे यद्दुःखमप्रति कस्तद्वर्णयितुं क्षमः ॥ ८७ ॥

अर्थ—सो परखी सेवनेवाला इस लोक विषे बड़ी विडम्बनाकों पाय करि मरणकों प्राप्त भया नरक विषे जो दुःख पावै है ताहि वर्णन करनेकों कौन समर्थ है ? ॥ ८७ ॥

एकांते यौवनध्वांते नारीं नेदीयसी सतीम् ।

दृष्ट्वा क्षुभ्यति धीरोऽपिका वार्ता कान्ते नरे ॥ ८८ ॥

अर्थ—एकांतमें यौवनरूप अंधकार विषे शीलवंत वृद्धानारीकों देखि करि धीर पुरुष भी क्षमकों प्राप्त होय है तो कायर पुरुष विषे कहा वार्ता है, वह तो क्षोभकों प्राप्त होय ही होय ॥ ८८ ॥

जल्पनं हसनं कर्म* क्रीडा वक्रावलोकनम् ।

आसनं गमनं स्थानं वर्णनं भिन्न भाषणम् ॥ ८९ ॥

नार्या परिचयं सार्द्धं कुर्वाणः परकीयया ।

वृद्धोऽपि दूष्यते प्रायस्तरुणो न कथं पुनः ॥ ९० ॥

अर्थ—परखी साथ बोलना हसना कार्य करना क्रीडा करना मुख देखना बैठना गमन करना ठाडे रहना वर्णन करना एकांत

* संस्कृत प्रतियोंमें “ कर्म ” इसके स्थानमें “ नमं ” ऐसा पाठ है ।

विषै बोलना इत्यादि परिचय करता संता वृद्ध पुरुष भी बाहुल्य पनै दूषिष होय है तो तरुण पुरुष कैसे दूषित न होय ? होय ही हाय ॥ ८९ ॥ ९० ॥

विवुद्धयेति महादोषं पररामा मनीषिभिः ।

विवज्या दूरतः सद्भिर्भुजगीव भयंकरा ॥ ९१ ॥

अर्थ—या प्रकार महादाष जानिके बुद्धिवान सत्पुरुषनि करि परखी भयंकर सर्पिणीकी ज्यौं दूरते त्यागनी याग्य ह ॥ ९१ ॥

आगै-शिकारका निषेध करै हैं—

नामापि कुरुते यस्या गृहीतं गुरु कल्मषम् ।

मृगया सा त्रिधा हेया भवद्दुःखविभीरुणा ॥ ९२ ॥

अर्थ—जाका नाम भी बड़ा पाप करै है सो शिकार खेलना संसारते भयभीत जो पुरुष ताकरि मन वचन कायते त्यागने याग्य है ॥ ९२ ॥

त्रस्यंति सर्वदा दीनश्चञ्चतः पर्णतोऽपि ये ।

द्विस्यंते तेऽपि यैर्जीवास्तेभ्यः के निघृणाः परे ॥ ९३ ॥

अर्थ—जे दीन जं व चालते पत्ताभे भी सदाकाल त्रासकौ प्राप्त होय हैं ते भी मृगादिक जीव तिन शिकारीन करि मारिए है तिनते सिवाय और निर्देयी कौन है ॥ ९३ ॥

निरागसः पराधीना नश्यंतो भयविह्वलाः ।

कुरंगामैर्निह्न्यंते पापिष्ठा न परे ततः ॥ ९४ ॥

अर्थ—अपराध रहित अर पराधीन अर भय करि व्याकुल नाशकौ प्राप्त होते भागते ऐसे हरिण जिनकरि मारिए है तिनके सिवाय और दूसरे पापी नाहीं ॥ ९४ ॥

गृह्णंतोऽपि तृणं दंतैर्देहिनो मारयन्ति ये ।

व्याघ्रेभ्यस्ते दुराचारा विशिष्यंते कथं खलाः ॥ ९५ ॥

अर्थ—जो दांतनि करि तृण ग्रहण करै हैं ऐसे मृगादिक जीवनीकों जे मारै हैं ते दुराचारी दुष्ट जीव व्यग्रनेतैं न्यारे कैसे कहिए है ।

भावार्थ—व्याघ्र भी मृगादिककों मारै है अर शिकारी भी मारै है तातैं दोनों समान ही हैं ॥ ९५ ॥

ये मारयंति निस्त्रिंशः ये मार्यंते च विह्वलाः ।

तेषां परस्परं नास्ति विशेषस्तत्क्षणं विना ॥ ९६ ॥

अर्थ—जे निर्दयी मारै है अर जे विह्वल जीव मारिए है तिनकें परस्पर ता समयविना विशेष नाहीं ।

भावार्थ—वर्तमान समयतैं तौ मारनेवाला अर जिनकों मारै है ते जांव हीनाधिक हैं बहुरि आगैं नरकादिकमें परस्पर मारै है तहां हीनाधिक नाहीं ॥ ९६ ॥

स्वमांसं परमांशैर्धे पोषयति दुर्गशयाः ।

स्वमांसमेव खाद्यंते हठतो नारकैरिमे ॥ ९७ ॥

अर्थ—जो दुष्टचित्त परजीवनके मांसनकरि अपना मांस पोषै है सो ये हठतैं अपने मांसहीकों नारकीन करि खवावै है ॥ ९७ ॥

स्त्व्यायुर्किंकलो रोगी विचक्षुर्वधिरः खलः ।

वामनः पामनः षंडो जायते स भवे भवे ॥ ९८ ॥

अर्थ—अल्प आयु अंगविकल रोगी नेत्ररहित बहारा दुष्ट वामन कुष्ठरोगी नपुंसक सो मांसभक्षी भव भव विषे होय है ॥ ९८ ॥

दुःखानि यानि दृश्यंते दुःसहानि जगत्त्रये ।

सर्वाणि तानि लभ्यन्ते प्राणिमर्दनकारिणा ॥ ९९ ॥

अर्थ—तीन लोक विषे जे दुःख दुःख देखिए हैं ते सब दुःख प्राणीनकी हिंसा करनेवाले करि पाइए है ॥ ९९ ॥

इति दोषवती मत्त्रा, मृगया हितकाक्षिणा ।

नानानर्थकरी त्याग्या, राक्षसीव विभीषणा ॥ १०० ॥

अर्थ—या प्रकार दोष सहित जानिकै हितका बालक जो पुरुष ताकरि अनेक अनर्थनकी करनहारी राक्षसी समान भयकारी जो शिकार सो त्यागना योग्य है ॥ १०० ॥

भोजनं कुर्वता कार्यं, मौनं शीलवता सदा ।

सन्तोषित्वमिवाग्निं, भैक्ष्यशुद्धिविधायिना ॥ १०१ ॥

अर्थ—जैसे भिक्षाशुद्धिका आचरण करनेवाला जो मुनि ताकरि अग्नि सन्तोषीपना करना योग्य है तैसे भोजन करता जो शीलवान सत्पुरुष ताकरि मौन करना योग्य है ॥ १०१ ॥

सर्वदा शस्यते जोषं, भोजने तु विशेषतः ।

रक्षायनं सदा श्रेष्ठं, सरोगित्वे पुनर्न किम् ॥ १०२ ॥

अर्थ—मौन सदाकाल सराहिए है अर भोजनमें तो विशेष सराहिए है । जैसे औषध सदा भली है बहुरि सरोगीपने विषै कैसे भली न होय ॥ १०२ ॥

सन्तोषो भाव्यते तेन, वैराग्यं तेन दृश्यते ।

संयमः पोष्यते तेन, मौनं येन विधीयते ॥ १०३ ॥

अर्थ—जाकरि मौन करिए है ताकरि सन्तोष भाइए है ताकरि वैराग्य देखिए है ताकरि संयम पोषिए है ॥ १०३ ॥

वाचो व्यापारतो दोषा, ये भवन्ति दुरुक्तराः ।

ते सर्वेऽपि निवार्यते, मौनव्रतविधायिना ॥ १०४ ॥

अर्थ—वचनके व्यापारतै जे दुःखतै उतरे जाय ऐसे दोष हैं ते सर्व ही मौन व्रतके धारक पुरुष करि निवारिए है ॥ १०४ ॥

सागरोऽपि जन्तो येन, प्राप्यते यतिश्रयमम् ।

मौनस्य तस्य शक्यते, केन वर्णयितुं गुणाः ॥ १०५ ॥

अर्थ—जिस मौन व्रत करि गृहस्थ भी यतिके संयमकों प्राप्त कीजिए है तिष मौनके गुण कौन करि वर्णन करनेकों समर्थ हूजिए है, अपितु नाहीं हूजिए है ॥ १०५ ॥

प्लेषेण विशता रोधः, कल्मषस्य विदीयते ।

बलिष्ठेन महिष्ठेन, चलिलस्येव सेतुना ॥ १०६ ॥

अर्थ—जैसे बलवान अर बड़ा जो सेतु कहिए पाळ ताकरि जलका रोध करिए तैसे प्रवेश करता जो पाप ताका रोध मौनकरि कीजिए है ॥ १०६ ॥

हुंकारांगुलिखात्कारभ्रूमृद्धचलनादिभिः ।

मौनं विदधता संज्ञा, विघातव्या न गृह्ये ॥ १०७ ॥

अर्थ—मौनकों धारता जो पुरुष ताकरि हुंकार करना अंगुली उठावना संकार करना भ्रुकुटी चलावना मस्तक चलावना इत्यादि करि गृह्णि जो अति चाह ताके अर्थ संज्ञा करना योग्य नाहीं ॥ १०७ ॥

सार्वकालिकमन्यच्च, मौनं द्वेषा विधीयते ।

भक्तितः शक्तितो भव्यैर्भवभ्रमणभीरुभिः ॥ १०८ ॥

अर्थ—संसार भ्रमणतैं भयभीत जे भव्य जीव तीनकरि भक्तितैं शक्तिसारू एक तौ सार्वकालिक कहिए मरण पर्यंत दूजा असार्वकालिक कहिए कालकी मर्यादारूप ऐमें दोय प्रकार मौन कीजिए है ॥ १०८ ॥

भव्येन भक्तिनः कृत्वा, मौनं नियतकालिकम् ।

जिनेन्द्रभवने देया, घंटिका समहोत्सवम् ॥ १०९ ॥

अर्थ—भव्य जीव करि भक्तिसैं कालकी मर्यादारूप मौन करिके जिनेन्द्रके मंदिर विषे महोत्सव सहित जैसे होय तैसे घंटिका देनी योग्य है ।

मावार्थ—मौनव्रत पूर्ण होय तब उद्यापन करै तामैं जिन चैत्या-लयमें घंटा चढ़ावे, ऐसा जानना ॥ १०९ ॥

नषार्वकालिके मौने, निर्वाहव्यतिरेकतः ।

उद्योतनं परं प्राज्ञैः, किञ्चनापि विधीयते ॥ ११० ॥

अर्थ—षार्वकालिक कहिए यावज्जीव मौनविषै निर्वाह विना (निर्वाहकै सिवाय) पंडिननि करि किछु भी उद्योतन न करिए है ॥ ११० ॥

आवश्यकके मलक्षेपे, पापकार्ये विशेषतः ।

मौनी न पीड्यते पापैः, सन्नद्धः सायकैरिव ॥ १११ ॥

अर्थ—सामायिकादि आवश्यक क्रिया विषै, मलके क्षेपण विषै, बहुरि पाप कार्य जो मैथुन सेवन आदि ता विषै मौनका धारी जीष है सो पाप करि न पीडिए है । जैसे बरुतर पदरे योद्धा है सो बाणनि करि न पीड्या जाय है तैसेँ मौनी पापनि करि न बन्धै है ॥ १११ ॥

कोपाद्यो न संक्षेसा, मौनव्रतफलार्थिना ।

पुरः पश्चाच्च कर्त्तव्याः, सूक्ष्मते तद्धितैः कृतैः ॥ ११२ ॥

अर्थ—मौनव्रतके फलका वांछक जो पुरुष ताकरि आगै वा पीछै क्रोधादि कषाय करना योग्य नाहीं, जातै करे जे क्रोधादि कषाय तिन करि मौन व्रत नाश कीजिए है ।

भावार्थ—मौनके पहले वा पीछै कषाय न करना । कषायतै मौन व्रत निष्फळ होय है ॥ ११२ ॥

वाचं यमः पवित्राणां, गुणानां सुखकारिणाम् ।

सर्वेषां जायते स्थानं, मणीनामिव नीरधिः ॥ ११३ ॥

अर्थ—वचनका संयम है सो पवित्र अर सुखकारी जे सर्वगुण तिनका स्थान होय है जैसेँ रत्ननिका स्थान समुद्र होय है तैसेँ ।

भावार्थ—वचनका संयम है सो सर्व गुणनिका स्थान है, ऐषा जानना ॥ ११३ ॥

वाणी मनोरमा तस्य, शास्त्रसंदर्भगमिता ।

आदेया जायते येन, क्रियते मौनमुज्ज्वलम् ॥ ११४ ॥

अर्थ—जा पुरुष करि निर्मल मौन करिये हैं ताकि शास्त्ररचना करि युक्त मनको प्यारी आदर करने योग्य वाणी होय है ॥ ११४ ॥

पदानि यानि विद्यन्ते, वन्दनीयानि कोविदैः ।

सर्वाणि तानि लभ्यन्ते, प्राणिना मौनकारिणा ॥ ११५ ॥

अर्थ—जे पंडितनि करि वन्दनीक पद हैं ते सर्व पद मौन करनेवाला जो जीव ताकरि पाइए है ॥ ११५ ॥

निर्मलं केवलज्ञानं, लोकालोकालोकनम् ।

लीलाया लभ्यते येन, किं तेतान्यन्न काक्षितम् ॥ ११६ ॥

अर्थ—लोकालोकका देखनहारा ऐसा निर्मल केवलज्ञान जा करि लीलामात्र करि पाइए ताकरि और वांछित वस्तु कहा न पाइए, अपि तु पाइए ही है ॥ ११६ ॥

ऐसें मौन व्रतका वर्णन किया । आगे-उपवासका वर्णन करै है:-

रागो निवार्यते येन, धर्मो येन विवर्द्धयते । पापं निह्न्यते येन, स्रयमो येन जन्यते ॥ ११७ ॥ अनेकभयसंबद्धकर्मकाननपावकः । उपवासः स कर्त्तव्यो नीरागीभूतचेतसा ॥ ११८ ॥

अर्थ—जाकरि रागभाव निवारिए है अर धर्म बढ़ाइए है अर पाप नाशिए है अर संयम भाव उपजाइए है ॥ ११७ ॥ सो उपवास रागरहित भया है चित्त जाका ऐसे पुरुष करि करना योग्य है, कैसा है उपवास अनेक भवमें बन्धे जे कर्म सो ही भया वन ताको अग्नि समान है ॥ ११८ ॥

उपेत्याक्षाणि सर्वाणि, निवृत्तानि स्वकार्यतः ।

वसन्ति यत्र स प्राज्ञैरुपवासो विधीयते ॥ ११९ ॥

अर्थ—जा विषै सर्व स्पर्शनादि इन्द्रिय है ते अपना अपना कार्य जो स्पर्शादि विषयनिमै प्रवर्तना तातें रहित भए सन्ते आत्माके निकट प्राप्त होयकरि बसिए सो उपवास कहिए ॥ ११९ ॥

स सार्वकालिको जैनैरेकोऽन्योऽसार्वकालिकः ।

द्विविधः कथ्यते शक्तो, हृषीकाश्चनियन्त्रणे ॥ १२० ॥

अर्थ—सो उपवास एक तौ सार्वकालिक कहिए यावज्जीव धारणा, दूजा असार्वकालिक कहिए कालके प्रमाणरूप, ऐसैं दोय प्रकार जैनीन करि कहिए है, कैसा है उपवास इन्द्रियरूप घोडेनके शेकनेमें समथे है ॥ १२० ॥

तत्राद्यो म्रियमाणस्य, वर्तमानस्य चापरः ।

कालानुसारतः कार्यं, क्रियमाणं महाफलम् ॥ १२१ ॥

अर्थ—तहां आदिका सार्वकालिक उपवास है सो जाका मरण निकट होय संन्यास घरे ताकै होय है, बहुरि दूसरा असार्वकालिक उपवास है सो वर्तमान पुरुषके चतुर्दशी आदि पर्वके कालविषै मर्यादारूप होय है, जातें कालके अनुसारतें किया भया कार्य है सो महाफलरूप होय है ॥ १२१ ॥

वर्तमानो मतस्त्रेवा, स वर्यो मध्यमेऽधमः ।

कर्त्तव्यः कर्मनाशाय, निजशक्यत्यनुगृहकैः ॥ १२२ ॥

अर्थ—सो वर्तमान कहिए कालका नियमरूप उपवास है सो उत्तम, मध्यम, अधम ऐसैं तीनप्रकार कहा है सो अपनी शक्तिकों न छिटावनेवाले ऐसे जे पुरुष तिन करि कर्मके नाशके अर्थ करना योग्य है ।

भावाथे—शक्तिमारु उपवास कर्मकी निर्जराहीके अर्थ करना योग्य है, ह्याति लाभ पूजादिकके अर्थ न करना ऐसा अभिप्राय है ॥ १२२ ॥

चतुर्णां तत्र मुक्तीनां, त्यागे वर्यश्चतुर्विधः ।

उपवासः सयानीयस्त्रिविधो मध्यमो मताः ॥ १२३ ॥

भुक्तिद्वयपरित्यागे, विविधो गदितोऽधमः ।

उपवासस्त्रिधाप्येषः, शक्तित्रितयसूचकः ॥ १२४ ॥

अर्थ—तहां च्यार प्रकार आहारका त्याग करिण सो चतुर्विध नामा उत्तम उपवास है, बहुरि पानी सहित है सो त्रिविध नामा मध्यम उपवास कहा है ॥ १२३ ॥ बहुरि दोय वेला प्रकार भोजनका त्याग होत सन्तै त्रिविध नामा अधम उपवास है, यह उत्तम, मध्यम, जघन्य तीनों प्रकारहीका उपवास उत्तम, मध्यम, जघन्य तीनों शक्तिका सूचक है, जैसी जा पुरुषमें शक्ति होय तैसा ही उपवास धरै ॥ १२४ ॥

भावार्थ—धारणे पारणे एकवार भोजन करै अर च्यार प्रकार आहारका त्याग करै सो चतुर्विध नामा उत्तम उपवास कहिए है, अर धारणे पारणे एक मुक्ति करै अर उपवासमें जल लेय सो मध्यम त्रिविध नामा उपवास है, अर धारणे पारणे अनेकवार खाय अर उपवासविषे पानी भी लेय सो अधम त्रिविधनामा उपवास कहिए, यामें एकदिनमें दोय भोजनकी वेला होय है तिन दोऊ वेलामें भोजन त्याग्या तातें दोऊ भोजनका त्याग किया, ऐसा जानना ॥ १२३-१२४ ॥

आगें उपवास कानेका विधान कहै हैंः—

प्रहरद्वितीये भुक्त्वा समेत्याचार्यसन्निधिम् । वंदित्वा भक्तिः
कृत्वा, कायोत्सर्गं यथाक्रमम् ॥ १२५ ॥ पंचांगप्रणतिं कृत्वा, गृहीत्वा
सुरिवाक्यतः । उपवासं पुनः कृत्वा, कायोत्सर्गं विधानतः ॥ १२६ ॥
आचार्यं स्तवनः स्तुत्वा, वंदित्वा गणनायकम् । दिनद्वयं ततो नेकं
स्वाध्यायासक्तचेतसा ॥ १२७ ॥

विधाय साक्षिणं सूरिं गृहसाणः पटीयसा । संपद्यतेतरामेष व्यवहार

इव स्थिरः ॥ १२८ ॥ सर्वभोगोपभोगानां, कर्तव्या विरतिस्त्रिधा । शयितव्यं महीपृष्ठे प्रासुके कृतसंस्तरे ॥ १२९ ॥ विहाय सर्वमारंभम-संयमविवर्द्धकम् । विरक्तचेतसा स्थेयं, यतिनेव पटीयथा ॥ १३० ॥ तृतीये वासरे कृत्वा सर्वमावश्यकदिकम् । भोजयित्वाऽतिरिचि भक्त्या भोक्तव्यं गृहमेधिना ॥ १३१ ॥ उपवासः कृतोऽनेन, विधानेन विरागिणा । हिनस्त्येकोऽपि रेपांसि, मांहीव दिवाकरः ॥ १३२ ॥

अर्थ—धारणेके दिन दोय प्रहर विषै भोजन करके आचार्य-निके निकट जायकरि भक्तितै वंदना करके आगम अनुषार कायोत्सर्ग करके ॥ १२५ ॥ बहुरि पंचांग नमस्कार करके आचार्यके वचनतै उपवासकौ प्रहण करके फेरि विधानतै कायोत्सर्ग करके ॥ १२६ ॥ आचार्यकौ स्तवनतै स्तुति करके अर गणधर देवकौ वंदिके ताके अनंतर दोय दिन कहिए सोलह प्रहर स्वाध्यायमें आसक्त जो मन ताकरि व्यतीत करना योग्य है ।

भाचार्य—सोलह प्रहर स्वाध्यायमें खीन रहै ॥ १२७ ॥ बुद्धिवान ताकरि आचार्यकौ साक्षिकरि प्रहा जो उपवास सो अतिशय करि निश्चल होय है । जेधै व्यवहार कार्य बडेनके साक्षीभूत किया स्थिर होय है तैधै गुरुकी साक्षी धारया उपवास निश्चल होय है ॥ १२८ ॥ बहुरि उपवासमें सर्व भोग उपभोगनिका व्याग मन वचन काय करि करना योग्य है, अर करषा है तृणादिकका संस्तर जहां ऐसे प्रासुक पृथ्वीतल पर सोवना योग्य है ॥ १२९ ॥ असंयमका बढावनेवाला जो सर्व आरंभ ताहि त्यागिके मुनिकी ब्यौ विरक्तचित्त होयके बुद्धिवान करि तिष्ठना योग्य है ॥ १३० ॥ बहुरि तीसरे दिन सर्व आवश्यक किया करके अतिधिकौ भक्ति करि भोजन करायके श्रावककरि भोजन करना योग्य है ॥ १३१ ॥ इष विधान करि

विरागी पुरुष करि किया जो उपवास सो एक भी जैसे सूर्य अंधकारको हरे तैसे पापको हरे है ॥ १३२ ॥

उपवासं विना शक्तो, न परः स्मरमर्दने ।

सिंहेनेव विदार्यते, सिंधुरा मदमंथराः ॥ १३३ ॥

अर्थ—जैसे मदोन्मत्त हस्ती हैं ते सिंहकरि विदारिए हैं तैसे उपवास विना कामके नाश करने विषे और समर्थ नाहीं ॥ १३३ ॥

उपवासेन संतप्ते, क्षिप्रं नश्यति पातकम् ।

प्रीष्मार्काध्यासिते तोयं, कियत्तिष्ठति भूतले ॥ १३४ ॥

अर्थ—उपवास करि तप्तयमान भया जो पुरुष ता विषे पाप शीघ्र ही नाशको प्राप्त होय है । जैसे प्रीष्मके सूर्यकरि व्याप्त जो पृथ्वी-तल ता विषे जल कितना तिष्ठै शीघ्र ही सूखि जाय तैसे उपवासते पाप नशि जाय है ॥ १३४ ॥

नित्यो नैमित्तिकश्चेति, द्वेषाऽसौ कथितो बुधैः ।

प्राषधे स मतो नित्यो, बहुधाऽयो व्यवस्थितः ॥ १३५ ॥

अर्थ—सो यह उपवास पंडितनिकरि नित्य अर नैमित्तिक ऐसे दोय प्रकार कहा है सो प्रोषध जो अष्टमी चतुर्दशीपर्व ता विष तौ नित्य कहा है अर अन्य जो नैमित्तिक सो बहुत प्रकार व्यवस्थित है ॥ १३५ ॥

उपवासा विधीयंते, ये पंचम्यादिगोचराः ।

उक्ता नैमित्तिकाः सर्वे, ते कर्मक्षपणक्षमाः ॥ १३६ ॥

अर्थ—जे पंचमी आदि विषे उपवास करिए हैं ते सर्व कर्मके नाश करनेमें समर्थ नैमित्तिक उपवास कहे हैं ॥ १३६ ॥

गुरुतरकर्मजालबलिलं भववृक्षकरं, बहुपरिणाममेघनिबह्वप्रभं

प्रसभम् । क्षपयति सर्वमुप्रमुपवासपयोजपतिर्त्रिचित्कृतोर्निखिच्छेदहित-
डागततेः ॥ १३७ ॥

अथ—रच्या है संवर जानै ऐसा जो पुरुष ताके उपवासरूपी
जो उग्र सूर्य है अतिबड़ा जा ज्ञानावरणादि जालरूप जल ताहि
बलात्कारतै क्षेपै है साखै है, कैसा है कर्म जालरूप जल संसार-वृक्षका
करनेवाला है अर नानाप्रकार रागादि भावरूप मेघनिके समूहतै
उपज्या है बहुरि समस्त संसारी जीवरूप सरावरविष भयथा है ।

भावाथ—संवर सहित उपवासतै कर्मनिकी निर्जरा अधिक होय
है, ऐसा जानना ॥ १३७ ॥

जनयति यद्विधूय विपदं रभसोपचिति, घटयति संपदं त्रिदशमानव-
वर्गमताम् । विधिविहितस्य तस्य पुरुषः श्रुतकेवलिनो, वदति फलं न
कोऽप्यनशनस्य परो भुवने ॥ १३८ ॥

अर्थ—जो उपवास संचयरूप भई जो विपदा ताहि नाश करि
बलात्कारतै देवमनुष्यके समूहकरि मानित संपदाको रचै है, ऐसा
विधिपूर्वक करया जो उपवास ताके फलको केवली कहैहैं और पुरुष
लोकविषै न कहै है ॥ १३८ ॥

रचयति यस्त्रिधा व्रतमिदं महितं महितेरमिगतगतिश्चतुर्विधमनन्य-
मनाः पुरुषः । भवशतसंचितं कलिलमेष निहस्य घनं, शिवपदमेति
शाश्वतमपास्तमस्तमलम् ॥ १३९ ॥

अर्थ—जो पुरुष यह चार प्रकार व्रतको मन बचन काय करि
करै है सो अनेक जन्म करि संचय किया जो सघन पाप ताहि नाश
करि ममस्त कर्ममलरहित शाश्वता जो शिवपद ताहि प्राप्त होय है,
कैसा है पूजनीक पुरुषनिकरि पूजनीक है, बहुरि कैसा है यह पुरुष
अपार है ज्ञान जाका अर नार्ही है व्रतषिषाय अन्यविषै मन जाका,
ऐसा है ॥ १३९ ॥

दोहा ।

मन वच काय विशुद्धकरि, जो धारै व्रत शुद्ध ।

नाशि कर्म-मल मोक्षपद, पावै सो अवरुद्ध ॥

ऐसै श्री अमितगति आचार्यविरचित भावकाचारविषै

द्वादशमां परिच्छेद समाप्त भया ।

त्रयोदश परिच्छेद ।

शशांकामलसम्यक्तो, व्रताभरणभूषितः ।

शीलरत्नमिवास्त्रानिः, पवित्रगुणसागरः ॥ १ ॥

अर्थ—शशांकादिमलरहित चन्द्रमासमान निर्मल है सम्यक्त-
जाका अर व्रतरूप आभूषण करि शोभित अर शीलरत्नके उपजायवेकौ
स्त्रानिसमान अर निर्मल गुणनिका समुद्र ऐसा है ॥ १ ॥

ऋजुभूतमनोबुद्धिर्गुरुशुश्रूषणोधतः ।

जिनप्रवचनाभिज्ञः श्रावकः उत्तमोत्तमः ॥ २ ॥

अर्थ—अर सरल है मनसम्बन्धी बुद्धि जाकी अर गुरुकी सेवा
विषै उद्यमी है अर जिनागमका जाननेवाला है ऐसा उत्तम श्रावक-
सातप्रकार जानना ॥ २ ॥

निर्गर्गजरुचौ जन्तावेकांतरुचिराजिते । असहाय महाप्राज्ञे सदा-
यतनसेवके ॥ ३ ॥ कृतानायतनत्यागे परदृष्ट्यविमोहिते । सासना-
सादनाहीने जिनशासनबुद्धके ॥ ४ ॥ सोपानं सिद्धिसौधस्य कल्मष-
क्षपणक्षमम् । ज्ञानचारित्रयोर्द्वेतुः स्थिरं तिष्ठति दर्शनम् ॥ ५ ॥ ॥

अर्थ—ऐसे पुरुष विषै सम्प्रदर्शन निश्चल तिष्ठै है जो स्वभाव-
जनित रुचि जाकै अर निश्चय प्रतीति करि शोभित अर सहायरहित
महाबुद्धिवान सदा आयतन जो अहंतादि तिनका सेवक अर किए हैं

अनायतन कहिए कुदेवादिकका त्याग जानै अर अन्यमती करि विमोहित है अर जिनशासनकी विराधना करि हीन है अर जिनधर्मका बढावनेवाला है । कैसा है सम्यग्दर्शन मोक्षमहालका सोपान है अर पापके नाश करनेमें समर्थ है अर ज्ञानचारित्रका कारण है ।

भावार्थ—सम्यक्त होते सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र नाम पावै ऐसा है ॥ ३-४-५ ॥

न निरस्यति सम्यक्तं, जिनशासनभावितः ।

गृहीतं बन्द्हिंसतप्तो, लोहपिंड इवोदकम् ॥ ६ ॥

अर्थ—जिनशासन करि भावित कहिए जानें जिनागम भाया है सो पुरुष ग्रहण किया जो सम्यक्त ताहि न छोड़े है, जैसे अग्निकरित तप्त जो लोहका पिंड सो जलकौ न छोड़े है ॥ ६ ॥

दर्शनज्ञानचारित्रतयः सुविनयं परम् । करोति परमश्रद्धस्तिर्तर्पुर्भव-
वारिधिम् ॥ ७ ॥ जिनेशानां विमुक्तानामाचार्याणां विपश्चिनाम् ।
साधूनां जिनचैत्यानां चिन्तराद्वातषेदिनाम् ॥ ८ ॥ कर्त्तव्या महती
भक्तिः सपर्यां गुणकीर्त्तनम् । अपवादतिरस्कारः संभ्रमः शुभदृष्टिता ॥ ९ ॥

अर्थ—उत्कृष्ट है श्रद्धान जाकै अर संसार-समुद्रकौ तिरवेकी है इच्छा जाकै ऐसा सम्यक्ती पुरुष दर्शन ज्ञान चारित्र तप इनिमें विनय करे है । जिनदेवनिकी तथा विमुक्त कहिए सिद्धभगवानिकी तथा आचार्यनिकी तथा जैनश्रुनके पाठकनिकी तथा साधूनित्री तथा जिन प्रतिमानिकी तथा जैन सिद्धातके ज्ञातानिकी बड़ी भक्ति करनी, पूजा करनी, गुण गावना, अपवाद दूर करना, हर्ष करना, शुभ दृष्टिपना करना यह विनय है ॥ ७-८-९ ॥

आगमाध्ययनं कार्यं, कृतकालादिशुद्धिना ।

विनयारूढिचित्तेन, बहुमानविधायिना ॥ १० ॥

अर्थ—करी है कालादिककी शुद्धिता जानै ऐसा जो पुरुष ताकरि आगमका अध्ययन करना योग्य है, कैसा है सो विनय विषै युक्त है चित्त जाका अर बहुमानका करनेवाला है ।

भावार्थ—कालादिककी शुद्धिता करि विनय सहित बहुत मानसैं जिनवाणीका अभ्यास करना योग्य है ॥ १० ॥

कुर्वताऽवग्रहं यं ग्यं. सूरिनिह्वमाचिना ।

परमा कुर्वता शुद्धिं, व्यंजनार्थद्वयस्थिताम् ॥ ११ ॥

अर्थ—सूरिनिह्वमःचो कहिए आचार्यका नाम न छिपावनेवाला अर यं ग्य अवग्रह कहिये प्रतिज्ञा करनेवाला अर व्यंजनशुद्धि अर्थ-शुद्धि दोऊ उत्कृष्ट करता ऐसा जो पुरुष ताकरि ज्ञान विनय करिये है ॥ ११ ॥

संयमे संयमाधारे संयमप्रतिपादिनि ।

आदरं कुर्वतो ज्ञेयश्चारित्रविनयः परः ॥ १२ ॥

अर्थ—संयम विषै अर संयमके आधार जे मुनि तिनि विषै तथा संयमके उपदेश करनेवाले विषै आदर करता जो पुरुष ताकै उत्कृष्ट चारित्र विनय जानना योग्य है ॥ १२ ॥

महातपः स्थिते साधौ, तपः कार्ये ससंयमे ।

भक्तमात्यंतिकीं प्राहुस्तपसो विनयं बुधाः ॥ १३ ॥

अर्थ—महातप विषै तिष्ठया जो साधु ता विषै अर संयम सहित तप कार्य विषै जो अत्यन्त भक्ति ताहि तपका विनय पंडितजन कहैं हैं ॥ १३ ॥

सम्यक्तचरणज्ञानतपांसीमानि जन्मिनाम् ।

निस्तारणसमर्थानि, दुःखभे भवनीरघेः ॥ १४ ॥

अर्थ—ये सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र तप हैं ते जीवनिर्को दुःखरूप है लहर जायै ऐसा जो संघारसमुद्र तातें तारने विषै समर्थ हैं ॥ १४ ॥

चतुरंगमिदं साधोः, पोष्यमाणप्रहर्निशम् ।

सिद्धिं साधयते सधः, प्रार्थितां नृरतेरिव ॥ १५ ॥

अर्थ—यह च्यार भेदरूप मुनिराजका आचरण निरन्तर पोष्या भया शीघ्र ही वाञ्छित मोक्षकों साधै है जैसे राजाकी चतुरंग सेना पोषी भई वाञ्छित सिद्धिकों साधै है तैसे ॥ १५ ॥

सिद्धाधयिषते सिद्धिं, चतुरंगमृतेऽत्र यः ।

स पोतेन विना मूढस्तितीर्षति पयोनिधिम् ॥ १६ ॥

अर्थ—जो मूढ़ दर्शन ज्ञान चारित्र तप इनि च्यार कारण विना मोक्षकों साधै चाहै है सो मूढ़ जहाज विना समुद्रकों तिरया चाहै है ॥ १६ ॥

लोकद्वयेऽपि सौख्यानि, दृश्यंते यानि कानिचित् ।

जन्यंते तानि सर्वाणि, चतुरंगेण देहिनः ॥ १७ ॥

अर्थ—निश्चयकरि इस लोकमें अर परलोकमें जे केई सुख देखिए हैं ते सर्व जीवकै दर्शन ज्ञान चारित्र तपरूप चतुरंग करि उपजाइए है ॥ १७ ॥

निरस्यति रजः सर्वं, ज्ञेयं सूचयते हितम् ।

मातेव कुरुते किं न, चतुरंगनिषेवणा ॥ १८ ॥

अर्थ—सर्व रज जो पाप ताहि दूर करै है अर हित बतावै है ऐसैं माताकी ज्यों दर्शन ज्ञान चारित्र तपकी सेवा कहा न करै है, सर्व ही हित करै है ॥ १८ ॥

चतुरंगमपाकृत्य, कुर्वते कर्म ये परम् ।

कल्पद्रुममपाकृत्य, ते मजंति विषद्रुमम् ॥ १९ ॥

अर्थ—जे पुरुष दर्शन ज्ञानचारित्र तप इनि च्यार कारणनिकों तागकै और क्रियाकर्म करै है सो कल्पवृक्षकों छेड़कै विषवृक्षकों सेवै है ॥ १९ ॥

चतुरंगं सुखं दत्ते, यत्तत्कर्म परं कथम् ।

यत्करोति सुदृढकार्यं, तन्न वैरी कदाचन ॥ २० ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन ज्ञानादि च्यार कारण जो सुख देय हैं सो और कर्म सुख कैसे देया जैसे जो मित्र कार्य करै सो वैरी कदाच नहीं करै ॥ २० ॥

ये संति साधवो धन्याश्चतुरंगविभूषणाः ।

विधेयो विनयस्तेषां, मनोवाक्कायकर्मभिः ॥ २१ ॥

अर्थ—जे धन्य साधु पुरुष दर्शन ज्ञान चारित्र तप ये च्यार अंग ही है भूषण जिनके ऐसे हैं तिनका विनय मन वचन कायकरि करना योग्य है ॥ २१ ॥

गुणनामनवधनां तदीयानामनारतम् ।

चितनीयं पटंगोभिरूपवृंहणकारणम् ॥ २२ ॥

अर्थ—तिन साधुनके निर्मल गुणनिका निरंतर बुद्धिवाननिकरि चितवन करना योग्य है कैसा है साधुनके गुणका चितवन धर्म बढावनेका कारण है ॥ २२ ॥

ध्यायतो योगिनां पध्यमपध्यप्रतिषेधनम् ।

मानसो विनयः साधोर्जायते सिद्धिषाधकः ॥ २३ ॥

अर्थ—योगीश्वरनका हितरूप अर अहितका निषेध करनेवाला कार्य ताहि ध्यावता जो पुरुष ता साधुके मोक्षका साधक मानसिक विनय होय है ॥ २३ ॥

यश्चितयति साधूनामनिष्टं दुष्टमानसः ।

सर्वानिष्टस्वनिर्मूढो, जायते स भवे भवे ॥ २४ ॥

अर्थ—जो दुष्ट साधुनका अनिष्ट विचारै है सो मूढ़ सर्व अनिष्टनिकी स्वानि भव भव विषे होय है ॥ २४ ॥

दुर्मगो विकलो मूर्खो, निर्विवेको नपुंसकाः ।

नीचकर्मकरो नीचो, याति दूषण चित्तकः ॥ २५ ॥

अर्थ—यतीनके दूषणका चित्तवन करनेवाला पुरुष है सो दुर्मग होय है विकलांग होय है मूर्ख होय विवेक रहित होय नपुंसक होय नीच कर्मका करनेवाला नीच होय ॥ २५ ॥

विज्ञायेति महाप्राज्ञाः, संयतानामरेषाम् ।

संचितयति नानिष्टं, त्रिविधेन कदाचन ॥ २६ ॥

अर्थ—ऐसे जानकरि महाबुद्धि है ते पापरहित जे मुनिराज तिनका अनिष्ट मन, वचन, कायकरि कदाच न चिन्तवै है ॥ २६ ॥

श्रवणीयमनाक्षेपं, मपर्याप्रतिपादकम् ।

अनवज्ञापारं तथ्यं, मधुरं हृदयंगमम् ॥ २७ ॥

अर्थ—सुनने योग्य सन्देश रहित पूजाका उपजावनेवाला अर अनिदामै तत्पर सत्यार्थ मधुर हृदयको प्यारा ॥ २७ ॥

वचनं वदतः पथ्यं, रागद्वेषाद्यनाविलम् ।

वाचिको विनयः स्वाचि, वचनीय निखर्वकः ॥ २८ ॥

अर्थ—रागद्वेषादि करि मलीन नाही ऐसा हितरूप बोलता जो पुरुष ताके वचन सम्बन्धी दोषनिका दूर करनेवाला वचन सम्बन्धी विनय जानना ॥ २८ ॥

अभ्याख्यानतिरस्कारकारकं गुणदूषकम् ।

न वाच्यं वचनं भक्तेस्तपोधनविनिदकम् ॥ २९ ॥

अर्थ—जातै साधूनके दोष प्रगट होय ऐसा वचन तथा अनादर करनेवाला वचन तथा गुणकादूषक वचन तथा साधूनिका निदकवचन श्रावकनि करि बोलना योग्य नाही ॥ २९ ॥

वंदति दूषणं दीना, ये साधूनामनेनसाम् ।

ते भवन्ति दुराचारा, दूष्या जन्मनि जन्मनि ॥ ३० ॥

अर्थ—जे अज्ञानी पापद्वित साधूनके दूषण कहै हैं ते दुरा-
चारी जन्म जन्म विषे दूषणको भजे हैं ॥ ३० ॥

अनादेयगिरो गह्वाराः, क्लेशिनः शोकिनो जडाः ।

यत्तिनिदापराः सन्ति, जन्मद्वितयदूषिताः ॥ ३१ ॥

अर्थ—जे पुरुष साधूनिकी निन्दामें तत्पर हैं ते इष भवमें अर
परभवमें दूषित होय हैं, नाहीं आदरने योग्य है, वाणी जिनकी
अर निन्दने योग्य अर क्लेश सहित अर शोकवान अर अज्ञानी ऐसे
होय हैं ॥ ३१ ॥

किं चित्रमपरं, तस्माद्यदौदासीन्यचेतसाम् ।

वन्दका वंदितास्तेषां, निन्दकाः सन्ति निदिताः ॥ ३२ ॥

अर्थ—जातें उदासीन है चित्त जिनका एरु साधूनके वंदनेवाले
तोंसंबन करि वंदनीक होय हैं अर निंदक हैं ते निंदक होय हैं, तातें
यामें सिवाय आश्चर्य कहां है, किछु भी नाहीं ॥ ३२ ॥

आग—ऊपरि दाष्टति कहा ताका दृष्टान्त कहै हैं—

यादृशः क्रियते भावः, फलं तत्रास्ति तादृशम् ।

यादृशं चर्च्यते रूपं, तादृशं दृश्यतेऽब्दके ॥ ३३ ॥

अर्थ—जैसा भाव करिए तहां तैसा फल होय है जैसै दर्पणमें
जैसा रूप करिए तैसा ही देखिए है ।

भावार्थ—साधु तौ वीतराग है तिनमें जैसा भक्ति रूप वा द्वेष
रूप परिणाम करं तैसा ही शुभ अशुभ फल पावै । जैसैं दर्पण तौ
निर्मल है वामें जैसा रूप करै तैसा ही दीखै ऐसा जानना ॥ ३३ ॥

प्रतिनां निन्दकं वाक्यं, विबुद्धयेति न शर्वाद ।

मनोवाक्काययोगेन, वक्तव्यं हितमिच्छता ॥ ३४ ॥

अर्थ—या प्रकार साधूनकी निदामें महापाप जान करि हितका

बाँछक जो जीष ताकरि व्रतीनका निंदक मन बचन कायके योगकरि
सदाकाल ही कहना योग्य नहीं ॥ ३४ ॥

अभ्युत्थानासनत्यागप्रणिपातांजुलिक्रिया ।

आयाते संयते कार्या, यात्यनुव्रजनं पुनः ॥ ३५ ॥

अर्थ—संजमी मुनिका आगमन होत सन्तै ठठना आसनका
त्यागना नमस्कार करना अंजुलि क्रिया कहिए हाथ जोड़ना क्रिया
करनी योग्य है, बहुरि संजमीको गमन करते सन्तै पीछे चालना
योग्य है ॥ ३५ ॥

आयातं ये तपोराशि, विलोक्यपि न कुर्वते ।

अभ्युत्थानासनत्यागो, नैभ्यः संत्यधमाः परे ॥ ३६ ॥

अर्थ—जो पुरुष आबता जो तपका समूह मुनि ताहि देख करि
भी उठवैठना अर आसनत्यागना रूप विनय नहीं करै हैं इन्तै सिवाय
और नीच कोऊ नहीं ॥ ३६ ॥

यत्र यत्र विलोक्यंते, संयतायतमानसाः ।

तत्र तत्र प्रणतव्या, विनयोद्यतमानसैः ॥ ३७ ॥

अर्थ—यत्र सहित है मन जिनका ऐसे संयमी मुनि जहां जहां
देखिए तहां तहां विनयमें उद्यमी है मन जिनका ऐसे पुरुषनि करि
नमस्कार करना योग्य है ॥ ३७ ॥

शय्योपवेशनस्थानगमनादीनि सर्वदा ।

विषातव्यानि नीचानि, संयताराधनापरैः ॥ ३८ ॥

अर्थ—संयमीनकी आराधना विषे तत्पर जे पुरुष तिनकरि
सोवनेकी शय्या अर बैठना अर खड़े रहना गमन करना इत्यादिक
सदाकाल नीचे करना योग्य है ।

भावार्थ—जहां महन्त पुरुष विराजे होय ता स्थानतै शय्यादिक

नीचे स्थानपै करना ऊँची जगहपै न करना, ऐसा जानना ॥३८॥

पुण्यवन्तो वयं येषामाज्ञां, यच्छ्रुति योगिनः ।

मन्यमानैरिति प्राज्ञैः, कर्तव्यं यतिभाषितम् ॥ ३९ ॥

अर्थ—हम पुण्यवन्त हैं जिनपै योगीश्वर आज्ञा करै हैं ऐसे मानते जे पंडित तिनकरि यतीनका कहा करना योग्य है ।

भावार्थ—यतीश्वर आज्ञा करै सो सुबुद्धीनको करना योग्य है, अपने मनमें ऐसी मानना जो हम धन्य हैं जिनपै गुरुनकी आज्ञा भई ऐसे आज्ञामें हर्ष करना, ऐसा जानना ॥ ३९ ॥

निष्ठीवनमवष्टंभं, जंभणं गात्रभंजनम् । असत्यभाषणं नर्म, हास्य पादप्रधारणम् ॥ ४० ॥ अभ्याख्यानं करस्फोटं, करेण करताडनम् । विकारमंगसंस्कारं, वर्जयेच्चतिषन्निधौ ॥ ४१ ॥

अर्थ—यतीनके निकट विनयवान इतने कार्य न करै, ते कार्य बतावै हैं—थुंके नाहीं अर सारा लेय प्रमाद सहित न बैठै, जम्भाई न लेय, अंग न तोड़ै, असत्य न बोलै, मजाख रागरूप हास्य वचन न बोलै, पांव न पधरै, लज्जाको कारण गुप्त वात प्रगट करि न कहै, हाथकी चुटकी न बजावै, हाथ करि हाथ न ताड़ै, विकार रूप चेष्टा न करै, अंगको संवारै नाहीं इत्यादि और भी प्रमादरूप आचरण महंत पुरुषनिके निवृत्त करना योग्य नाहीं ॥ ४०-४१ ॥

उच्चस्थानस्थितैः कार्या, वन्दना न तपस्विनः ।

न गति वामतः कृत्वा, विनीतैर्न च पृष्ठतः ॥ ४२ ॥

अर्थ—ऊँचे स्थानपरि तिष्ठतेनकरि तपस्वीनकी वन्दना करनी योग्य नाहीं अर विनयवाननि करि वाई तरफतें गमन करके पाछेंतें वन्दना करनी योग्य नाहीं ।

भावार्थ—मुनिनके दक्षिण तरफतें प्रदक्षिणारूप गमन करके

वन्दना करनी, वाई तरफतें जायकरि पाछैतें वन्दना न करनी ॥४२॥

त्रिषेति विनयोऽध्यक्षः, करणीयो मनीषिभिः ।

परोक्षेऽपि स साधूनामाज्ञाकरण लक्षणः ॥ ४३ ॥

अर्थ—ऐसैं मन वचन काय करि तीन प्रकार प्रत्यक्ष विनय करना योग्य है अर मुनिनकों परोक्ष होतें तिनकी आज्ञा करना है लक्षण जाका ऐसा परोक्ष विनय करना योग्य है ॥ ४३ ॥

संघे चतुर्विधे भक्त्या, रत्नत्रितयराजिते ।

विधातव्यो यथायोग्यं, विनयो नयकोविदैः ॥ ४४ ॥

अर्थ—नीति विषैं चतुर जे पुरुष तिनकरि रत्नत्रयकरि शोभित जो मुनि आर्थिका श्रावक श्राविका ऐसा ब्यार प्रकार संघ ता विषैं यथायोग्य विनय करना योग्य है ॥ ४४ ॥

विनयेन विहीनस्य, व्रतशीलपुरःसराः ।

निष्फलाः संति निःशेषा, गुणा गुणवतां मताः ॥ ४५ ॥

अर्थ—विनय करि हीन जो पुरुष ताके व्रत शील आदि समस्त गुण हैं ते निष्फल गुणवाननिके कहैं हैं ॥ ४५ ॥

विनश्यति समस्तानि, व्रतानि विनयं विना ।

सरोरुहाणि तिष्ठति, सलिलेन विना कुतः ॥ ४६ ॥

अर्थ—सर्व व्रत हैं ते विनय विना नाशकों प्राप्त होय हैं । जैसे जल विना कमल हैं ते कहां तिष्ठैं, अपि तु नाहीं तिष्ठैं है तैसें जानना ॥ ४६ ॥

निवृत्तिस्तरसाऽवश्या, विनयेन विधीयते ।

आत्मनीनसुखाधारा, सौभाग्येनेव कामिनी ॥ ४७ ॥

अर्थ—विनय करि आत्माका हितरूप सुखकी आधारभूत जो मुक्ति अवस्था सो वेग करि कीजिए है । जैसे सौभाग्य पने करि स्त्री वश कीजिए तैसें विनय करि मुक्ति वश होय है ॥ ४७ ॥

सम्यग्दर्शनचारित्रतपोज्ञानानि देहिना ।

अवाप्यंते विनीतेन, यशासीव विपश्चिता ॥ ४८ ॥

अर्थ—जैसे पंडितजन करि यश पाईए है तैसे विनयवान पुरुष करि सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र तप ये पाईए है ॥ ४८ ॥

तस्य कल्पद्रुमो भृत्यस्तस्य चिंतामणिः करे ।

तस्य सन्निहितो यक्षो, विनयो यस्य निर्मलः ॥ ४९ ॥

अर्थ—जा पुरुषके निर्मल विनय है ताका कल्पवृक्ष किंकर है अर ताके हाथ विषे चिंतामणि है अर यक्ष ताके निकटवर्ती है ।

भावार्थ—विनयते शुभ परिणामके वशते पुण्यबंध होय है ताके उदयते सर्व कल्पवृक्षादि पदार्थ सुखदाई होय परिणमे है ॥ ४९ ॥

आराध्यंतेऽखिला येन, त्रिदशाः सपुरंदराः ।

संघस्याराधने तस्य, विनीतस्यास्ति कः श्रमः ॥ ५० ॥

अर्थ—इंद्रनिषिद्धि ब्रह्मस्त देव जा विनयवान करि आराधिए है ताके संघके आराधन विषे कहां श्रम है ।

भावार्थ—जा विनयभावना करि इंद्रादिक देव चरननकी सेवा करै है ऐसा संघका विनय करवेमैं कहां खेद है, लाभ ही है ॥ ५० ॥

क्रोधमानादयो दोषाश्छिद्यंते येन वैरदाः ।

न वैरिणो विनीतस्य तस्य संति कथंचन ॥ ५१ ॥

अर्थ—जा विनयवान करि वैरभावके देनेवाले ऐसे जे क्रोध-मानादिक परिणाम ते नाश कीजिए है ताके कोई प्रकार भी वैरी न होय है ।

भावार्थ—विनयवानते कोई वैर राखै नहीं ॥ ५१ ॥

कालत्रयेऽपि ये लोके विद्यंते परमेष्ठिनः ।

ते, विनीतेन निःशेषाः, पूजिता वंदिताः स्तुताः ॥ ५२ ॥

अर्थ—लोकमें भूत भविष्यत् वर्तमान ऐसों तीनों काल विषे भी जे अहंतादि परमेष्ठी विद्यमान हैं ते समस्त विनयवान पुरुष करि पूजे अर वंदे अर वचन करि गोचर क्रिये ।

भाषार्थ—जाके विनय है ताके समस्त परमेष्ठीनको भक्ति है ॥ ५२ ॥

गवों निखर्व्यते तेन, जन्यते गुरुगौरवम् ।

आर्जवं दर्श्यते स्वस्य, प्रश्रयं वितनोति यः ॥ ५३ ॥

अर्थ—जां पुरुष विनयको विस्तार है ता पुरुष करि आपका मानकषाय नाश कीजिए है अर गुरुनका मान उपजाइए है अर सरलभाव प्रवर्त्ताइए है ॥ ५३ ॥

विनीतस्यामला कीर्तिर्वभ्रमीति महीतले ।

सुखयंतीजनं सेव्या, कांतिः शीतरुचेरिव ॥ ५४ ॥

अर्थ—विनयवान पुरुषकी निमल कांति पृथ्वीतल विषे अतिशय करि भ्रमें है, सर्व जगतमें फैलै है, कैसी है कीर्ति लोकको सुख उपजावती है अर चन्द्रमाकी कांति समान निर्मल है ॥ ५४ ॥

विनयः कारणं मुक्तेर्विनयः कारणं श्रियः ।

विनयः कारणं प्रातेर्विनयः कारणं मतेः ॥ ५२ ॥

अर्थ—विनय है सो मुक्तिका कारण है अर विनय है सो लक्ष्मीका कारण है अर विनय है सो प्रीतिका कारण है अर विनय है सो बुद्धिका कारण है ॥ ५५ ॥

विनयेन विना पुंसो, न संति गुणसंपदः ।

न बीजेन विना कापि, जायंते सस्यजातयः ॥ ५६ ॥

अर्थ—जैसै बीज विना कहुँ भी धान्यकी जाति नाहीं उपजै है तैसैं विनय विना गुणरूप संपदा न होय है ॥ ५६ ॥

प्रश्रयेण विना लक्ष्मीं, यः प्रार्थयति दुर्मनाः ।

स मूल्येन विनानूनं, रत्नं स्वीकर्तुमिच्छति ॥ ५७ ॥

अर्थ—जो दुष्टचित्त पुरुष विनय विना लक्ष्मीकोँ बाँछै है सो पुरुष निश्चय करि मोल विना रत्नकोँ अंगीकार करनेकोँ इच्छै है । ५७ ॥

का संपदविनीतस्य, का मैत्री चलचेतसः ।

का तपस्या विशीलस्य, का कीर्तिः कोपवर्तिनः ॥ ५८ ॥

अर्थ—विनयरहित पुरुषकी संपत्ति कहां, अर चलायमान है चित्त जाका ऐसे पुरुषकी मित्रता कहां, अर शीलरहित पुरुषकी तपस्या कहां अर क्रोधी पुरुषकी कीर्ति कहां ॥ ५८ ॥

न शठस्येह यस्यास्ति, तस्यामुरु कथं सुखम् ।

न कच्छे कर्कटीयस्य, गृहे तस्य कुतस्तनी ॥ ५९ ॥

अर्थ—जा पुरुषके इस लोकमें संतोषरूप सुख नहीं ताके परलोकमें सुख कैसे होय । जैसे जाकी वाड़ीमें ककड़ी नहीं ताके घरमें काहेकी होय, अपितु नहीं होय ॥ ५९ ॥

लाभालाभौ विबुद्धयेति, भो विनीताविनीतयोः ।

विनीतेन सदा भाव्यं, विमुच्याविनयं त्रिधा ॥ ६० ॥

अर्थ—या प्रकार विनयवानके अर विनयरहितके लाभ अलाभ जानि करि भो शिष्य ! मन वचन कायते अविनयकोँ त्यागके विनय-रहित होना योग्य है ॥ ६० ॥

ऐसे विनयका वर्णन किया । आगे-वैयावृत्यका वर्णन करै हैं:—

कृतांतैरिव दुर्वारैः, पीडितानां परीषहैः ।

वैयावृत्यं विधातव्यं, मुमुक्षूणां विमुक्तये ॥ ६१ ॥

अर्थ—काल समान दुःखते निवारण जिनका ऐसे जे रोगादि परिषह तिनकरि पीडित जे मोक्षके अभिलाषी आचार्य आदि तिनका वैयावृत्य कहिए टहल चाकरी करन योग्य है, काहेके अर्थ—मुक्तिके अर्थ ।

भाषार्थ—लौकिक कार्यकी वांछा रहित मुक्तिहीके अर्थि
वैयावृत्य करना ॥ ६१ ॥

दुर्भिक्षे मरके रोगे, चौरराजाद्युपद्रुते ।

कर्मक्षयाय कर्त्तव्या, व्यावृत्तिर्ब्रतवर्तिनाम् ॥ ६२ ॥

अर्थ—दुर्भिक्ष विषे अर मरी विषे अर रोगविषे अर चौर राजा-
दिकर्ते उपसर्ग विषे करनिके नाशके अर्थि ब्रतीनकी टहल चाकरी
करनी योग्य है ॥ ६२ ॥

आचार्येऽध्यापके वृद्धे, गक्षरक्षे प्रवर्त्तके । शैक्ष्ये तपोधने संघे,
गणे ग्लाने दशस्वपि ॥ ६३ ॥ प्रासुकैरौषधैर्योग्यैर्मनसा वपुषा गिरा ।
विधेया व्यावृत्तिः, सद्भिर्भवभ्रातिजिहासुभिः ॥ ६४ ॥

अर्थ—जाते ब्रतनिका आचरण करिए सो आचार्य कहिए, बडुरि
जाके निकट शास्त्राध्ययन करिए सो उपाध्याय कहिए, बहुत कालके
दीक्षित होय सो वृद्ध कहिए, अर गणकी रक्षा करै सो गणरक्ष
कहिए अर संघकों प्रवर्त्तावं सो प्रवर्त्तक कहिए, अर शास्त्रके सीखनेमें
तत्पर होय सो शैक्ष्य कहिए अर महोपवासादिके करनेवाळे तपस्वी
कहिए, अर ब्यार प्रकार मुनिनका समूहकों संघ कहिए, अर बडे
मुनिकी संतानकों गण कहिए, अर रांगादिक करि क्लेशरूप शरीर
जाका होय सो ग्लान कहिए, ऐसे दश प्रकार मुनिविषे सत्पुरुषनि
करि योग्य कहिए, ब्रतीनके लेने योग्य प्रासुक औषधनि करि तथा
मन, वचन, काय करि टहल चाकरी करनी योग्य है कैसे हैं वैयावृत्य
करनेवाळे पुरुष संसारभ्रमणके त्याग करनेके वांछक हैं ॥ ६३-६४

तपोभिर्दुष्करै रोगैः, पीड्यमानं तपोधनम् ।

यो दृष्ट्वापेक्षते शक्तो, निषर्मा न ततः परः ॥ ६५ ॥

अर्थ—दुःखकरि करे जाय ऐसे तपानि करि रोगनिकरि पीडित

जो साधु ताहि देखकर जो शक्तिप्रहित पुरुष उपेक्षत कहिए किछु
इलाज न करै है देखता है रहि जाय है ता सिवाय और अधर्मा
नाहीं ॥ ६५ ॥

गृहस्थोऽपि यतिर्ज्ञेयो, वैद्यावृत्यपरायणः ।

वैयावृत्यविनिर्मुक्तो, न गृहस्थो न संयतः ॥ ६६ ॥

अर्थ—जो वैद्यावृत्य विषे तत्पर है सो गृहस्थ भी यति समान
जानना। बहुरि वैद्यावृत्यकरि रहित है सो न गृहस्थ है न मुनि है ॥ ६६
वैयावृत्यपरः प्राणी, पूज्यते संयतैरपि ।

लभते न कृतः पूजामुपकारपरायणः ॥ ६७ ॥

अर्थ—वैयावृत्यविषे तत्पर जीव है सो संयमीन करि भी पूजिए
है, जाते उपकार विषे परायण जे पुरुष ते किछते पूजा न पावें
सर्व हीते पावें ॥ ६७ ॥

संयमो दर्शनं ज्ञानं, स्वाध्यायो विनयो नयः ।

सर्वेऽपि तेन दीयन्ते, वैद्यावृत्यं तनोति यः ॥ ६८ ॥

अर्थ—जो पुरुष वैद्यावृत्यको विस्तारै है ताकरि संयम सम्यग्दर्शन
ज्ञान, स्वाध्याय, विनय, नीति ये सर्वही दीजिए है ।

भावार्थ—वैयावृत्य करनेते व्रती स्वस्थ होय तब संयमादि
निर्विघ्न सबै, ताते जो व्रतीनकी टहल चाकरि करै ताकरि संयमादिक
सर्व दिये कहिए ॥ ६८ ॥

निवृत्तिर्दीयते येन, तेन धर्मो विधाप्यते ।

आगमोऽध्याप्यते तेन, क्रियते तेन वा न किम् ॥ ६९ ॥

अर्थ—जा पुरुषकरि धर्मात्म जीवनिर्को सुख दीजिए है ताकरि
धर्म कराइए है अर आगम पढ़ाइए है अथवा ताकरि कहा उत्तम कार्य
न कीजिए है सर्व ही कीजिए है ।

भावार्थ—धर्मात्मा निराकुल होय तत्र धर्मसाधन करै शस्त्रा-
ध्यापन करै और भी धर्मकार्य करै जातें जो धर्मात्माको निराकुल करै
ताकरि धर्मादिक सर्व उत्तम कार्य किए कहिए ॥ ६९ ॥

समाधीर्विहितस्तेन, जिनाज्ञा तेन पालिता ।

धर्मो विस्तारितस्तेन, तीर्थ तेन प्रवर्तितम् ॥ ७० ॥

अर्थ—जो वैयावृत्य करै है तातें समाधि जो शुभ ध्यान सो
किया अर जिनराजकी आज्ञा पाली अर तातें धर्म विस्तारया अर तीर्थ
जो रत्नत्रय सो प्रवर्तया ॥ ७० ॥

दुष्प्रापं तीर्थकर्तृत्वं, त्रंलोक्यक्षोभणक्षमम् ।

प्राप्यते व्यावृतेर्यस्या, तस्याः किं न परं फलम् । ७१ ॥

अर्थ—तीन लोकको क्षोभ उपजावने विषै समर्थ जाके प्रभावतें
इन्द्रादिकनिके आसन कम्पनादि क्षोभ उपजै ऐसा तीर्थकरणना जा
वैयावृत्य भावनाका फल पाइए तथा और फल कहां न पाइए; सर्व
ही पाइए ॥ ७१ ॥

परस्याप ह्यने दुःखं, मदा येनोपकुर्वता ।

संपद्यते कथं तभ्य. क्व कार्यं कारणं विना ॥ ७२ ॥

अर्थ—जिअपर उपकार करनेवाले पुरुष करि परका दुःख दूर
कीजिए है ताकै दुःख कैसें हांय, जातें कारण विना कार्य कैसें होय?

भावार्थ—दुःखका कारण अशुभ भाव है सो परोपकारीकै
अशुभ भाव नारि तत्र आप दुःखी कैसें होय, ऐसा जानना ॥७२॥

सेव्यो दीर्घायुगदेयो, नीरोगो निरुपद्रवः ।

वदान्यः सुन्दरो दक्षो, जायते च प्रियंवदः ॥ ७३ ॥

अर्थ—जो वैयावृत्य करनेवाला सेवने योग्य होय है, दीर्घायु
होय है, आदर करने योग्य होय है, उपद्रव रहित होय है सुन्दर अर
प्रवीण अर प्रियवादी होय है ॥ ७३ ॥

स धार्मिकः स सदृष्टिः, स विवेकी स कोविदः ।

स तपस्वी स चारित्र्य, व्यावृत्ति विदधाति यः ॥ ७४ ॥

अर्थ—जो वैयावृत्य करै है सो धर्मात्मा होय है, सो सम्यग्दृष्टि है सो विवेकी है सो पंडित है सो तपस्वी है सो चारित्रवान है ।

भावार्थ—वैयावृत्य होत सन्तै सर्व धर्मके अंग होय हैं जातैं वैयावृत्य नामा तप सब तपनिका सारभूत कहा है ॥ ७४ ॥

ऐसै वैयावृत्य तपका वर्णन किया । आगै-प्रायश्चित्त नामा तपका वर्णन करै है—

आश्रित्य भक्तिः सूरिं, रत्नत्रितयभूषितम् ।

प्रायश्चित्तं विघातव्यं, गृहीत्वा व्रतशुद्धये ॥ ७५ ॥

अर्थ—दर्शन ज्ञानचारित्र्य रूपी रत्नमय करि भूषित ऐसा जो आचार्य ता प्रति भक्तितै प्राप्त होय करि व्रतनिकी शुद्धताके अर्थ प्रायश्चित्त ग्रहण करि आचरण करना योग्य है ॥ ७५ ॥

न सदोषः क्षमः कर्तुं, दोषाणां व्यपनोदनम् ।

कर्दमाक्तं कथं वासः, कर्दमेन विशोधयते ॥ ७६ ॥

अर्थ—सदोष पुरुष है सो दोष दूर करनेको समर्थ नाहीं, जैसे कीच करि लिपट्या बख कीचकरि कैस सोधिये ।

भावार्थ—निदोष गुरु ही दोष दूर करके शुद्ध करै है, सदोष गुरुतै दोष दूर होय नाहीं ॥ ७६ ॥

दोषमालोचित्तं ज्ञानी, सूरिरीशो व्यपोहितम् ।

अज्ञानेन न वेद्येन, व्याधिः कापि चिकित्स्यते ॥ ७७ ॥

अर्थ—आलोचित्त कहिए शिष्यनै कहा जो दोष ताहि ज्ञानवान् आचार्य दूर करनेको समर्थ है, जातैं अज्ञानी वैद्य करि रोगका इलाज कहुँ न कीजिए है, रोगका ज्ञाता होयगा सो इलाज करैगा ॥ ७७ ॥

आलोच्यर्जुस्वभावेन, ज्ञानिने संयतात्मने ।

तदीयवाक्यतः कार्यं, प्रायश्चित्तं मनीषिणा ॥ ७८ ॥

अर्थ—संयम सहित है आत्मा जाका ऐषा ज्ञानवान जो आचार्य ताके अर्थ सरल स्वभावतै अपने दोषनिकों कहकै तिष आचार्यके वचनतै बुद्धिवान करि प्रायश्चित्त करना योग्य है ॥ ७८ ॥

प्रांजलीभूय कर्तव्यः, सूरे रालोचनस्त्रिषा ।

विपाके दुःखदं कार्यं, वक्रभावेन निर्मितम् ॥ ७९ ॥

अर्थ—आचार्यसै मन वचन काय करि सरल होयके आलोचना करनी योग्य है । जातै कुटिलभाव करि किया कार्य है सो विपाकमें दुःखदाई है ।

भावार्थ—अपने दोषनिकों गुरूनतै कहना ताका नाम आलोचना है अर तीनों योगनिकी सरलतातै करना । कुटिलतातै करै तौ उलटा दुःखदाई होय ॥ ७९ ॥

फलाय जायते पुंसो, न चारित्रमशोधितम् ।

मलप्रस्तानि शस्यानि, कीदृशं कुर्यते फलम् ॥ ८० ॥

अर्थ—विना सोध्या चारित्र है सो पुरुषके फलके अर्थ न होय है जैसे मल जो कूडा ताकरि प्रसे जे अस्य धान्य ते कैसे फल निपजावै, अपि तु नाही उपजावै ॥ ८० ॥

ऐसै प्रायश्चित्तका वर्णन किया, आर्गै—स्वाध्याय नामा तपका वर्णन करै है—

वाचना पृच्छनाऽऽभ्यासानुप्रेक्षा धर्मदेशना ।

स्वाध्यायः पंचधा कृत्यः, पंचमी गतिमिच्छता ॥ ८१ ॥

अर्थ—पंचमी गति जो भिन्न अवस्था ताहि इच्छता जो पुरुष ता करि पांच प्रकार स्वाध्याय करना योग्य है, स्वयं कहिए आत्माके

अध्यायरूप जो पढ़ना अथवा सु कहिए भलेप्रकार शास्त्रका अधयन कहिए वाचनादिक करना सो स्वाध्याय है, सो पांच प्रकार है— तहां निर्दोष ग्रंथ अर्थ उभय इनिका जो भव्य जीवनिकौ देना सिखावना सो तौ वाचना है, बहुरि संशयके दूर करनेकौ निर्वाचनिश्चयके पुष्ट करनेकौ ग्रंथ अर्थ उभयका प्रश्न करना सो प्रच्छना है । जो आपकी उच्चताके अर्थ पावौं ठगनेके अर्थ नीचा पाड़नेके अर्थ परकी हास्य करनेकौ इत्यादि खंटे खंटे आशयतैं पूछै सो प्रच्छनातप नाही । बहुरि जिस पदार्थ स्वरूप जान्या ताका मनकै विषै बारंबार चिंतवन करना सो अनुप्रेक्षा है । बहुरि पाठकौ शुद्ध धोकना सो आम्नाय है । बहुरि धर्मकथा आदिका अंगीकार उपदेश देना सो धर्मोपदेश है; ऐसैं पंच प्रकार जानना ॥ ८१ ॥

तपोऽनुरानंतरभेदभिन्न, तपोविधौ किंचन पापहारि ।

स्वाध्यायतुल्यं न विलोक्यतेऽन्यत्, ह्यपीकदोषप्रशमप्रवीणम् ॥ ८२ ॥

अर्थ—अंतरंग अर बहिरंग भेद करि भिन्न जो बारह प्रकार तपका विधान ता विषै स्वाध्याय समान पापकौ हरनेवाला और तप न देखिए है, कैसा है स्वाध्यायनामा तप इंद्रियनिका दोष जा इष्टानिष्ठ विषयनिर्मे रागद्वेष करना ताके उपसमावनेमें प्रवीण है ॥ ८२ ॥

स्वाध्यायमत्यस्य चलस्वभावं, न मानसं यंत्रपितुं समर्थः ।

शक्तं ति नान्मूलयितुं प्रवृद्धं, तमः परो भास्करमंतरेण ॥ ८३ ॥

अर्थ—चंचल है स्वभाव जाका ऐसा जो मन ताके रोकनेकौ स्वाध्याय विना और समर्थ नाही, जैसे वृद्धिकौ प्राप्त भया जो अन्वकार ताके नाशकौ सूर्य विना और समर्थ नाही तैसैं ॥ ८३ ॥

यः स्वाध्यायः पापहानि विषत्ते, कृत्वेकाग्रं नोपवासः क्षमस्ताम् ।

शक्तः कर्तुं संवृतानां न काय, लोके दृष्टोऽसंवृतौ दुष्टचेष्टः ॥ ८४ ॥

अर्थ—स्वाध्याय नामा तप एकाग्रपना करि जो पापकी हानि करै है ता पापकी हानिके करनेको केवल उपवास समर्थ नाहीं, लोक विषै मत्वर रहित अर दुष्ट है चेष्टा जाकी ऐसा पुरुष संवरमहित जीवनिके करने योग्य जो कार्य है ताहि करनेको समर्थ नाहीं ।

भावार्थ—स्वाध्याय विषै संवर होय है तातें कर्मकी निर्जरा होय है अर स्वाध्याय विना केवल उपवास ही करै सो संवर रहित दुष्ट चेष्टा विषै पवतें ताके पापकी निर्जरा होय नाहीं ॥ ८४ ॥

विज्ञातनिः शेष पदार्थजातः, क्रमांस्तत्रद्वारपिधानकारी ।

भूत्वा विधत्ते स्वपरोपकारं, स्वाध्यायवर्त्ती बुधपूजनीयः ॥ ८५ ॥

अर्थ—स्वाध्याय विषै प्रवर्तनेवाला पुरुष है सो जाने हैं श्रुत-ज्ञानके बलतें सकल पदार्थ जानें अर आश्रव आवनेके द्वार जे मिथ्या-त्वादिक तिनका रोकनेवाला ऐसा होय करि आपका वा परका उपकार करै है कैसा है स्वाध्याय करनेवाला पुरुष पंडितनि करि पूजने योग्य है ॥ ८५ ॥

यदबुद्धतत्त्वो विधुनोति सद्यो, विध्वंसिताशेषदृषीकदोषः ।

तपोविधानैर्भवकोटिलक्षैर्नूनं तदज्ञो न धुनोति कर्म ॥ ८६ ॥

अर्थ—जान्या है वस्तुका स्वरूप जानै अर नाश किये हैं समस्त इंद्रियनिके दोष जानें ऐसा पुरुष है सो जा कर्मको निर्जरा करै है ता कर्मको अज्ञानी अनेक जन्मनिकरि तपके आचरण करि भी निश्चय करि नाहीं निर्जरावै है ।

भावार्थ—निर्जरा होय है सो श्रुत ज्ञानके अभ्यासतें भई जो विशुद्धता तातें होय है, केवल कायकेशतें विशेष निर्जरा होय नाहीं तातें ज्ञानाभ्यास ही मुख्य है ऐसा जानना ॥ ८६ ॥

निरस्तसर्वाक्षकषायवृत्तिर्विधीयते येन शरीरिर्बर्गः ।

प्रकृदजन्माकुरञ्चोषपूषा, स्वाध्यायतोऽन्योऽस्ति ततो न योगः ॥ ८७ ॥

अर्थ—जा स्वाध्याय करि नष्ट भई है सर्व इंद्रिय अर कषायरूप परिणति जाकी ऐसा जीवनिका समूह कीजिए है ।

भावार्थ—विषय कषायरहित जीव कीजिए है ताते स्वाध्यायते न्यारा योग कष्टिए ध्यान नाहीं ।

भावार्थ—श्रुतके अभ्यास हीते ध्यान होय है ज्ञान विना ध्यान नाहीं, कैसा है स्वाध्यायतप विस्तारकों प्राप्त भया जो संसाररूप अंकुर ताके सोषनेकों सूर्य समान है ॥ ८७ ॥

गुणाः पवित्राः शमसंयमाद्या, विवोषहीनाः क्षणतश्चलन्ति ।

कालं कियंतं दलपुष्पपूर्णास्तिष्ठन्ति वृक्षाः क्षतमूलबंधाः ॥ ८८ ॥

अर्थ—कषायनिकी मंदतारूप शमभाव अर संयमभाव इत्यादिक जे पवित्र गुण हैं ते ज्ञानरहित क्षणमात्रमें चलायमान होय हैं जैमें पत्र अर पुष्पनिकरि भरे ऐसे वृक्ष हैं ते नष्ट भया है जड़का बंधान जिनका ऐसे कितने काल तिष्ठै है किछु भी न तिष्ठै है ।

भावार्थ—सब गुणनिका मूल ज्ञान है सो ज्ञान विना और गुण होय नाहीं, ऐसा जानना ॥ ८८ ॥

जानात्मकृत्यं न जनो न कृत्यं, जैनेश्वरं वाक्यमबुद्ध्यमानः ।

करोत्यकृत्यं विजहाति कृत्यं, ततस्ततो गच्छति दुःखमुग्रम् ॥ ८९ ॥

अर्थ—जिनराजके बचनकों न जानता जो जीव है सो न करने योग्यकों वा करने योग्यकों न जानै है ताते अकार्य जो हिंसादिक ताहि करै है अर कार्य जो वैराग्यादिक ताहि तजै है ताते तीव्र दुःखकों प्राप्त होय है ॥ ८९ ॥

अनात्मनीं परिहर्तुकामा, प्रहीतुकामाः पुनदात्मनीनम् ।

पठन्ति शश्वजिननाथवाक्यं, समस्तकल्याणविधायि संतः ॥ ९० ॥

अर्थ—संत पुरुष हैं ते निरन्तर जिनराजके बचनकों पढ़ें हैं ।

कैसा है जिनवचन समस्त कल्याण करनेवाला है कैसे हैं जिनवचनके पढ़नेवाले पुरुष आत्माके हितरूप नहीं ऐसे मिथ्यात्वादिक भाव तिनके दूर करनेके बाँछक है । बहुरि आपके अर्थि हित जे सम्यक्तादि भाव तिनके ग्रहण करनेके बाँछक हैं ॥ ९० ॥

सुखाय ये सूत्रमपास्य जैनं, मूढाः श्रयन्ते वचनं परेषाम् ।

तापच्छिदे ते परिमुच्य तोयं, भजन्ति कल्पक्षयकालवह्निम् ॥ ९१ ॥

अर्थ—जे मूढ़ जिनराजके वचनको त्यागके सुखके अर्थि अन्य मिथ्यादृष्टिनिके वचन सेवै है ते ताप दूर करनेके अर्थि जलको छोड़के प्रलयकालके अग्निको सेवै है ॥ ९१ ॥

विहाय वाक्यं जिनचन्द्रदृष्टं, परं न पीयूषमिहास्ति किञ्चित् ।

मिथ्यादृशां वाक्यमपास्य नूनं, पश्यामि नो किञ्चन कालकूटम् ॥ ९२ ॥

अर्थ—इस लोक विषे जिनराज करि बह्या जो वचन ता सिवाय और अमृत नहीं अर मिथ्यादृष्टिनिके वचन बिना और कालकूट विषमें निश्चय करि किल्लु नहीं देखूँ हूँ ॥ ९२ ॥

विधीयते येन समस्तमिष्टं, कल्पद्रुमेणेव महाफलेन ।

आवर्ज्यतां विश्वजनीनवृत्ति, मुक्त्वा परं कमं जिनागमोऽसौ ॥ ९३ ॥

अर्थ—जा करि महाफल सहित कल्पवृक्षकी ज्यों सर्व मनो-बाँछित कीजिए ऐसा यहू जिनागम सर्व लोकके हितरूप परिणति सिवाय और कार्यका वर्जन करहु ।

भावार्थ—जिन वचनके अभ्यासते हमारे लौकिक कार्यकी बाँछा मत होउ, स्वपरके उपकाररूप परिणति होउ ॥ ९३ ॥

ऐसे स्वाध्याय नामा तपका वर्णन किया—

परेऽपि ये संति तपोविशेषा, जिनेन्द्रचंद्रोदितसूत्रदृष्टाः ।

: स्वशक्तितस्ते मिखिला विधेयाः, विधानतः कर्मनिकर्तनाय ॥ ९४ ॥

अर्थ—स्वाध्याय पर्यंत तप तौ पहले कहे अर ध्यान तप आगें कहेंगे । बहुरि और भी जे तपके भेद सिद्धानिःक्रीडितादि जिन-भाषित सूत्रनें दिखाए ते अपनी शक्तिपारू समस्त विधानपूर्वक कर्मनकी निर्जगके अर्थ करना योग्य है ॥ ९४ ॥

सौख्यं स्वस्थं दीयते येन नित्यं, रागावेशश्छिद्यते येन एषः ।

येनानन्दो जन्यते याचनीयस्तं सन्तोषं कुर्वते के न भव्याः ॥९५॥

अर्थ—जाकरि निराकुल सुख नित्य दीजिए है अर रागका उदय शीघ्र ये दिए है अर जाकरि बाँछनेयोग्य मुक्तिपदको आनंद उपजाइए है ऐसा जो सन्तोष सौ कौन भव्य न करै, सर्व ही करे ।

भावार्थ—सब तपनिमें तपका मुख्य लक्षण इच्छा निरोध है इच्छा निरोध अर संतोष एक ही ताने संतोष सब तपनिमें प्रधान है सो ही परम तप है, ऐसा जानना ॥ ९५ ॥

नेष्टं दातुं कोऽप्युपायः समर्थः, सौख्यं नृणामस्ति संतोषतोऽन्यः ।

अंभोजानां कः प्रबोधं विधातु, शक्तो हित्वा मानुमंतं हि दृष्टः ॥९६॥

अर्थ—मनुष्यनिकौ बाँछित सुख देनेकौ सन्तोष सिवाय और कोई भी उपाय नाहीं । जैसे लोकमें कमलनिके प्रफुल्लित करनेकौ सूर्य सिवाय और कोई समर्थ न देख्या तैसें सन्तोष विना सुख नाहीं ॥९६॥

विमुच्य सन्तोषमपास्तबुद्धिः, सुखाय यः कांक्षति कंचनान्यम् ।

दारिद्र्य हानाय च कल्पवृक्षं, निरस्य गृह्णाति विषद्रुमं हि ॥९७॥

अर्थ—जो अज्ञानी सुखके अर्थ संतोषकौ त्यागकै अन्य काम-भोगादिककौ इच्छे है सो दारिद्र्यके नाशके अर्थ संतोषकौ त्यागकै विषवृक्षकौ ग्रहण करै है ॥ ९७ ॥

क्रोधलोभमदमत्परशोका, वर्मेहानिपटवः परिहार्याः ।

व्याधयो न सुखवातपटिष्ठाः, पोषयंति कृतिनः सुखकांक्षाः ॥९८॥

अर्थ—क्रोध, लोभ, मान, मत्सर, शोक इत्यादिक धर्मकी हानि करनेमें प्रवीण जे भाव ते त्यागने योग्य हैं जतौ सुखके बाँझक जे भाग्यवान पुरुष हैं ते सुखके नाश करनेमें प्रवीण जे रोग तिनहि पुष्ट न करै है ।

भावार्थ—क्रोधादिभाव हैं ते आकुलतामय है तातै सुखके घातक हैं ते त्यागने योग्य है अर सन्तोष है सो सुखमय है सो ही सुखार्थीनि करि सेवने योग्य है ॥ ९८ ॥

सत्त्वेषु मैत्री गुणेषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम् ।

माध्यस्थ्यभावो विपरीतदृष्टौ, सदा विधेया विदुषा शिवाय ॥ ९९ ॥

अर्थ—एकेंद्रियादि सर्व जीवनि विषै मंत्रीभाव कहिए कोई भी जीव दुःखी मत होऊ ऐसी भावना, बहुरि सभ्यदर्शनादि गुणसहित पुरुषनि विषै अति हर्ष, अर रोगादि क्लेश करि बहिन जीव हैं तिन विषै करुणाभाव, अर विपरीत है श्रद्धा नाकी ऐसे पुरुष विषै माध्यस्थ्यभाव कहिए विपरीत पुरुषको देखके विचारना जो यह उपदेश योग्य नाहीं यापै रागद्वेष कहिकों करना, या प्रकार चार भावना ज्ञानवान करि मोक्षके अर्थ सदा करना योग्य हैं ॥ ९९ ॥

अनश्वरश्रीप्रतिबन्धकेषु, प्रभूतदोषोपचितेषु निःस्पृहम् ।

विरागभावः सुधिया विधेयो, भवांगभोगेषु विनश्वरेषु ॥ १०० ॥

अर्थ—ज्ञानी जीवकरि संसार देह भोगनिविषै सदा वैराग्यभाळ करना योग्य है, कैसे हैं संसार देह भोग बबिनाशी लक्ष्मीके रोकने-वाले हैं बहुरि अनेक दोषनिकरि युक्त हैं, विनाशीक हैं ॥ १०० ॥

श्रावकधर्मं भजति विशिष्टं, योऽनघचित्तोऽमितगति दुष्टम् ।

गच्छति सौख्यं विमलितकण्ठं, च क्षपयित्वा चकलमनिष्टम् ॥ १०१ ॥

अर्थ—जो पुरुष अमितमति कहिए अन्त है, श्रावक जांका ऐव

जो जिनराज तानें दिखाया अथवा अमितगति आचार्यनें दिखाया जो श्रावकका धर्म ताहि सेवै है सो पुरुष सब अनिष्टनिका नाश करकै नाहीं है कष्ट जहां ऐसा सुखरूप जो मोक्ष ताहि प्राप्त होय है, कैसा है धर्म विशिष्ट कहिए अन्य धर्मनिर्ते न्यारा है लक्षण जाका ऐसा है, बहुरि कैसा है सो पुरुष पाप रहित है चित्त जाका ऐसा है ॥१०१॥

सवैया ।

श्रावक धर्म कह्यो जिनराज, यथाविधि ताहि अखंडित धारै ।
सो अतिनिर्मलचित्त सुधी, भवकष्ट, अनिष्टसमूह निवारै ॥
स्वर्गनिके सुख भोगि तथा, नर होय महाव्रत भाव सन्धारै ।
आत्म ध्याय विभाव नसाय, महासुखसागर धाम सिधारै ॥

ऐसैं श्री अमितगति आचार्यविरचित भावकाचारविधैं
त्रयोदशमा परिच्छेद समाप्त भया ।

चतुर्दश परिच्छेद ।

आगैं द्वादश अनुप्रेक्षाका वर्णन करै हैं, तहां प्रथमही अनित्यानु-
प्रेक्षाका स्वरूप कहैं हैं—

यौवनं नगनदी स्पदोपमं, शारदांबुद्विलासजीवितम् ।

स्वप्नलब्धघनविभ्रमं घनं, स्थावरं किमपि नास्ति तत्त्वतः ॥ १ ॥

अर्थ—यौवन तौ पर्वतकी नदीका चलना समान है, निरन्तर
पल्या जाय है। बहुरि जीवना है, सो सरदकालके मेघके विलास समान
है, क्षण मात्रमें विलय जाय है। बहुरि घन है सो स्वप्नमें पाया जो
घन तासमान अटक है, किछु भी निश्चयतैं थिर नाहीं ॥ १ ॥

विप्रहा गदभुजंगमालयाः, संगमा विगमदोषदूषिताः ।

संपदोऽपि विपदाकटाक्षिता, नास्ति किञ्चिदनुपद्रवं स्फुटम् ॥ २ ॥

अर्थ—शरीर तौ रोगरूपी सर्पनिका घर है, अर मिलाप है सो वियोगरूपी दोषनिकरि दूषित है, बहुरि संपदा हैं ते विपदाकरि देखी है (सहित है), प्रगटपने किछु भी वस्तु उपद्रवरहित नाहीं ॥२॥

प्रीतिकीर्त्तिमत्कांति भूतयः, पाकशासनशरासनस्थिराः ।

अध्वनीनपथिसंगसंगमाः, संति मित्रपितृपुत्रबांधवाः ॥ ३ ॥

अर्थ—प्रीति अर कीर्त्ति अर बुद्धि अर कांति अर संपटा ये सर्व इंद्रधनुष समान अथिर हैं । बहुरि मित्र पिता पुत्र बांधव ये सर्व पंथीजननिका मार्गमें संयोग होय तासमान है, सर्व शं प्र ही विद्वुरि जाय हैं ॥ ३ ॥

मोक्षमेकमपहाय कृत्रिमं, नास्ति वस्तु किमपीह शाश्वतम् ।

किंचनापि सहगामी नात्मनो, ज्ञानदर्शनमपास्य पावनम् ॥ ४ ॥

अर्थ—इस लोकमें एक मोक्ष सिवाय अन्य करी भई वस्तु किछु भी नित्य नाहीं । बहुरि निर्मल ज्ञान दर्शन सिवाय और किछु भी आत्माके साथ जानेवाला नाहीं, ज्ञानदर्शन ही सदा संग रहै है और शरीरादिक तौ तहांके तहां ही रहै हैं ॥ ४ ॥

संति ते त्रिभुवने न देहिनो, ते न यांति समवर्त्तिमंदिग्म् ।

शक्रचापस्त्रचिता हि कुत्र ते, ये भजंति न विनाशं वुदाः ॥ ५ ॥

अर्थ—तीन भवन त्रिवै ते शरीरके घारी जीव नाहीं जे यमके अन्दिरकों न जाय—सब ही मरणकों प्राप्त होय हैं । जैसे इंद्रधनुष करि रचे जे बादले ते ऐसे कहां हैं जे नष्ट न होय, सर्व ही नसैं हैं ॥५॥

देहपंचरमपास्य जर्जरं, यत्र तीर्थपतयोऽतिपूजिताः ।

यांति पूर्णसमये शिवास्पदं, तत्र के जगति ज्ञान-गंधराः ॥ ६ ॥

अर्थ—जिष संसार विषै अत्यंत पूजनीक जे तीर्थकर देव ते भी आयुके पूर्णसमय जर्जरे देह पीजराकौं ल्यागकै सिद्धालयकौं पघारे हैं तहां इष जगत विषै और कौन जानेवाले नाहीं, सर्व ही परलोककौं जाय हैं ॥ ६ ॥

ऐसे अनित्यभावना कही । आगै-अशरण भावनाकौं कहैं हैं—

यं करोति पुरतो यमराजा, भक्षणाय भुवने क्षुधितात्मा ।

कानने मृगमित्र द्विपवैरी, तस्य नास्ति शरणं भुवि कोऽपि ॥ ७ ॥

अथ—क्षुवा सहित है आत्मा जाका ऐषा जमराज सो जीवकौं भक्षण करनेके अर्थ आगै करै है ता जीवका लोक विषै कोई भी शरण नाहीं । जैसे वनमें मृगकौं सिंह भक्षण करनेकौं होय तब ताकौं कोई शरण नाहीं तैसे ॥ ७ ॥

अंतकेन यदि विग्रहभाजः, स्वीकृतस्य समपत्स्यत पाता ।

रक्षितः सुखरैरमरिष्यन्नो तदा सुखधूनिकुरंवः ॥ ८ ॥

अर्थ—कालते प्रह्या जो प्राणी ताकी मरणते जो रक्षा होय तो इंद्रादिक देवनिकरि रक्षित जो देवांगनानिका समूह सो न मरता ।

मावार्थ—मरणते रक्षा होय तो इंद्र अपना देवांगनानिकौं न मरने देय ताते मरण होते जीवकै शरण नाहीं ॥ ८ ॥

यं निहंतुममरा न समर्था, हन्यते न च परैः समवर्त्ता ।

यो द्विपैर्न समदैरपि भग्नो, भज्यते हि शशकैर्न च वृक्षः ॥ ९ ॥

अर्थ—जा जमराजके हनिवेकौं देव समर्थ नाहीं सो जीवनि-करि कैसैं हनिए ।

भावार्थ—जो इंद्रादिक देव भी मरणकौं न निवारि सक तो औरनकी कहा कथा । जैसे मतवारे हाथिन करि भी जो वृक्ष भग्न न मया तो सुस्त्रानि करि भङ्ग कैसे कीजिए ॥ ९ ॥

स्यन्दनद्विपदातितुरंगैमंत्रितन्त्रजपपूजनहोमैः ।

शक्यते न खलु रक्षितुमङ्गी, जीवितव्यपगमे प्रियमाणः ॥ १० ॥

अर्थ—रथ हाथी प्यादे घोडेनिकरि तथा मन्त्र तन्त्र जप पूजन होम इन करि आयुके नाश भये जो मरता जीव सो राखनेको समर्थ न हूजिए है ॥ १० ॥

ये धरन्ति धरणीं सह शैलैर्ये क्षिपन्ति सकलं ग्रहचक्रम् ।

ते भवन्ति भुवने न स कश्चिद्यो निहन्ति तरसा यमराजम् ॥ ११ ॥

अर्थ—जे जीव समस्त पर्वतनिघडित पृथ्वीको धरि हैं अर सकल ग्रहचक्रको क्षेपे हैं ऐसे पुरुष तो लोकविधे हैं परन्तु सो कोई पुरुष नाहीं जो वेगकरि यमराजको नाश करे है ॥

यो निहन्ति रभसेन बलिष्ठानिन्द्रचन्द्ररविकेशवरामान् ।

रक्षको भवति कश्चन मृत्युनिघ्नतो भवभृतो न ततःऽत्र ॥ १२ ॥

अर्थ—जो यमराज वेगकरि बलवान जे इन्द्रचन्द्र सूर्य नारायण बलभद्र तिनहि हनै है ताते इम लोकविधे जीवनिका नाश करता जो यम ताते बचावनेवाला कोऊ नाहीं ।

भावार्थ—अन्यमती यमको देव मानै हैं सो मिथ्या है अर आयुका जो पूर्ण भये दोऊ राखनेको समर्थ नाहीं, सम्यक्दर्शनादिक वा अरहंतादिक शरण हैं जाते वस्तुका स्वरूप जाने मरणका भय रहै नाहीं, अर सिद्धपद पावे तहां फेर मरण डोय नाहीं, ताते पर कोऊ शरण नाहीं, आपका आप ही शरण है ॥ १२ ॥

या प्रकार अशरण भावना कही । आग—संसार भावनाको कहै हैं—
चित्रजीवाकुलायां तनूमागिना, कुर्वता चेष्टिनं सर्वदा मोहिना ।

गृह्णता मुञ्चता विप्रदं संभृतौ, नर्तकेनेव रङ्गक्षितौ भ्रम्यते ॥ १३ ॥

अर्थ—इस मोही जीवकरि एकैद्रियादि नाना जीवनिकरि भरी

नृत्य करनेकी भूमिसमान जो यह संसारपरिणति ताविषे नटवाकी ज्यों भ्रमिए है । कैसा है संसारी जीव सदा अनेक चेष्टा करै है अर शरीरको प्रहण करै है अर छोड़ै है ॥ १३ ॥

इवसति रोदिति सीदति खिद्यते, स्वपिति रुष्यति तुष्यति ताम्यति ।

लिखति दीव्यति सीथति नृत्यति, भ्रमति जन्मवने कलिळाकुलः ॥ १४

अर्थ—पापकर्मकरि व्याकुल यह जीव संसारवनविषै भ्रमै है, लठ्ठास लेय है, रोवै है, पडित होय है, खेदखिन्न होय है, सांवे है, रोष करै है, राग करै है, तसायमान होय है, लिखै है, क्रीड़ा करै है, व्यवहार करै है, सीवै है, नृत्य करै है, या प्रकार अनेक चेष्टा करै है ॥ १४ ॥

जनकस्तनयस्तनयो जनको, जननी गृहिणी गृहिणी जननी ।

भगिनी दुहिता दुहिता भगिनी, भवतांति बतांगिगणो बहुशः ॥ १५ ॥

अर्थ—पिता पुत्र होय है पुत्र पिता होय है माता ब्या होय है स्त्री माता होय है बहन पुत्री होय है पुत्री बहन होय है सो बड़े खेदकी बात है । यह जीव पूर्वोक्त प्रकार अनेकवार भ्रमै है ॥ १५ ॥

कलिजालवशः स्वयमात्मनो, भवति यत्र सुतौ निजमातरि ।

किमपरं बत तत्र निगद्यते, विविषदुःखस्वनौ जननार्णवि ॥ १६ ॥

अर्थ—जा संसार समुद्र विष पापके समूह करि वश भया सन्ता जीव आप आपका पुत्र अपनी माताके गर्भ विषै होय बड़े खेदकी बात है, ता संसार विषै ओर ओर व्यवस्था कहा कहिए, कैसा है भवसमुद्र, नाना दुःखनिके उपजायवेकी खानि है ॥ १६ ॥

किमपि धेतिं शिशुर्न हिताहितं, विरहदुःखमुपैति युवा पर

विकलतां भजते स्थविस्तारां, भवति शर्म कदा बत संसृतौ ॥ १७ ॥

अर्थ—अहो संसार विषै सुख कब होय है । बालक तौ विच्छ

हिताहितकों न जाने है, बहुरि जबान तीव्र कामके दुःखकों प्राप्त होय है । बहुरि बूढ़ा हैं सो अतिशय करि विकलताकों भजै है शक्तिरहित हो जाय है इच्छा बढ़ जाय है ऐसैं सुख कोई अवस्थामें नाहीं, दुःख ही है ॥ १७ ॥

न सोऽस्ति सम्बन्धविधिर्जगत्त्रये, समं समस्तैरपि देहधारिभिः ।

अवापि यो न भ्रमता भवार्णवे, शरीरिणा कर्मनियंत्रितात्मना ॥ १८ ॥

अर्थ—तीन लोक विष सो सम्बन्धका विधान नाहीं जो जोवनैं समस्त देहधारीन करि सहित अनेकवार न पाया, कैसा है जीव संसार-समुद्र विषै भ्रमता है अर कर्मनिकरि बंध्या है आत्मा नाका ऐसा है ॥ १८ ॥

यत्र चित्रैर्विवर्तैः परावर्त्यते, कर्मणानारतं भ्रम्यमाणो जनः ।

दुःखहं दुर्वचं मानसं कायिकं, तत्र दुःखं किं संसृतावस्तुते ॥ १९ ॥

अर्थ—जिस संसारसमुद्र विषै कर्म करि निरन्तर भ्रमाया ऐसा जो जीव सा नाना प्रकार पर्यायनि करि उलट पलट कीजिए है ता संसार विषै दुर्वचन सम्बन्धी मन सम्बन्धी शरीर सम्बन्धी दुःसह दुःख कहा न भोगिए है, भोगिए ही है । ऐसा संसारका स्वरूप जाणि मंक्षका यत्न करना ॥ १९ ॥

या प्रकार संसार भावना कही । आगें—एकत्व भावनाकों कहैं हैं—

देहबाधवनिमित्तमंगिना, पापकर्म विविधं विधीयते ।

एककेन बृहति त्रिषह्यते, नारकीं गतिमुपेषुषा व्यथा ॥ २० ॥

अर्थ—शरीर अर बन्धुजननिके पोषणेके अर्थ जीव करि पाप कर्म नानाप्रकार कीजिए है । बहुरि ताके फलतें नरकगतिकों प्राप्त भया एक आप ताकरि ही पीड़ा सहिए है, शरीर कुटुम्बादिक कोऊ भेला हाथ नाहीं ॥ २० ॥

पद्मपत्रनयनामनोरमाः, कारयति दुरितं दुरुत्ताम् ।

दुर्गति विकटदुःखकटा, मेककस्य शरणं न गच्छतः ॥ २१ ॥

अर्थ—कमलके पत्र समान है नेत्र जिनके ऐसी मनकों रमावने-
वाली जे ली हैं ते दुस्तर पापकों करावें हैं । बहुरि दुःखनि करि व्याप्त
जो दुर्गति ता प्रति अकेले जानेकों शरण कोऊ नाहीं ॥ २१ ॥

मातृतातप्तुतदारबाधकाः, सर्वदा मम मुधेति तप्यते ।

कर्म पूर्वमपहाय विद्यते, नात्र कोऽपि सुखदुःखकारकः ॥ २२ ॥

अर्थ—माता पिता पुत्र ली बाधन ये सदा मेरे हैं ऐसी मानिं
करि सदा खेद करे है । बहुरि पूर्व कर्म विना इस लोक विषे सुख
दुःखका करनेवाला कोऊ नाहीं ॥ २२ ॥

वेदनां गतवतः स्वकर्मजा-मत्र यो न विदधाति किञ्चन ।

किं करिष्यति परत्र यन्नतो, देहजादिनिबहः स पालितः ॥ २३ ॥

अर्थ—जो पाल्या छंष्या ऐसा पुत्रादिकनिका समूह सो अपने
कर्मोदयते उपजी जो रोगदिककी वेदना ताकों प्राप्त भया जो जीव
ताका इस लोकमें उपाय करि किछु न करै है सो परलोक विषे कहा
करैगा, किछु भी करैगा नाहीं ॥ २३ ॥

एकको भ्रमति जन्मकानने, याति निर्वृतिनिवासमेककः ।

एककः श्रयति दुःखमेककः, शर्म याति न परोऽस्य विद्यते ॥ २४ ॥

अर्थ—यह जोत्र संसारन विषे एकला भ्रमै है । बहुरि मोक्ष
धामकों एकला जाय है । बहुरि दुःखकों अकेला भोगै है, सुखकों
अकेला प्राप्त होय है, इसका दूजा साथी नाहीं ॥ २४ ॥

जन्ममृत्युरतिकीर्त्तिपदा-मेकको भवति भाजनं सदा ।

नास्ति कोऽपि खेचिवः शरीरिणो, द्रव्यमुक्तिमपहाय तत्त्वतः ॥ २५ ॥

अर्थ—जन्म मरम प्रीति यश सम्पदा इनका भाजन सदा

अकेला ही है, जन्मदिकको अकेला ही पावै है, निश्चयते मोक्ष अवस्था विना जीवका साथी कोऊ नाहीं ॥ २५ ॥

ऐसे एकत्व भावनाका वर्णन किया । आर्मे—अन्यत्व भावनाको कहै हैं:—

अनादिरात्माऽनिघनः सचेतनो, विधायकः कर्मफलस्य भोजकः ।

हिताहितादानविमोक्षकोविद, स्ततः शरीरं विपरीतमात्मनः ॥ २६ ॥

अर्थ—आत्मा अनादि है, अनंत है, चेतन सहित है, कर्ता है, कर्मफलका भोक्ता है, हितका ग्रहण करनेवाला अहितका त्यागने-वाला है ताते ज्ञानस्वरूप आत्माते शरीर विपरीत है ।

भावार्थ—शरीर नवीन उपज्या है, विनाशिक है, जड़ है, ताहीते कर्मका कर्ता नाहीं अर भक्ता नाहीं अर हित अहितका ग्रहण करनेवाला नाहीं, ऐसे आत्माका अर शरीरका लक्षण न्यारा है, एक नाहीं ॥ २६ ॥

सदापि यो यत्नशतैः प्रपाल्यते, न यत्र कायेऽपि निजः स देहिनः ।

परः स्वकीयं किमु तत्र विद्यते, प्रवर्त्तते यत्र ममेति माहितः ॥ २७ ॥

अर्थ—जिम संवार विषे जो शरीर अनेक उपायनिकरि सदा ही पालिए है सो शरीर भी जीवके आपका नाहीं तहां और वस्तु आपका कैसे हाय जहां यह मोहित भया “ ये वस्तु मेरी है ” ऐसे प्रवर्ते है ॥ २७ ॥

विनुष्य जन्तेरुपयोगमंजया, न दर्शनज्ञानमयं निजं परम् ।

परत्र सर्वत्र ममेति श्रेणुषी, प्रवर्त्तते मोहपिशाचनिर्मिता ॥ २८ ॥

अर्थ—जीवका दर्शनज्ञानमय उपयोग विना निश्चयते और पर पदार्थ आपका नाहीं, बहुरि सर्व पदार्थ विषे ये मेरे हैं ऐसी बुद्धि मोहरूप पिशाचकरि मई प्रवर्ते है ॥ २८ ॥

भवन्ति ये कर्मणयोगसम्भवाः, परेऽत्र भावा वपुरात्मजादयः ।

विहाय ते दुःख परम्परां परां, परं न किञ्चिद्विपरीतमीशते ॥ २९ ॥

अर्थ—इस लोक विषे कर्मनिके संयोगते निपजे शरीर पुत्रादिक जे पदार्थ हैं ते केवल दुःखकी परम्पराय विना और किछु दुःखते विपरीत जो सुख ताहि करवे समर्थ नाहीं ।

भावार्थ—शरीरादिक परपदार्थमें आपाकी बुद्धि है सो दुःखहीका कारण है सुखका कारण नाहीं ॥ २९ ॥

अनात्मनीना भवदुःखहेतवो, विनश्वराः कर्मभवा यतोऽखिलाः ।

ततो न बाह्येषु विशुद्धबुद्ध्यो, ममेति बुद्धि मनसाऽपि कुर्वते ॥ ३० ॥

अर्थ—जाते कर्मणके उदयते भये समस्त शरीरादिक पदार्थ हैं ते आत्माके अर्थ हितरूप नाहीं अर संसार दुःखके कारण हैं अर विनाशिक हैं ताते बाह्य पदार्थनि विषे “ यह मेरे हैं ” ऐसी बुद्धिको मन करि भी न करै हैं ॥ ३० ॥

न विद्यते यत्रकलेवरं निजं, स्वकीयबुद्ध्या मनसि व्यवस्थितम् ।

तदीयसम्बन्धभवाः सुतादयः, परे कथं तत्र निजा निगद्यताम् ॥ ३१ ॥

अर्थ—जहां आपकी बुद्धि करि मन विषे तिष्ठवा जो शरीर सो आपका नाहीं तहां तो शरीरके सम्बन्धते उपजे जे अन्य पुत्रादिक ते कहो, आपके कैसे होय ? ॥ ३१ ॥

करोति बाह्येषु ममेति शेमुर्षी, परेश्वयं यावदनर्थकारिणीम् ।

न निर्गमस्तावदमुष्य संसृते, रिति त्रिवा सा विदुषा विमुच्यताम् ॥ ३२ ॥

अर्थ—जहां ताई बाह्य पर पदार्थनि विषे ये मेरे हैं ऐसी अनर्थ करनेवाली बुद्धि है तहां ताई इस जीवका संसारते निकमना नाहीं, इस कारणते सो बुद्धि मन वचन काय करि त्यागना ॥ ३२ ॥

ऐसे अन्यात्मभावना कही । आगे—अशुचिभावनाको कहे हैं—

क्षणामेध्याः शुचयोऽपि भावाः, संसर्गमात्रेण भवन्ति यस्य ।

शरीरतः सन्ततिपूतिगन्धेस्ततः परं किञ्चन नास्त्यचौक्ष्यम् ॥ ३३ ॥

अर्थ—जा शरीरके संसर्गमात्र करि क्षणमात्रमें पवित्र पदार्थ भी अपवित्र होय है, ताते निरन्तर दुर्गंधरूप जो शरीर ताते अन्य किछु अपवित्र नाहीं ॥ ३३ ॥

बहुप्रकाराशुचिराशिपूर्ण, शुक्रासृजाते शुचिता क कथ्ये ।

अमेध्यपूर्णः किममेध्यकुम्भो, दृष्टो हि मेध्यत्वमुपादानः ॥ ३४ ॥

अर्थ—अनेक प्रकार विष्टादिक अपवित्र वस्तुनि करि भग्या अर वीर्य अर रुधिरते उपज्या ऐसा जो शरीर ताविषे पवित्रता कहूँ नाहीं, जाते विष्टा करि भग्या अपवित्र कुम्भ पवित्रताको धारता कहूँ देख्या नाहीं ॥ ३४ ॥

मज्जास्थि मेदोमलमांसस्त्रानि, विगर्हणीयं कृमिजालगेहम् ।

देहं दधानः शुचिताभिमानं, मूर्खो विषत्ते न विशुद्धबुद्धिः ॥ ३५ ॥

अर्थ—मज्जा अर हाड अर मेद अर मल विष्टादिक इनके उपजनेकी खानि अर निन्दने योग्य अर कीडानिके समूहका घर ऐसा जो देह ताहि धारता सन्ता पवित्रपनेका अभिमान मूर्ख धारै है, निर्मल बुद्धि न धारै है ॥ ३५ ॥

स्रक्त्रस्तृविचित्रगूर, यो वारिणा शोषयते शरीरम् ।

अहाय दुग्धेन निघृष्य मन्ये, विशुद्धमंगारमपौ विषत्ते ॥ ३६ ॥

अर्थ—जो झरै है नव द्वारानिते नाना प्रकार मल जाते ऐमा जो शरीर ताहि जल करि पवित्र करै है सो मैं ऐमा मानूँ हूँ ये कोयलाको दूधतै घिसके जल्दी विशुद्ध करै है ॥ ३६ ॥

न हन्यते तेन जलेन पापं, विवद्वर्धते येन विवद्वर्ध रागम् ।

यद्यन्य वर्णप्रभवे समर्थ, तत्तस्यदृष्टं न विनाशकारि ॥ ३७ ॥

अर्थ—जा जलकरि रागादिभाव बढाय करि हिषादिक पाप बढाइए है ता जलकरि पाप कैसे नाश कीजिए, जातें जो वस्तुका वर्ण उपजावे त्रिबे समर्थ है सो ताका नाश करनेवाला न देख्या ॥ ३७ ॥

विनाश्यते चेत्सल्लिखेन पापं, धर्मस्तदानीं क्रियते किमर्थम् ।

आरोहणं कोऽपि करोति वृक्षे, फले हि हस्तेन न लभ्यमाने ॥ ३८ ॥

अर्थ—जो जलकरि पाप नाशिए तौ तपश्चर्यादि धर्म काहेके अर्थ करिए जातें हाथमें फल आये संते कोई वृक्षपै चढ़े नाहीं ॥ ३८ ॥

माघेन तीव्रः क्रियते शशांको, ग्रीष्मेण भानुर्यदिनाम शीतः ।

देहस्तदानीं पयसा विशुद्धो, विधीयते दुर्बचगूथयूथः ॥ ३९ ॥

अर्थ—जा माघ मास करि चन्द्रमा तप्त कीजिए अर ग्रीष्म करि सूर्य शीतल कीजिए तौ जल करि शरीर विशुद्ध कीजिए । कैसा है शरीर निदनांक विष्टादिक मलका पुंज है ॥ ३९ ॥

पञ्चानवम्यक्तचग्नित्तोयैर्विगाह्यमानैर्मनसाऽपि जीवः ।

विशोध्य मानस्तरसा पवित्रैर्न शुद्धिमभ्येति भवानरेऽपि ॥ ४० ॥

अर्थ—मन करि भी अवगाहे जे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रूप पवित्र जल तिन करि शीघ्र निर्मल किया जो जीव सो जन्मांतर विषे भी अशुद्धिताको प्राप्त नाहीं होय है ।

भावार्थ—जलदि परद्रव्यनितै मिथ्यादृष्टि शुद्धिता मानै है सो मिथ्या है तातें जीव तौ सम्यग्दर्शनादि आत्मपरिणामहीतें शुद्ध होय है ॥ ४० ॥

ऐसै अशुचि भावना कही । आगै—आश्रवभावनाको कहैं हैं—
रन्ध्रिवांबुविततेरुदधौ तरंडे, जीवि मनोवचनकायविकल्पजालैः ।
स्नन्मार्गत्रं विशति कर्म विचित्ररूपं, सद्यो निमज्जनविधाधि सुदृर्निवाग्म् ॥ ४१ ॥

अर्थ—जैसे समुद्रमें नाव विषे विस्ताररूप छिद्रनि करि जल

प्रवेश करै है तैंसे संसार-समुद्र विषे मन, वचन, कायके विकल्प-
जालतें नानाप्रकार कर्म आश्रवें हैं ताकरि जीव दुःख करि निवारण
करने योग्य जलदी डूबनेको प्राप्त होय है ॥ ४१ ॥

चित्त्रेण कर्मपत्रेण नियोज्यमानः, प्राणिप्लवो बहुविधोऽसुखभांडपूर्णः ।
संसारसागरमसारमलभ्यपारं, भूरिभ्रमं भ्रमति कालमनंतमानम् ॥४२॥

अर्थ—तीव्र मंदादि भेदनिष्ठहित नानाप्रकार जो कर्मपत्र
ताकरि प्रेया भया यह जीवरूप नौका संसार-समुद्र विषे अनंतकाल
भ्रमै है । कैसा है जीवरूपी नावनाना प्रकार दुःखरूप भांडनि करि
भरया है । बहुरि कैसा है संसार-समुद्र असार है जामें आत्महित नाहीं
पावने योग्य है पार जाका ऐसा अपार है अर बहुत हैं भौर जा विषे
ऐसा है ॥ ४२ ॥

कर्मादघाति यदयं भविनः कषायः, संसारदुःखमविधाय न तद्वयपैति ।
यद्ब्रवं हि विदघाति विपक्षवर्गं, स्तन्नाम कस्य विरचय्य सुखं प्रयाति ॥४३॥

अर्थ—जा यह कषायभाव जीवके कर्मबन्ध करै है सो कर्मबन्ध
दुःख दिये विना नाश नाहीं होय है । जैसे वैरीनिका समूह जो बन्धन
बाधै है सो बन्ध कौनको सुख करिके जाय है, दुःख करिके ही
जाय है ।

भावार्थ—कषायकरि बंध्या जो कर्म ताका छूटना महाकठिन
है तामें मुख्य आश्रवका कारण जो कषाय सो करना योग्य
नाहीं ॥ ४३ ॥

भेदाः सुखासुखविधानविधौ समर्था, ये कर्मणो विविधबंधरसा
भवन्ति । जन्तोः शुभाशुभमनः परिणामजन्त्या, तैर्भ्रम्यते भववने
चिरमेष भीमे ॥ ४४ ॥

अर्थ—जीवके नाना प्रकार जे चित्तके परिणाम तिनकरि उपजे

जे सुख दुःख करनेकी विधि विषे समर्थ नाना प्रकार बन्धके अनु-
भागभेद तिन करि यहू जीव भयंकर संघार बन विषे बहुत काल
भ्रमाइए है ।

भावार्थ—कर्मनिका तीव्र मंद अनुभाग तीव्र मंद कषायते होय
है ताकरि जीव नरकादि पर्यायनिमें भ्रमै है ॥ ४४ ॥

गृह्णाति कर्म सुखदं शुभयोगवृत्त्या, दुःखप्रदायि तु यतोऽशुभ-
योगवृत्त्या । आद्या सुखार्थिभिरतः सततं विधेया, हेया परा प्रचुर-
कष्टनिधानभूता ॥ ४५ ॥

अर्थ—जाते शुभ योगकी परणति करि जीव सुखदायक कर्मका
ग्रहण करै है, बहुरि अशुभ योगकी परिणति करि दुःखदायक कर्मका
ग्रहण करै है, इस कारणते सुखके अर्थी जे जीव तिनकरि आदिकी
जो शुभ परणति सो निरन्तर करनी योग्य है । बहुरि प्रचुर दुःखके
निधान समान जो अशुभ योगकी परणति सो त्यागनी योग्य है ॥ ४५ ॥

एकप्रकारमपि योगवशादुपेतं, कुर्वति कर्म विविधं विविधाः
कषायाः । एकस्यभावमुपगम्य जलं घनेभ्यः, प्राप्य प्रदेशमुपयाति न
किं विभेदम् ॥ ४६ ॥

अर्थ—योगनिके बशकरि एक प्रकार ग्रहण किया भी कर्म
कषाय नाना प्रकार करै है ।

भावार्थ—योगद्वार समयप्रबद्ध ग्रहण कियौ सो तौ एक प्रकार
ही है परन्तु जैसा तीव्र मंद कषाय हांय तैसा ही नाना प्रकार तीव्र
मंद शक्ति लिये होय है । जैसै मेघनिते जल है सो एक स्वभावको प्राप्त
होयके निब आदि प्रदेशको प्राप्त होय करि कहा विचित्र भेदको
नाहीं प्राप्त होय है, होय ही है ॥ ४६ ॥

मिथ्यात्वदौर्घृत्यकषाययोग, प्रमाददोषा विविधप्रकाराः ।

कर्माश्रवाः संति शरीरभाजा, जलाश्रवा वा सरसां प्रवाहाः ॥ ४७ ॥

अर्थ—मिथ्यात्व अर अविरत अर कषाय अर योग अर प्रमाद ये दोष स्वरूप नाना प्रकार जीवनिकै कर्माश्रवके कारण हैं, जस सरोवरनिके जलके आश्रवके कारण प्रवाह हैं तैसें ।

भावार्थ—मिथ्यात्वादिक भाव कर्मबन्धके कारण हैं तातें इनको र्यागना, यहू तात्पर्य है ॥ ४७ ॥

संवरणं तरसा दुरिताना, माश्रवरोधकरेषु नरेषु ।

आगमनस्य कृते हि निरोधे, कुत्र विशन्ति चलानि सरः सु ॥ ४८ ॥

अर्थ—मिथ्यात्वादिक आश्रवनिको जे सम्यक्त्वादि भावनि करि रोकनेवाले पुरुष हैं तिनके शीघ्र कर्मनिका रुकना रूप संवर होय है । जैसें जलनिके आवनेका द्वार रोके सन्तें सरोवरनि विषैं जल कहातें आवै कडूतें भी न आवै है ॥ ४८ ॥

नश्यति कर्म कदाचन जन्तेः, संवरणेन विना न गृहीतम् ।

शुष्यति कुत्र जलं हि तडागे, संगमने बहुषाऽभिनवस्य ॥ ४९ ॥

अर्थ—जीवके ग्रहण किया भया जो कर्म है सो संवर विना कदाच नाश न होय है, जैसें सरोवर विषैं बहुत प्रकार नवीन जलका आगम होतसतें जल कहातें सूखै, अपि तु नाहीं सूखै है तैसें जानना ॥ ४९ ॥

योगनिरोधकरस्य सुदृष्टे, रस्तकषायरिपे विरतस्य ।

यत्नपरस्य नरस्य समस्तं, संवृत्तिमृच्छति नूतनमेनः ॥ ५० ॥

अर्थ—मन बचन कायका रोकनेवाला अर सम्यग्दृष्टि अर नाश किये हैं कषाय वैरी जानें अर हिंसादिकतें विरक्त अर यत्नाचारमें तत्पर ऐसा जो पुरुष ताके समस्त नवीन कर्म रुकै है ।

भावार्थ—मिथ्यात्वादिके प्रतिपक्षी जे सम्यक्त्वादि भाव तिन-करि संवर होय है ॥ ५० ॥

धर्मधरास्य परीषहजेतु—, वृत्तवतः समितस्य सुगुप्तेः ।

आगमवासितमानसवृत्तेः, संगतिरस्ति न कर्मरजोमिः ॥ ५१ ॥

अर्थ—उत्तम क्षमादि दश प्रकार धर्मका धरनेवाला अर क्षुधादि परीषहनिका जीतनेवाला अर सामायिकादि चारित्रिका धारी अर यत्ना-चार रूप समितिनिकरि मुक्त अर भले प्रकार योगनिका निग्रहरूप है गुप्ति जाकै ऐसा जो पुरुष ताकै कर्मरूपी रजनी करि संगति नाहीं होय है ।

भावार्थ—इनिके होतसतैं द्रव्यसंवर होय है, ऐसा जानना ॥५१॥
दर्शनबोधचरित्रतपोभिश्चेतसिकल्मषमेति न जुष्टे ।

शूरतैः पुरुषैः कृतरक्षे, शत्रुबलं विशति दा पुरे हि ॥ ५२ ॥

अर्थ—दर्शन ज्ञान चारित्र तप इनकरि सहित जो चित्त ता विषे पापकर्म नाहीं प्राप्त होय है ! जैसे शूवीर पुरुषनिकरि करी है रक्षा जाकी ऐसा जो नगर ताविषे शत्रुकी सेना कहां प्रवेश करै, अपितु नाहीं करै है ॥ ५२ ॥

पातकमाश्रवति स्थिररूपं, संभृतिमात्मवतां न यतीनाम् ।

वर्मधरान्न नरान् रणरंगे, कापि भिनत्ति शिलीमुखजालम् ॥ ५३ ॥

अर्थ—स्थिररूप आत्माका अनुभव करते जे आत्मज्ञानी यतीश्वर तिनके कर्म नहीं आश्रवै है । जैसे रणभूमि विषे वक्त बकतरके धरनेवाले पुरुष तिनहि बाणनिका समूह कहूँ भी भेदै नाहीं ॥ ५३ ॥

कामकषायहृषीकनिरोधं, यो विदधाति परैसुसाध्यम् ।

केवललोकत्रिलोकितलोको, याति स मुक्तिपुरीं दुःखापाम् ॥ ५४ ॥

अर्थ—ज्यो पुरुष काम अर कषाय अर इन्द्रिय इनिका निरोध करै है सो पुरुष मुक्तिपुरीको प्राप्त होय है, कैसा है कामादिकका निरोध और सामान्य पुरुषमि करि असाध्य है । बहुरि कैसा है वह

पुरुष केवलज्ञान रूपी प्रकाश करि देग्या है लोक जानें । कैसी है मुक्तिपुत्री दुःख करि है पावना जाका बड़े बड़े मुनीश्वर जाके अर्थ खेद करै हैं तौ भी न पावै हैं ।

भावार्थ—जे कामादिकका संवर करै हैं ते केवली होय मुक्ति-पुत्रीकौ पावै हैं इम विना कोटि कष्टनै भी मुक्ति न होय है ऐसा तात्पर्य है ॥ ५४ ॥

दृढीकृतो याति न कर्मपर्वतः, शरीरिणां निर्जरया विना क्षयम् ।

न धान्यपुंजः प्रलयं प्रपद्यते, व्ययं विना कापि विवर्द्धितश्चिरम् ॥५५॥

अर्थ—जीवनीके दृढ़ किया जो कर्मरूपी पर्वत से निर्जरा विना क्षयकौ प्राप्त न होय हैं । जैसे बहुत कालमें वृद्धिकौ प्राप्त किया जो धान्यका समूह से खरच करे विना कहुं भी नाशकौ प्राप्त न होय है तैवै ।

भावार्थ—जितना कर्म बन्धै तिनना ही उदय देय खिरै तौ अनादिकालके संचयरूप कर्म नष्टै नाहीं । बहुरि जब तपश्चरणादिक अनेक कालके बाधे कर्म एक कालमें विषै तब कर्मका नाश होय तातें तपश्चरणादिकमें प्रवर्तना योग्य है, यह तात्पर्य है ॥ ५५ ॥

निरन्तरानेकभवार्जितस्य या, पुरातनस्य क्षतिरेकदेशतः ।

विपाकजापाकजभेदतो द्विधा, यतीश्वरास्तां निगदंति निर्जराम् ॥५६॥

अर्थ—निरन्तर अनेक भवनि विषै उपाज्या जो कर्म ताकी एकदेश जो हानि ताहि यतीश्वर निर्जरा कहै हैं सो निर्जरा सविपाक अविपाक भेदतें दोय प्रकार है ॥ ५६ ॥

आगें सविपाक निर्जराका स्वरूप कहै हैं—

अनेहसा या कलिलस्य निर्जरा, विपाकजां तां कथयंति सुरयः ।

अपाकजां तां भवदुःखस्वर्षिणीं, विधीयते या तपसा ग्रीयसा ॥५७॥

अर्थ—जो अपनी रियति पूर्ण रूप उदय काय करि कर्मकी निर्जरा है तहि आर्य हैं ते विपाकजा निर्जरा कहै है । बहुरि जो उग्र तपश्चरण करि करिण है ताहि संसार-दुःखकी नाश करनेवाली अपाक निर्जरा कहै हैं ॥ ५० ॥

विपाकजायामुदितस्य कर्मणो, मता परस्यामखिलस्य विव्युतिः ।

यतो द्वितीयाऽत्र ततो विधानतः, सदा विधेया कुशलेन निर्जरा ॥५८॥

अर्थ—जाते सविपाकजा निर्जरा विषे तौ उदयको प्राप्त भया जो कर्म ताकी हानि होय है । बहुरि अविपाकजाविषे उदय आया अर विना उदय आया ऐसा सर्व ही कर्मका नाश होय है ताते प्रवीण पुरुष करि दूसरी जो अविपाक निर्जरा सो तपश्चरणादि विधानते सदा करनी योग्य है ॥ ५८ ॥

तपोभिरुग्रैः सति संवरे रजो, निपूद्यमानं सकलं पलायते ।

निराश्रवं वारि विवस्वदंशुभिर्न शोष्यमाणं सरसोऽवतिष्ठते ॥५९॥

अर्थ—आगामी कर्मनिरा संवर होत सन्ते उग्र तपश्चरण करि नाश किया जो कर्म सो समस्त नाशको प्राप्त होय है । जैसे नवीन जलके आश्रव रहित जो सरोवरका जल सो सूर्यकी किरणनि करि सोप्या भया न तिष्ठ है तैसे जानना ॥ ५९ ॥

परेण जीवस्तपसा प्रतापिनो, विनिर्मलत्वं रभसा प्रपद्यते ।

सुवर्णशैलस्य मलोऽवतिष्ठते, प्रताप्यमानस्य कृशानुना कथम् ॥६०॥

अर्थ—उत्कृष्ट तप करि तपाया जो जीव है सो शीघ्र निर्मल-पनेको प्राप्त होय है । जैसे अग्निकरि तपाया जो सुवर्णका गदा ताके मेल कैसे तिष्ठे, अपितु नाहीं तिष्ठे है ।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन ज्ञानादिकते जीवका मलिन भाव मिटे तब सिद्धपदको प्राप्त होय जाते सम्यग्दर्शनादि आराधना योग्य है ॥ ६० ॥

ऐसे निर्जरा भावना कही । आगे लोकभावनाकों कहै हैं—

व्योममध्यगमकृत्रिमं स्थिरं, लोकमंगिनिवहेन संकुलम् ।

षतरज्जुधनधम्मितं जिना, वर्णयन्ति पवमानवेष्टितम् ॥ ६१ ॥

अर्थ—जिनराज हैं ते लोककों ऐसा वर्णन करै हैं, कैसा है लोक अनंतानंत जो आकाश ताके मध्य प्राप्त है, बहुरि काहूका करघा भया नाहीं । बहुरि जीवनिके समूहनिकरि भया है । बहुरि सात राजूका वन जो तीनसै तेतालीस राजू ता प्रमाण है । बहुरि वातबलयनि करि वेष्टित है, ऐसा है । ६१ ॥

जन्ममृत्युकलितेन जन्तुना, कर्मवैश्विशवर्तिना सता ।

यो न यत्र बहुशो विगाहितो, विद्यते न विषयः स कश्चन ॥६२॥

अर्थ—ता लोक विषै सो क्षेत्र नाहीं जो जीवनें बहुत बार नाहीं अवगाह्या । कैसा है जीव जन्म मरणकरि व्याप्त है । बहुरि कर्म वैकीके वशवर्ती है अर असित्स्वरूप है ।

भावार्थ—तीनसै तेतालीस राजूमें ऐसा क्षेत्र नाहीं जहां यह जीव न उपज्या अर न मया ऐसा वेग्यके अर्थ विचारना ॥६२॥

भूरिशोऽत्र सुखदुःखदायिनीः, भूतिजातिगनियं निमम्पदाः ।

यत्रितो विविचकर्मशृंगलैः, का न निर्विशति चेतनश्चिन्म ॥ ६३ ॥

अर्थ—नाना प्रकार कर्मरूप सांकलनि करि बध्या यह जीव है सो बारवार सुखदुःखकी देनेवाली विभूति जाति देवादिक गनि योनि सम्पदा कौनसोंकों प्राप्त न होय है ? सबहीकों प्राप्त होय है ।

भावार्थ—इस लोकमें या जीवकों सुखदुःखके कारण अनेकवार प्राप्त होय है तिनमें हर्षविषाद करना वृथा है, ऐसा विचारना ॥६३॥

बांधवा भवति शत्रवोऽप वा, कोऽत्र कस्य निजकार्यवर्जितः ।

बंधुरेष मम शत्रुरेष वा, शोमुषीमिति करोति मोहितः ॥ ६४ ॥

अर्थ—इस लोकमें कार्य करि रहित कौन किसीका भाई बंधु वा शत्रु हांय है? कोई भी न होय है, ताते यह मेरा भाई है, यह मेरा बैरी है ऐसी बुद्धिकों मोही जीव करै है यह बुद्धि मिथ्या है ऐसा जानना ॥ ६४ ॥

देवमर्त्यपशुनारकेष्वयं, दुःखजालकलितेष्वनारतम् ।

कामक्रोपमदलोभवासितो, वर्त्तते भवविपर्ययाधुलः ॥ ६५ ॥

अर्थ—दुःखनिके समूह करि भरे जे देव मनुष्य तिर्यच नारकी तिन विषै यह काम, क्रोध, मद, लोभ इत्यादि विभावनि करि वासित जाव निरन्तर प्रवर्त्तै है । कैसा है यह संसार विषै विपर्यय बुद्धि करि आकुल है, संसारमें तो इष्टानिष्ट वस्तु नाहीं अर यह काहूको इष्ट मानै है काहूको अनिष्ट मानै है ताते दुःखी है ॥ ६५ ॥

जन्मवर्त्तिनिवहो वियुज्यते, योज्यते स्वकृतकर्मभिः पुनः ।

शुष्कपत्रनिकरः परस्परं, मारुतैरिव विभीमवृत्तिभिः ॥ ६६ ॥

अर्थ—आप करि किए जे कर्म तिनकरि संसारी जीवनिका समूह कहुँ परस्पर वियोगरूप कीजिए है कहुँ संयोगरूप कीजिए है । जैसे उप्रवेगमदित जो पवन तिनकरि पत्तानिका समूह कहुँ मिलाइए है कहुँ विछुगाइए है सूखे “संयोग वियोगका कारण कर्म है कोऊ परवस्तु नाहीं” ऐसा विचारना ॥ ६६ ॥

एष वेष्टयति भोगकांक्षया, कोशकार इव लालया स्वयम् ।

कर्मबीजभवया विनिश्चया, घोरमृत्युभयदानदक्षया ॥ ६७ ॥ :

अर्थ—जैसे कोशकार जो कुसेरा सो अपनी लीला कहि आप-हीको बांधै है तैसे यह जीव भोगनिकी बांछाकरि आप ही आपको बांधै है । कैसी है भोगनिकी बांछा कर्मबीज करि उपजी . मोहोदय जनित है, स्वभाषते नाहीं । बहुरि विशेषणें निब हैं अर भयानक

मृत्युके देनेमें प्रवीण हैं अनन्तवार मरण करावे है ऐसी है ॥६७॥

चेतसीति सततं वितन्वतो, लोकरूपमुज्जायते परा ।

राक्षसीत इव संसृतेः स्फुटं, धर्मकर्मजननी विप्लवता ॥ ६८ ॥

अर्थ—या प्रकार जा लोकका स्वरूप चित्तविषे विचार है ताके धर्म कर्मकी उपजावनेवाली संसारते परम उदासीनता प्रगट उपजै है, जैसे राक्षसते मय उपजै तैसे संसारते मय उपजै है ॥ ६८ ॥

या प्रकार लोकभावना कही । आगे—वाधितुर्लभभावनाको कहै हैं:—

देशजातिकुलरूपकल्पता, जीवितव्यवलवीयैष्मपदः ।

देशनामप्रहणबुद्धिधारणाः, संति देहिनिवहस्य दुर्लभाः ॥ ६९ ॥

अर्थ—मुक्ति होने योग्य भरतादिक्षेत्र अर क्षत्रियादि जाति अर कुल, बहुरि सुन्दर रूप अर नीरागता । बहुरि दीर्घ आयु अर शरीर सम्बन्धी बल अर आत्मा सम्बन्धी वीर्य अर सम्पदा अर जिनवाणीका उपदेश अर ताके जाननेकी बुद्धि । बहुरि जानकरि ताकी धारणा राखनी यह वस्तु जावनिके समूहको पावना दुर्लभ है बड़े भाग्यके उदयते मिले है ॥ ६९ ॥

हंत ! तासु सुखदानकोविदा, ज्ञानदर्शनचरित्रसंगतिः ।

लभ्यते तनुपताऽतिकृच्छ्रनः, कामिनीष्विव कृत्तज्ञता सती ॥७०॥

अर्थ—आचार्य खेदकरि कहैं हैं—अहो तिन पूर्वोक्त सामग्रीनि विषे भी सुखदेनमें प्रव्रण ऐसी जो ज्ञानदर्शन चारित्रकी संगति सो जीवकरि कष्टते पाइए है। जैसे स्त्रीनि विषे सुन्दर कृत्तज्ञता कष्टते पाइए तैसे पूर्वोक्त सामग्रीनिमें बोध पावना दुर्लभ है ॥ ७० ॥

साधुलोकमहिता प्रमादतो, बंधिरत्र यदि जातु नश्यति ।

प्राप्यते न भविता तदा पुन, नीरघाविव मनोरमो मणिः ॥ ७१ ॥

अर्थ—इस लोकमें साधु पुरुषनिकरि पूजित ऐसी सम्यक्तादिककी प्राप्ति रूप जो बोधि सो कदाचित् प्रमादते नसि जाय तौ फेरि जीवनि करि न पाइए है । जैसे समुद्र विषे पड़ी सुन्दर मणि न पाइए सैते बोधि पावना दुर्लभ है ॥ ७१ ॥

इत ! बोधिमपहाय शर्मणे, येऽधमो वितनुते धनाजेनम् ।

जीविताय विषवह्वरीं स्फुटं, सेवतेऽमृतलतामपास्य सः ॥ ७२ ॥

अर्थ—अहो बड़े खेदकी बात है ! जो अधम पुरुष सम्यक्तादिककी प्राप्ति रूप बोधिकों छोड़ करि सुखके अर्थि धन उपार्जन करै है सो जीवनेके अर्थि अमृतवेलकों छोड़कौ प्रगटपनें विषवेलिकों सेवै है ॥ ७२ ॥

योऽत्र धर्ममुपलभ्य मुचते, क्लेशमेष लभतेऽतिदारुणम् ।

यौ निधानमनघं व्यपोहते, खिद्यते स नितरां त्रिमद्भुतम् ॥ ७३ ॥

अर्थ—जो पुरुष धर्मकों पायकरि छोड़ै है सो यहू अति भयानक क्लेशकों पावै है । जैसे जो निर्मल भण्डारकों छोड़ै सो अत्यन्त खेदखिन्न होय ही होय, यामें कहा आश्चर्य है ॥ ७३ ॥

मुचता जननमृश्रुयातनां, गृह्यता च शिवतान्मुत्तमाम् ।

शाश्वती मतिमता विधोयते, बोधिरद्विपतिचूलिका स्थिरा ॥ ७४ ॥

अर्थ—जो जीव जन्म मरणकी तीव्र वेदनाकों त्यागता है । बहुरि शाश्वती कल्याणकी संततिकों ग्रहण करता है ता बुद्धिमान पुरुष करि दर्शनादिककी प्राप्ति रूप जो बोधि सो सुमेरुकी चूलिका समान स्थिर कीजिए है ।

भावार्थ—जो जीव दुःखकों त्यागि सुखी भया चाहै सो सम्यग्दर्शनादिककों दृढ़ रखै यहू तात्पर्य है ॥ ७४ ॥

ऐसें बोधि भावना कही । आगे—धर्म भावनाका वर्णन करें हैं—

निरुपमनिरवधशर्ममूलं, हितमभिपूजितमस्तसर्वदोषम् ।

भजति जिननिवेदितं स धर्मं, भवति जनः सुखभाजनं सदा यः ॥७५॥

अर्थ—जो पुरुष जिनभाषित धर्मकों सेवै है सो सदा सुखका भाजन होय है, कैसा है जिनभाषित धर्म उपमा रहित अर पाप रहित सुखका मूल है । बहुरि हितस्वरूप है अर सबनिकरि पूजित है अर नष्ट भये हैं पूर्वापर विरुद्ध आदि दोष जाके ऐसा है ॥ ७५ ॥

व्यपनयति भवं दुरन्तदुःखं, वितरति मुक्तिपदं निरामयं यः ।

भवति कृतघिया त्रिवा विधेयः, सकलसमीहितसाधनः स धर्मः ॥७६॥

अर्थ—पूर्ण है बुद्धि जाकी ऐसे पुरुष करि सो धर्म मन वचन कायकरि करना योग्य है, कैसा है धर्म सकल वांछित वस्तुका साधन है जातैं समस्त इष्ट पदार्थ मिलैं हैं । बहुरि जो धर्म-दूर है, अन्त जाका ऐसा है दुःख जामें ऐसा जो सवार ताहि दूर करै है, अर निर्दोष मुक्तिपदकों देय है ॥ ७६ ॥

मनुजभवमत्राप्य यो न धर्मं, विषयसुम्बाकुलितः करोति पथ्यम् ।

मणिकनकनगं समेत्य मन्ये, पिपतिषति स्फुटमेष जीवितार्थी ॥७७॥

अर्थ—मनुष्य जन्मकों पायक विषयनिसे सुखनि विषै आकुलित जो पुरुष हितरूप धर्मकों न करै है सो मैं ऐसा मानूं हूँ कि यह रत्न सुवर्णके पर्वतकों पात होय करि प्रगटपने जीवनेका अर्थी पढनेकों इच्छै है, मनुष्यभव पाय करि तौ धर्म करना ही योग्य है ॥ ७७ ॥

कलुषयति कुधीर्निस्तधर्मा, भवशतमेकभवस्य कारणं यः ।

अभिलषितफलानि दातुमीशं, त्यजति तृणार्थितया स कल्पवृक्षम् ॥७८॥

अर्थ—जो त्यागा है धर्म जानें ऐसा कुबुद्धि पुरुष एक भवके अर्थ अनेक भव बिगाडै है सो फलनिके देवे समर्थ जो कल्पवृक्ष ताहि त्यागे है अर तृणके अर्थि अभिलाषा करै है ।

भावार्थ—जो एक भव सम्बन्धी किंचित् विषय सुखके अर्थ

धर्म छोड़ै है सो अनेकवार निगोदादि पर्यायनिमें भ्रमै है, तातें अनेक भव त्रिगाढना बह्या है, ऐमा जानना ॥ ७८ ॥

शमयमनियमव्रताभिरामं, चरति न यो जिनधर्ममस्तदोषम् ।

भ्रमरणनिपीडितो दुरात्मा, भ्रमति चिरं भवकानने च भ्रमे ॥७९॥

अर्थ—जो पुरुष दूर किये है हिंसादि दोष जानें ऐसा जो जिन-धर्म ताहि नाही आचरण करै है सो जन्म मरण करि दुःखित दुरात्मा बहुत काल ताई भयानक संसारवन विषें भ्रमै है, कैसा है जिनधर्म कषायके अभावरूप शमभाव अर यावज्जोव त्यागरूप यम अर कालकी मर्यादारूप नियम अर अहिंसादि व्रत इनकरि सुंदर है युक्त है ॥७९॥

विगलितकलिलेन येन युक्तो, भवति नरो भुवनस्य पूजनीयः ।

शुचिवचनमनःशरीरवृत्त्या, भजति वुधो न कथं तमत्र धर्मम् ॥८०॥

अर्थ—जो पापरहित धर्म करि युक्त मनुष्य है सो लोकके पूजनीक होय है ता धर्मकों इमलोकमें पवित्र मन वचन कायकी परणति करि कौन पंडित जन न सेवै है ? सेवै ही है ॥ ८० ॥

क्षातिर्निर्दवमार्जवं निगदितं सत्यं शुचित्वं तपस्यागोऽकिंचनता मुमुक्षुपतिभिर्ब्रह्मव्रतं संयमः । धर्मस्येति जिनोदितस्य दशधा निर्दूषणं, कुर्वाणो भवयंत्रणात्रिहितो मुक्त्यंगनां श्लिष्यति ॥ ८१ ॥

अर्थ—क्रोधकषायके अभावरूप क्षमा अर मानके अभावरूप मार्दव अर मायाके अभावरूप आर्जव अर सत्य वचन अर लोकके अभावरूप शुचिपना अर अनशनादि तप अर शक्तिमात्र त्याग अर निष्परिग्रहता अर ब्रह्मचर्य अर संयम ऐमें दशप्रकार लक्षण जिनधर्मकी मुनीश्वरनि करि कह्या ताहि जो आचरण करै है सो संपारबंधनकरि रहित मया सन्ता मुक्तिस्त्रीकों आलिंगै है ॥ ८१ ॥

ऐसे धर्मानुपेक्षा कही । आगें अधिकारकों संकोचै है—

योऽनुप्रेक्षा द्वादशापीति नित्यं, भव्यो भक्त्या ध्यायति ध्यानशीलः ।
हेयादेयाशेषतत्त्वावबोधी, सिद्धिं सद्यो याति स ध्वस्तकर्मा ॥ ८२ ॥

अर्थ—या प्रकार जो पुरुष द्वादश अनुप्रेक्षानिकों ध्यान रूप है स्वभाव जाका ऐसा भव्य भक्ति करि नित्य ही ध्यावै है विचारै है सो हेय उपादेय तत्वका जाननेवाला शीघ्र ही मुक्तिपदकों प्राप्त होय है कैसा है सो नाश किये हैं कर्म जानें ऐसा है ।

भावार्थ—जो द्वादश अनुप्रेक्षा भावै है सो मुक्तिकों प्राप्त होय है ऐसा भावनाका फल दिखाया है ॥ ८२ ॥

सूचिततत्त्वं ध्वस्तकुन्तवं, भवभयविदलनदभयमकथनम् ।

या हृदि घत्ते पापनिवृत्ते, शुचिरुचिचिरं जिनपतिवचनम् ॥ ८३ ॥

केवललोकालोकितलोकोऽमितगतियत्तिपतिपुरपतिमहिताम् ।

याति स सिद्धि पावनशुद्धि, सकलिनकलिमलगुणमणिमहिताम् । ८४ ॥

अर्थ—जो पुरुष जिनराजके वचनकों पापरहित हृदयविषे धारै है सो पुरुष मोक्षकों प्राप्त होय है, कैसा है जिनराजका वचन सूचित किया है (बताया है) वस्तुका स्वरूप जानें । बहुरि नाश किया है अन्यथा वस्तुका स्वरूप जानें (वस्तु तो जैसा अनेकांत स्वरूप है तैसा ही है परन्तु अन्यथा मानने रूप मिथ्या अभिप्रायका जानें नाश किया है ऐसा है) बहुरि भंभार भयका नाश करनेवाला है इन्द्रिय-निका दमन अरु संयमका कथन जाविषे, बहुरि पवित्र रुचिकरि सुन्दर है रुचिकारी है, बहुरि कैसा है सो जिन वचनकों हृदयमें धारनेवाला पुरुष केवलज्ञान दर्शनरूपी प्रकाश करि देखा है लोक जानें ।

भावार्थ—जिन वचनके अभ्यासमें केवली होय है, कैसी है मुक्ति अनन्त है महिमा जिनकी ऐसे जे गणधरादिक अरु देविके इन्द्र तिन करि पूजित है । बहुरि रागादि दोषरहित अत्यंत पवित्र है ।

बहुि खण्डित किये हैं पापरूप मैल जिनने ऐसे सम्यक्त्वादि गुण-
रत्न करि पूजित है युक्त है, ऐसा जानना ॥ ८३-८४ ॥

सर्वैया इकतीसा ।

जग है अनित्य तामें सरन न वस्तु कोय,
ताते दुःखरासि भववासकों निहारिए ।
एक चित्त चिह्न सदा भिन्न परद्रव्यनितें,
अशुचि शरीरमें न आपाबुद्धि धारिए ॥
रागादिक भाव करै कर्मको बढ़ाव ताते,
संवरस्वरूप होय कर्मबन्ध डारिए ।
तीन लोक माहि जिनधर्म एक दुर्लभ है,
ताते जिनधर्मको न छिनहू विधारिए ॥
दोहा ।

ऐसे द्वादश भावना, भाषी अमितगतीस ।

जो भावें सो सुख लहै, कर्म महागिरि पीस ॥

ऐसे श्री अमितगति आचार्यविरचित श्रावकाचारविषै
चतुर्दशमा परिच्छेद समाप्त भया ।

पञ्चदशः परिच्छेदः ।

नियम्य करणप्राप्तं व्रतशुद्धिगुणादृतः । सर्वो विधीयते भव्यैर्विधि-
रेष विमुक्तये ॥ १ ॥ न सा संपद्यते जंतोः सर्वकर्मक्षयं विना । रज्जो-
पहारिणः दृष्टिर्लाहकमित्रांजिता ॥ २ ॥ समस्तकर्मविश्लेषो ध्यानैव
विधीयते । न भास्करं विनाऽन्येन हन्यते शार्करं तमः ॥ ३ ॥ यत्नः
कार्यो बुधैर्ध्याने कर्मम्या मःक्षकाक्षिभिः । रंगेभ्यो दुःखकारिभ्यो
व्याधितैरिव भेषजम् ॥ ४ ॥

अर्थ—व्रत अर शील अर गुणनिर्मे किया है आदर जिनने ऐसे भव्य जीवनि करि इंद्रियनिके समूहको रोकि करि यह सर्व पूर्वोक्त व्रतादि आचरण मुक्तिके अर्थ कीजि है ॥ १ ॥

सो मुक्ति सर्व कर्मनिके क्षयविना जीवकै न होय है जैसे मेघविना रजकी उपसमावनेवाली वृष्टि न होय तैसे ॥ २ ॥

बहुरि समस्त कर्मका नाश ध्यान ही करि करिए है जैसे सूर्य विना और करि रात्रि सम्बन्धी अन्धकार न निवारिए तैसे ॥ ३ ॥

ताते कर्मनते मोक्षके बांछक जे पंडितजन तिनकरि ध्यान विषे यत्न करना योग्य है । जैसे रोगनते छूटनेके बांछक जे रोगी तिनकरि औषधका यत्न करना योग्य है तैसे ॥ ४ ॥

आगे ध्यानका सामान्य लक्षण कहैं हैं:—

आद्यत्रिसंहतैः साधैरांतर्मोहूर्त्तिकं परम् ।

वस्तुन्येकत्र चित्तम्य, स्थैर्यं ध्यानमुदीर्यते ॥ ५ ॥

अर्थ—आदिके वज्रवृषभनाराच वज्रनाराच अर्द्धनाराच ये तीन संहनन जिनके पाइए ऐसे जे ध्यानके साधनेवाले पुरुष तिनकरि एक वस्तु विषे उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त मनकी धिरता कीजिए सो ध्यान कहिए है ॥ ५ ॥

तदन्येषां यथाशक्ति, मनोरोधविधायिनाम् ।

एकद्वित्रिचतुः पच, षडादिक्षणगोचरम् ॥ ६ ॥

अर्थ—बहुरि सो ध्यान, मनके रोकनेवालेनिः यथाशक्ति एक दोय तीन चार पांच छइ आदि समयनित गोचर है ।

भावार्थ—उत्कृष्ट ध्यान उत्तम संहननवालेके अन्तर्मुहूर्तका है औरनिके यथाशक्ति एक आदि समय भी ध्यान होय है, ऐसा जानना ॥ ६ ॥

साधकः साधनं साध्यं, फलं चेति चतुष्टयम् ।

शिवोद्भव्यं विधानेन, बुधैः सिद्धिं विविस्मुभिः ॥ ७ ॥

अर्थ—साधकके जानने वा प्राप्त होनेके बाँलक जे पंडित जन तिनकरि साधन करनेवाला साधक, अर जाकरि साधिष् सो साधन, बहुरि साधनेयोग्य होय सा साध्य, अर साधनाका फल यह च्यार बात विधान सहित जानना योग्य है ॥ ७ ॥

सो ही कहैं हैं—

संसारी साधको भव्यः, साधनं ध्यानमुज्ज्वलम् ।

निर्वाणं कथ्यते साध्यं, फलं सौख्यमनश्चरम् ॥ ८ ॥

अर्थ—संसारी भव्य जाव तौ साधनेवाला साधक है । बहुरि निर्मल ध्यान है सो साधन है । बहुरि मक्ष साधने योग्य साध्य है । बहुरि अविनाशी सुख है सो ध्यानका फल है ऐसा जानना ॥ ८ ॥

आगैं ध्यानके भेद कहैं हैं—

आर्तं रौद्रं मतं धर्म्यं, शुक्लं चेति चतुर्विधम् ।

ध्यानं ध्यानवतां मान्द्यैर्भवनिर्वाणकारणम् ॥ ९ ॥

अर्थ—ध्यानवान जे मुनीश्वर तिन करि मानने योग्य जे गण-धादिक तिन करि आर्त, रौद्र, धर्म, शुक्ल ऐसैं च्यार प्रकारका ध्यान संसारका अर निर्वाणका कारण कहा है ॥ ९ ॥

संसारकारणं पूर्वं, परं निर्वृत्तकारणम् ।

इत्याद्यं द्विनयं त्याज्यमादेयमपरं बुधैः ॥ १० ॥

अर्थ—पहले आर्तरौद्र तौ संसारके कारण हैं । बहुरि पर जे धर्म शुक्ल ते साधकके कारण हैं इम हेतुनै पंडितनिकरि धादिके आर्त, रौद्र दोनों त्यागने योग्य हैं । बहुरि और जे धर्म शुक्ल ते प्रहण करना योग्य हैं ॥ १० ॥

तहां प्रथम ही आर्त्तध्यानके भेद कहैं हैं—

प्रिययोगाऽप्रियायोगपीडालक्ष्मीविचिंतनम् ।

आर्त्तं चतुर्विधं ज्ञेयं, तिर्यग्गतनिवन्धनम् ॥ ११ ॥

अर्थ—इष्ट वस्तुका वियोग अर अनिष्ट वस्तुका संयोग अर रोगादिककी पीडा अर लक्ष्मीकी अभिलाषारूप जो विचार सो ब्यार प्रकार आर्त्तध्यान तिर्यच गतिका कारण जानना ॥ ११ ॥

आगैं रौद्रध्यानका स्वरूप कहैं हैं—

रौद्रं हिसानृतस्तेयभोगरक्षणचित्तनम् ।

ज्ञेयं चतुर्विधं शक्तं, श्मश्रुभूमिप्रवेशने ॥ १२ ॥

अर्थ—हिसा अर झूठ अर चोरी अर विषयनिकी रक्षा इनविषैं हर्षरूप जो चितवन सो ब्यार रौद्रध्यान नरकभूमि विषैं प्रवेश करावने विषैं समर्थ जानना योग्य है ॥ १२ ॥

आगैं धर्मध्यानके भेद कहैं हैं—

आज्ञापायविपाकानां, चिंतनं लोकसंस्थितेः ।

चतुर्धाऽभिहितं धर्म्यं, निमित्तं नाकशर्मणः ॥ १३ ॥

अर्थ—सर्वज्ञ वीतरागकी आज्ञा अर संसार दुःखका नाश अर कर्मनिका उदय इनका विचारना अर लोकके आकारका विचारना ऐसैं ब्यार प्रकार धर्मध्यान स्वर्गसुखका कारण कहा है ॥ १३ ॥

आगैं शुद्धध्यानके भेदनिकों कहैं हैं—

शुद्धं पृथक्वितर्कवीचारं प्रथमं मतम् ।

जिनैरेकत्ववीतर्काऽत्रीचारं च द्वितीयकम् ॥ १४ ॥

अन्यत्सूक्ष्मक्रियं तुर्यं, समुच्छिन्नक्रियं मतम् ।

इत्थं चतुरविधं शुद्धे, सिद्धिसौषप्रवेशकम् ॥ १५ ॥

अर्थ—जिनदेवनि करि पृथक्त्ववितर्कवीचार पहला शुद्धध्यान

कह्या है पृथक्त्व कहिये भिन्न भिन्नपने करि वितर्क जो श्रुत ताका विचार कहिए अर्थ शब्द अर योंगकी पलटना ताकों पृथक्त्ववितर्क विचार कहिये । बहुरि एक पनांकरि श्रुतका जाँमें चितवन होय पलटन न होय सो एकत्ववितर्क वीचार कह्या है । बहुरि योगनिकी क्रिया जाँमें सूक्ष्म होय सो सूक्ष्मक्रिया तीसरा है । बहुरि नष्ट भई है यागनिकी क्रिया जाँमें सो समुच्छिन्नक्रिय है, ऐमें च्यार प्रकार शुद्ध-ध्यान मुक्ति महलके प्रवेश करावनेवाला कह्या है ॥ १५ ॥

आगे ध्यानके स्वामी कहैं हैं—

आर्त्तं तनूपतां ध्यानं, प्रमत्तातगुणाश्रितम् ।

संयतासंयतांतानां, रौद्रं ध्यानं प्रवर्त्तते ॥ १६ ॥

अर्थ—जीवनके आर्त्तध्यान है सो छट्टा प्रमत गुणस्थान पर्यंत तिष्ठै है अर संयतासंयत जो पंचम गुणस्थान तहां ताई रौद्रध्यान प्रवर्त्तते है ॥ १६ ॥

अनपेतस्य धर्मस्य, धर्मतो दशभेदतः ।

चतुर्थः पंचमः षष्ठः, सप्तमश्च प्रवर्त्तकः ॥ १७ ॥

अर्थ—आज्ञादिक दश प्रकार धर्म जा स्वभाव ताकरि युक्त जो धर्मध्यान ताका प्रवर्त्तानेवाला ध्यावनेवाला चतुर्थ षष्ठप सप्त गुणस्थानवर्ती जीव जानना ।

भावार्थ—यद्यपि चतुर्थादि गुणस्थाननिर्मे परिणामनिकी निर्मलता वा वस्तु विचारमें लीनता अधिक अधिक है तथापि सामान्यपनें सर्व धर्मध्यान ही कह्या है ॥ १७ ॥

सप्तमर्थं निर्मलीकर्तुं, शुद्धं रत्नशिखास्थिरम् ।

अपूर्वकरणादीनां, मुमुक्षूणां प्रवर्त्तते ॥ १८ ॥

अर्थ—निर्मल करनेको सप्तमर्थ ऐसा जो शुद्ध ध्यान है सो

अपूर्वकरण आदि सात गुणस्थानवाले मोक्षके बाँछक जे आत्मा तिनक प्रवर्ते है । कैसा है शुक्ल ध्यान रत्नकी शिखा समान स्थिर है, जैसे रत्नकी शिखा पवनादिकते न चलै तैसे शुक्ल ध्यान रागादिकते न चलै है ॥ १८ ॥

अहायोद्भूयते सर्व, कर्म ध्यानेन संचिनम् ।

वृद्धं समीरणेनेव, बलाहककदंबकम् ॥ १९ ॥

अर्थ—संचय किया जां सर्व कर्म है सो ध्यानकरि शीघ्र उडाइए है तैसे ॥ १९ ॥

ध्यानद्वयेन पूर्वेण, जन्यते कर्मपर्वताः ।

वज्रेणेव विभिद्यंते, परेण सहसा पुनः ॥ २० ॥

अर्थ—पहले दोय ध्यान जे आर्तरौद्र तिनकरि कर्मरूपी पर्वत उपजाइए है । बहुरि पीछले जे दोय धर्मध्यान शुक्ल ध्यान तिन करि कर्म-पर्वत शीघ्र ही भेदिए है ।

भावार्थ—आर्तरौद्रते कर्म बंधे हैं अर धर्म शुकुनिते कर्मनिका नाश होय है, ऐसा जानना ॥ २० ॥

यो ध्यानेन विना मूढः, कर्मच्छेदं चिकीर्षति ।

कुशिलेन विना शैलं, शफुटमेघ विभित्सति ॥ २१ ॥

अर्थ—जो मूढ ध्यान विना कर्मनिका नाश करनेको इच्छे है सो प्रगट यह वज्रविना पर्वतके छेदनेको इच्छे है ॥ २१ ॥

ध्यानेन निर्मलेनाऽऽशु, हन्यते कर्मसंचयः ।

हुताशनकणेनापि, श्लुप्यते किं न काननम् ॥ २२ ॥

अर्थ—निर्मल ध्यान करि शीघ्र कर्मनिका समूह नाश कीजिए है । जैसे अग्निके कण करि भी कहा वन न जलाइए हैं, जलाइए ही है ॥ २२ ॥

ध्यानं विधित्त्वता ज्ञेयं, ध्याता ध्येयं विधिः फलम् ।

विधेयानि प्रसिद्धयन्ति, सामग्रीतो विना न हि ॥ २३ ॥

अर्थ—ध्यान करनेकी इच्छता जो पुरुष ताकरि ध्याता कहिए ध्यानका करनेवाला अर ध्येय कहिए ध्यावने योग्य वस्तु विधि कहिए ध्यानका विधान अर ध्यानका फल ये जानने योग्य हैं, ते सामग्री विना सिद्ध होय नहीं । ध्याता आदिका स्वरूप जानें तो ध्यानकी सिद्धि होय ॥ २३ ॥

आगै ध्याताका स्वरूप कहैं हैं—

निर्गमार्दशोपेतो, निष्कषायो जितेंद्रियः । निर्ममो निरहंकारः,
पराजितपरीषहः ॥ २४ ॥ हेयोपादेयतत्त्वज्ञो, लोकाचारपराङ्मुखः ।
विरक्तः कामभीषेषु, भवभ्रमणभीलुकः ॥ २५ ॥ लामेऽब्जामे सुखे
दुःखे, शत्रौ मित्रे प्रियेऽप्रिये । मानापमानयोस्तुल्यो मृत्युजोवितयोरपि
॥ २६ ॥ निरालस्यो निरुद्वेगो जितनिद्रो जितासनः । सर्वत्रतकृताभ्यासः
सन्तुष्टो निष्परिग्रहः ॥ २७ ॥ सम्यक्कालंकृतः शांतो रम्यारम्यनि-
रुत्सुकः । निर्भयो भाक्तिकः श्राद्धो, वीरो वैरंगिकोऽशठः ॥ २८ ॥
निर्निदानो निरापेक्षो विभंक्षुर्देहपंजरम् । भव्यः प्रशस्यते ध्याता यियासुः
पदमव्ययम् ॥ २९ ॥

अर्थ—स्वभाव करि ही कोमल परिणाम करि युक्त होय, कषाय-
रहित होय (तीव्र कषायी न होय) अर जीते हैं इंद्रिय जानें ऐस
होय, बहुरि परद्रव्यनिर्भै ममकार रहित होय, अहंकार रहित होय
(परद्रव्य मेरे हैं ऐसी बुद्धि सो तो ममकार कहिये, पर हैं सो
ऐसी बुद्धिकी अहंकार कहिए इन करि रहित होय) अर जीते हैं
क्षुधादि परिषह जानें ऐसा होय ॥ २४ ॥

अर त्यागने योग्य अर प्रहण करने योग्य जे तत्त्व तिनका ज्ञात

होय अर लौकिक आचारतैं अपूठो होय, अर काम भोगने विषे बिरक्त होय, अर संसार-भ्रमणतैं भयभीत होय ॥ २५ ॥

लाम अलाम, सुख दुःख, शत्रु मित्र, प्रिय वस्तु अप्रिय वस्तु, मान अपमान, अर मरण जीवन विषे भी समान होय ।

भावार्थ—सर्वकों ज्ञेयपना वरि समान जानि इष्टानिष्टबुद्धि नाहीं करै ॥ २६ ॥

निरालसी होय, उद्वेग रहित होय, जीती हैं इंद्रियां जानें, अर जीत्या है आसन जानें, आसन बांधनेमें हलै चले नाहीं, अर सर्व अहिंसादि व्रतनिका करया है अभ्यास जानें, अर सन्तोष सहित प्रसन्नचित्त होय, अर परिग्रह रहित होय है ॥ २७ ॥

अर सम्यग्दर्शनकरि शोभित होय, शांतपरिणामी होय, अर सुन्दर चित्तकों रमावनेवाली वस्तु तिनमें उत्साहरहित होय, निर्भय होय, देव गुरु धर्म विषे भक्त होय, कर्म बैरीके जीतनेकों सुभट होय, वैरागी होय, पण्डित होय ॥ २८ ॥

निदान रहित होय, काङ्क्षी अपेक्षा लिपे न होय, देहरूपी पीजरेके भेदनेका इच्छुक होय, भव्य होय ऐसा अविनाशी स्थानके जानेका इच्छुक ध्याता सराहिये है ॥ २९ ॥

ऐसे ध्याताका स्वरूप कहा । आगैं—ध्येयकों कहै हैं—

ध्येयं पदस्थपिण्डस्थरूपस्थरूपभेदतः ।

ध्यानस्थलङ्घनं प्राज्ञैश्चतुर्विधमुदाहृतम् ॥ ३० ॥

अर्थ—ध्यानका आलङ्घन कहिए जाकों ध्यानविषे चिन्तिए ऐसा ध्येय, पदस्थ १ पिण्डस्थ २ रूपस्थ ३ अरूप ४ इन भेदनिकरि बुद्धिमाननिनै ब्यार प्रकार बहा है ॥ ३० ॥

तहां प्रथम ही पदस्थका स्वरूप कहै हैंः—

यानि पंचनमस्कारपददादीनि मर्नाषिणा ।

पदस्थं ध्यातुकामेन तानि ध्येयानि तत्त्वतः ॥ ३१ ॥

अर्थ—जे पंचनमस्कारपद आदि अक्षरनिके समूह रूप पद हैं ते पदस्थ ध्यावनेका वाञ्छक जो बुद्धिमान पुरुष ताकरि निश्चयतै ध्यावने योग्य है ।

भावार्थ—पदस्थमै पंचनमस्कार मंत्र आदि पद ध्यावना ॥ ३१ ॥
आगे मंत्रनिका विधान कहै हैं—

मरुत्सखशिखो वर्णो भूतांतः शशिशेखरः ।

आद्यध्वादिको ज्ञात्वा ध्यातुः पापं निवृद्धते ॥ ३२ ॥

स्थितो ऽ सि उ सा मन्त्रश्चतुष्पत्रे कृशेशये ।

ध्यायमानः प्रयत्नेन कर्मोन्मूलयतेऽखिलम् ॥ ३३ ॥

तन्नाभौ हृदये वक्त्रे ललाटे मस्तके स्थितम् ।

गुरुप्रसादतो बुद्ध्या चिन्तनीयं कृशेशयम् ॥ ३४ ॥

*अयुयवित्यमी वर्णाः स्थिताः पद्मे चतुर्दले ।

विश्राणयन्ति पंचापि सम्यग्ज्ञानानि चिन्तिताः ॥ ३५ ॥

स्थितपंचनमस्काररत्नत्रयपदैर्दलैः ।

अष्टभिः कलिते पद्मे स्वरकेष्वराजिते ॥ ३६ ॥

यंत्रः

ह्रीं	ॐ	ह्रीं	ॐ	ह्रीं
मः				हः
ॐ				ॐ

स्थितोऽई मिलयं मन्त्रो ध्यायमानो विधानतः ।

ददाति चिन्तितां लक्ष्मीं कल्पवृक्ष इवोर्जिताम् ॥ ३७ ॥

हृषतीं कारस्तामः सोऽई मध्यस्थितो विगतमूर्द्धा ।

पाश्वरप्रणवचतुष्को ध्येयो द्विप्रांतकृतमायः ॥ ३८ ॥

सहस्रा द्वादश प्रोक्ता जपहोमविचक्षणैः ।

ॐ जांगेत्यादिमन्त्रस्य तद्भागो दशमः पुनः ॥ ३९ ॥

ॐ जोम्रे मग्ने तच्चे भूदे भवं भदिस्से अक्खे पक्खे जिणपाग्स्से
स्वाहा । अयं मंत्रः, जाप्यं द्वादशसहस्रं १२०००, होमः द्वादशशतं
१२०० ।

चक्रस्योपरि जापेन जातीपुष्यैर्मनोरमैः ।

विद्या सूचयते सम्यक् स्म्रे सर्वं शुभाशुभम् ॥ ४० ॥

ॐ ह्रीं काग्द्वयांतस्था हंकारो रेफभूषितः ।

ध्यातव्याऽष्टदले पद्मे कल्मषक्षपणक्षमः ॥ ४१ ॥

सप्ताक्षरं महामंत्रं ॐ ह्रीं काग्पदानतम् ।

त्रिदिग्दलगतं तत्र स्वाहांतं त्रिनिवेशयेत् ॥ ४२ ॥

×दिशि स्वाहांतमो ह्रीं हं नमो ह्रीं हं पदोत्तमम् ।

तत्र स्वाहांतमो ह्रीं हं कणिकायां विनिक्षिपेत् ॥ ४३ ॥

तत्पद्मे त्रिगुणीभूत मायाबीजेन वेष्टयेत् ।

विचिंतयेच्छुचीभूतः स्वेष्टकृत्यप्रसिद्धये ॥ ४४ ॥

पद्मस्थोपरि यत्नेन देयोपादेयलब्धये ।

मंत्रेणानेन कर्तव्यो जपः पूर्वविधानतः ॥ ४५ ॥

× दूसरी संस्कृत प्रतिमें यह श्लोक इस प्रकार है—
दिशि स्वाहांतमो ह्रीं हाँ नमो ह्रीं हं पदोत्तमम् ।
तत्र स्वाहा-नमो ह्रीं हं कणिकायां विनिक्षिपेत् ॥

ॐ ह्रीं ह्रीं नमो ह्रीं णमो अरहंताणं ह्रीं नमः इति मूलमंत्रः ।
जाप्य १०००० होमः १००० ।

षड्येनाप्रतिचक्रेण फडिति प्रत्येकमक्षरम् ।

कोणषड्के विचक्राय स्वाहा बाह्येऽपसव्यतः ॥ ४६ ॥

निविश्य विधिना दक्षो मध्ये तस्य निवेशयेत् ।

भूतांतं विंदुसंयुक्तं चितयेच्च विशुद्धधीः ॥ ४७ ॥

विषाय बलयं बाह्ये तस्य मध्ये विधानतः ।

णमो जिणाणमित्याद्यैः पूरयेत्प्रणवादिकैः ॥ ४८ ॥

ॐ णमो जिणाणं १-ॐ णमो परमाधि जिणाणं २-ॐ णमो
मञ्जोधि जिणाणं ३-ॐ णमो अणंतोवि जिणाणं ४-ॐ णमो कोट्ट-
बुद्धीणं ५-ॐ णमा वोजबुद्धीणं ६-ॐ णमो पादानुमारीणं ७-ॐ
णमो संभिण्णसोदराणं ८-ॐ णमा उज्जुनरीणं ९-ॐ णमो विउल-
मरीणं १०-ॐ णमो दसपुञ्जीणं ११-ॐ णमो चौदनपुञ्जीणं १२-
ॐ णमो अट्ठंगणिमित्तकुसलाणं १३-ॐ णमो त्रिगुण्वणइट्टिपत्ताणं
१४-ॐ णमा विज्जाहराणं १५-ॐ णमो चारणाणं १६-ॐ णमो
पण्णसमणाणं १७-ॐ णमो आगासगामीणं १८-ॐ ज्ञो ज्ञो श्री ही
धृ ते कीर्ति बुद्धि लक्ष्मी स्वाहा इति पदैवेलयं पूरयेत् । एवं पंचनमस्का-
रेण पंचांगुलीन्यस्तेन सकलो क्रियते; ॐ णमो अरहंताणं ह्रीं स्वाहा
अंगुष्ठे, ॐ णमो सिद्धाणं ह्रीं स्वाहा तर्जनीयां, ॐ णमो आयरियाणीं ह्रीं
स्वाहा मध्यमायां, ॐ णमो उवज्जायाणां ह्रीं स्वाहा अनामिकायां,
ॐ णमो लोए सव्वसाहूणं कनिष्ठकायां, एवं वारत्रयमंगुलीषु विन्यस्य
मस्तकस्योपरि पूर्वदक्षिणापरोत्तरेषु विन्यस्य जपं कुर्यात् ।

इहां ताईं यहु मन्त्रविधान वा यन्त्ररचना वा क्रिया-विशेष
आदि वर्णन किया, सो याका अर्थ हमको यद्यार्थ सर्व प्रतिभास्या नाहीं

तार्ते न लिख्वा है, विशेष बुद्धि जिनको मन्त्र शास्त्रका ज्ञान होय ते यथार्थ समझ लंज्यो ।

अभिधेया नमस्कारपदेयै परमेष्ठिनः ।

पदस्थास्ते विधीयन्ते, शब्देऽर्थस्य व्यवस्थितेः ॥ ४९ ॥

अर्थ—जे अर्हतादि परमेष्ठी नमस्कार पदनिकरि कहने योग्य हैं ते पदस्थ कहिए है, जाते शब्द त्रिषै पदार्थकी व्यवस्थिति है ।

भावार्थ—शब्दके अर अर्थके वाच्यवाचक भाव सम्बन्ध है, तार्ते शब्दमें अर्थ तिष्ठे है इष हेतुते नमस्कार आदि शब्दनिके ध्यानको पदस्थ कहा है ॥ ४९ ॥

आगै पिडश्य ध्यानको कहें हैं—

अनंतदर्शनज्ञानसुखवीर्यैरलंकृतम् । प्रातिहार्याष्टकोपेतं नरामरन-
सकृम् ॥ ५० ॥ शुद्धस्फटिकसंकाशशरीरमुरुतेजसम् । घातिकर्म-
क्षयोत्पन्न नवकेवल लब्धकम् ॥ ५१ ॥ विचित्रातिशयाधारं लब्ध
कल्याणपंचकम् । स्थिरीः साधुर्हृतं ध्यायत्येकाग्रमानसः ॥ ५२ ॥

अर्थ—स्थिर धी बुद्धि जाकी ऐसा एकाग्रचित्त साधु है सो अर्हतदेवको ध्यावै है, कैसा है अर्हत देव अनंतदर्शन अनंतज्ञान अनंतसुख अनंतवीर्य करि शमित है । बहुरि अशोकवृक्ष पुष्पवृष्टि दिव्यध्वनि चमर मिहासन भामंडल देवदुंदुभि छत्र इनि अष्ट प्राति-
हार्यनिकरी युक्त है । बहुरि मनुष्य देवनिकरि किया है नमस्कार जाको ऐसा है । बहुरि निमल स्फटिकमणि समान है परमौदारिक शरीर जाका, बहुरि घातिकर्मके क्षयते उपजी है नव केवल लब्ध जाके, बहुरि नानाप्रकारके अतिशय कहिए जिनको देखि लौकिक जीवनिके चित्तको आश्चर्य उपजे ऐसे अतिशयनि करि युक्त है । बहुरि पाया है पंचकल्याणक जानें ऐसा है ॥ ५०-५१-५२ ॥

पिंडस्थो ध्यायते यत्र, जिनेन्द्रो हृतकल्मषः ।

तर्तिपडपंचकध्वंसि, पिंडस्थं ध्यानमिष्यते ॥ ५३ ॥

अर्थ—नाश किया है कल्मष कदिए पाप जानें ऐसा जो जिनेन्द्र सो पिंड जो परमौदारिक शरीर ताविधे तिष्ठया ध्याइए सो पिंडस्थ ध्यान कदिए। बहुरि कैसा है पिंडस्थ ध्यान औदारिकादि पंच शरीरनिका नाश करनेवाला है, सिद्धपदकों देनेवाला है ॥ ५३ ॥

आगें रूपस्थ ध्यानकों कहैं हैं—

प्रतिमायां समारोप्य, स्वरूपं परमेष्ठिनः ।

ध्यायतः शुद्धचित्तस्य, रूपस्थं ध्यानमिष्यते ॥ ५४ ॥

अर्थ—परमेष्ठिका स्वरूप प्रतिमा विधे भले प्रकार आरोपण करके ध्यान करता शुद्ध है चित्त जाका ऐसा जो पुरुष ताके रूपस्थ ध्यान कदिए है ॥ ५४ ॥

आगें अरूपस्थ ध्यानकों कहैं हैं—

सिद्धरूपं त्रिमोक्षाय, निरस्ताशेषकल्मषम् । जिनरूपमिव ध्येयं,
स्फटिकप्रति विवितम् ॥ ५५ ॥ अरूपं ध्यायति ध्यानं, परं संवेदना-
त्मकम् । सिद्धरूपस्य लाभाय, नीरूपस्य निरेनसः ॥ ५६ ॥

अर्थ—दूर भये हैं समस्त कर्म जाके ऐसा सिद्ध भगवानका स्वरूप जैसा स्फटिक विधे प्रतिविवित जिनराजका स्वरूप,

भावार्थ—स्फटिकमणि जैसा जिनबिंब होय तैसा ध्यावना; वर्ण गंध रस स्पर्श रहित ऐसा अमूर्तीक अरु सर्व कर्म रहित ऐसा जो सिद्धभगवानका स्वरूप ताकी प्राप्तिके अर्थ केवलज्ञान स्वरूप अरूप ध्यानकों ध्याये है ॥ ५५-५६ ॥

आगें परमात्माका ध्यान कैसे करना, सो कहैं हैं—

बहिरंतः परश्चेति, त्रेधात्मा परिकीर्तितः ।

प्रथमं द्वितीयं हित्वा, परात्मानं विचिंतयेत् ॥ ५७ ॥

अर्थ—बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा ऐसे आत्मा तीन प्रकार कहा है । तहां बहिरात्मा अर अन्तरात्माको छोड़के परमात्माका चितवन करे ॥ ५७ ॥

बहिरात्मात्मविभ्रांतिः, शरीरे, मुग्धचेतसः ।

या चेतस्यात्मविभ्रांतिः, सोऽन्तरात्मा विधीयते ॥ ५८ ॥

अर्थ—जो मूढ़बुद्धिके शरीर विषे आत्माकी भ्रांति है शरीरमें आपौ मानै है सो बहिरात्मा है । बहुरि चैतन्यके विकार जे रागादिक तिन विषे आपौ मानै है सो अन्तरात्मा कहिए है ॥

इहां प्रश्न—जो और ग्रंथनिमें तौ मिथ्यादृष्टिको बहिरात्मा कहा है अर सम्यग्दृष्टिको अन्तरात्मा कहा है इहां ऐसा कैसे कहा ।

ताका उत्तर—देहमें आपा मानना सो बहिरात्मा अर रागादिकमें आपा मानना सो अन्तरात्मा ऐसैं इहां तौ दोऊ त्यागने योग्य कहे । अर जहां अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टिको कहा तहां उपादेय कहा, किछु आशयमें विरोध नाहीं वक्ताकी इच्छातैं अर्थभेद ही है, ऐसा जानना ॥

आगैं बहिरात्माका स्वरूप कहैं हैं:—

श्यामोगौरःकृशःस्थूळःकाणःकुण्ठोऽवलो कली ।

वनिता पुरुषः षंढा विरूपो रूपवानहम् ॥ ५९ ॥

जातदेहात्मविभ्रांतेरेषा भवति कल्पना ।

विवेकं पश्यतः पुंसो न पुनर्देहदेहिनोः ॥ ६० ॥

अर्थ—मैं काला हूँ, गौरा हूँ, पतला हूँ, मोटा हूँ, काणा हूँ, हीन हूँ, बलवान हूँ, निर्बल हूँ, स्त्री हूँ, पुरुष हूँ, नपुमक हूँ, विरूप हूँ, रूपवान हूँ, ऐसी यह कल्पना है सो उपजा है शरीरमें आत्माकी भ्रांति जाके जो शरीर ही आत्मा है ऐसैं मिथ्यादृष्टिके होय है जातैं

काला गौरा आदि देहके धर्म हैं आत्माके नहीं, बहुरि जो पुरुष शरीरका अर आत्माका भेद देखै है श्रद्धा करै है ताकै यह कल्पना न होय है ॥ ५९-६० ॥

शत्रुमित्रपितृभ्रातृमातृकातासुतादयः ।

देहसम्बन्धतः संति, न जीवस्य निःसर्गजाः ॥ ६१ ॥

अर्थ—देहका अपकार करनेवाला सो शत्रु अर देहका उपकार करनेवाला सो मित्र अर देहका उपजावनेवाला सो पिता अर जहां देहकी उत्पत्ति तहां ही जाकी उत्पत्ति होय सो भाई अर देहको उपजावै सो माता अर देहको रमावै सो स्त्री, देहतैं उपज्या सो पुत्र इत्यादि सर्व जीवके शत्रु आदिक देहके सम्बन्धतैं है, स्वभाव जनित नाही ॥ ६१ ॥

आभ्रस्तिर्यङ्मनरो देवो, भवामीति विकल्पना ।

आभ्रातिर्यङ्मनु देवांगसंगतो न स्वभावतः ॥ ६२ ॥

अर्थ—मैं नारकी हूँ, तिर्यच हूँ, मनुष्य हूँ. देव हूँ ऐसी यह कल्पना है सो नारक तिर्यच मनुष्य देवनिके शरीरके सगतैं हैं स्वभावतैं नाही ॥ ६२ ॥

बालकोऽहं कुमारोऽहं, तरुणोऽहमहं जरी ।

एता देहपरिणामजनिताः, संति कल्पनाः ॥ ६३ ॥

अर्थ—मैं बालक हूँ, मैं कुमार हूँ, मैं तरुण हूँ, मैं वृद्ध हूँ ऐसी जे कल्पना हैं ते शरीरके परिणाम करि उपजी हैं ॥ ६३ ॥

विदग्धः पंडितो मूर्खो, दरिद्रः सधनोऽधनः ।

कोपनोऽसूयको मूढो, द्विष्टस्तुष्टा शठोऽशठः ॥ ६४ ॥

सज्जनो दुर्जनो दीनो, लुब्धो मत्तंऽपमानितः ।

जातचित्तात्मसंभ्रातेरेषा भवति शोमुषी ॥ ६५ ॥

अर्थ—मैं चतुर हूँ, पंडित हूँ, मूर्ख हूँ, दरिद्री हूँ, धनवान हूँ, निर्धन हूँ, क्रोधी हूँ ईर्ष्यायुक्त हूँ, मंही हूँ, द्वेषी हूँ, रागी हूँ, अज्ञानी हूँ, ज्ञानी हूँ, सज्जन हूँ, दुर्जन हूँ, दीन हूँ, लोभी हूँ, प्रमादी हूँ, अपमान सहित हूँ ऐसी यह बुद्धि उपजै है रागादिक भावनिर्मे आपेकी भ्रांति जाके ऐसा जो पुरुष ताके होय है ॥ ६४-६५ ॥

आगें मिथ्याबुद्धि सम्यक् बुद्धिका फल कहैं हैं—

देहे यात्ममतिर्जतोः सा, वर्द्धयति संस्थितिम् ।

आत्मन्यात्ममतिर्या सा, सद्यो नयति निर्वृतिम् ॥ ६६ ॥

अर्थ—जो देह विषै आपेकी बुद्धि है सो जांवके संसार बढ़ावै । बहुरि जो आत्मा विषै आत्म बुद्धि है सो शीघ्र मुक्तकी प्राप्त करै हैं ॥ ६६ ॥

यो जागत्यात्मनः कार्ये, कायकार्यं स मुंचति ।

यः स्वपत्यात्मनः कार्ये, कायकार्यं करोति सः ॥ ६७ ॥

अर्थ—जा पुरुष आत्माके कार्यमें जागै है अपने हितमें सावधान है सो पुरुष शरीरके कार्यकीं ल्यागै है, शरीर सम्बन्धी क्रियामें उदासीन रहै है । बहुरि जो आत्माके कार्य विषै साधै है आत्माके हितमें उद्यमी नाहीं सो शरीर सम्बन्धी क्रियाकीं करै है ॥ ६७ ॥

ममेदमहमस्यास्मि, स्वामी देहादिवस्तुनः ।

यावदेषा मतिर्बाह्ये, तावद्धयं न कुतस्तनम् ॥ ६८ ॥

अर्थ—ये शरीरादि परद्रव्य मेरा है अर मैं शरीरादि परवस्तुका स्वामी हूँ ऐसी बुद्धि जहां ताई बाह्य परद्रव्य विषै है तहां ताई ध्यान कहातैं होय ॥ ६८ ॥

नाहं कस्यापि मेकश्चिन्न, भावोऽस्ति बहिस्तनः ।

यदेषा शेमुषी साधोः, शुद्धध्यानं तदा मतम् ॥ ६९ ॥

अर्थ—मैं कोई बाह्य पदार्थका नहीं अर बाह्य पदार्थ मेरा कोई नहीं ऐसी यह बुद्ध जब साधुके होय तब शुद्ध ध्यान कह्या है ॥ ६९ ॥

रागद्वेषमदक्रोधलोभमन्मथमत्सराः ।

न यस्य मानसे संति, तस्य ध्यानेऽस्ति योग्यता ॥ ७० ॥

अर्थ—जाके मन विषे राग अर द्वेष अर मान अर क्रोध अर लोभ अर मत्सर अर काम अर ईर्षाभाव ये नहीं ता पुरुषके ध्यान विषे योग्यता है ॥ ७० ॥

*रागद्वेषादिभिः क्षिप्तं, मनः स्थैर्यं प्रचाल्यते ।

कांचनस्येव काठिन्यं, दीप्यमानैर्दृताशनैः ॥ ७१ ॥

अर्थ—रागद्वेषादि करि आक्षिप्त ऐसी मनकी स्थिरता चलायमान हो जाय है । जैसे देदीप्यमान अग्निकरि सुवर्णका कठिनपना चलायमान हो जाय तैसे ।

भाचार्य—मन चाहे जेता स्थिर होय परन्तु रागद्वेषादि करि चलायमान हो हो जाय है ॥ ७१ ॥

विद्यमाने कषायेऽस्ति, मनसि स्थिरता कथम् ।

कल्पान्तपवनैः स्थैर्यं, तृणं कुत्र प्रपद्ये ॥ ७२ ॥

अर्थ—जैसे प्रलयकालकी पवन विषे तृण है सो स्थिरताको कैसे प्राप्त हांय तैसे कषाय भाव विद्यमान होत सन्तें मनकी स्थिरता कैसे होय ॥ ७२ ॥

अक्षयकेवलालोकविलोकितचराचरम् ।

अनन्तवीर्यशर्माणममूर्त्तमनुपद्रवम् ॥ ७३ ॥

* यह श्लोक वचनिकाकी प्रतिमें नहीं है, संस्कृत प्रतिसे लिख कर वचनिका कर दी है ।

निरस्तकर्मसम्बन्धं, सूक्ष्मं नित्यं निरास्रवम् ।

ध्यायतः परमात्मानमात्मनः कर्मनिजेरा ॥ ७४ ॥

अर्थ—अविनाशी जो केवल दर्शन केवल ज्ञान तिनकरि देखे वा जाने हैं चराचर समस्त वस्तु जानें । बहुरि अनंत है स्वरूपतैं न चलने रूप वीर्य अर निराकुलतारूप आनंद जाकैं, अर वर्णादि रहित अमूर्तिक है, अर रोगादि उपद्रव रहित है, अर दूर किया है समस्त कर्मका सम्बन्ध जानैं, बहुरि जाकौं मनः पर्ययज्ञानो भी देख सकै नाहीं ऐसा सूक्ष्म है, नित्य है, अर रागादिकके अभावतैं निरास्रव है ऐसा जो परमात्मा सिद्ध भगवान ताहि ध्यावता जा पुरुष ताकैं आपके कर्मनिकी निर्जरा होय है ॥ ७३-७४ ॥

आत्मानमात्मना ध्यायन्नात्मा भवति निर्वृतः ।

घर्षपन्नात्मनाऽऽत्मानं, पावकी भवति हुमः ॥ ७५ ॥

अर्थ—जैसैं वृक्ष है सो वृक्षकरि घिस्या संता अग्निके भावकों प्राप्त होय है तैसैं आत्मा है सो आपकरि आपकों ध्यावता संता सुखी होय है, सिद्ध स्वरूप होय है ॥ ७५ ॥

न यो विविक्तमात्मानं, देहादिभ्यो विलोकते ।

स मज्जति भवांभेधौ, लिगस्थोऽपि द्रुतरे ॥ ७६ ॥

अर्थ—जो पुरुष देहादि परद्रव्यनितैं आपकों न्यारा नाहीं देखे है नाहीं श्रद्धान करे है सो पुरुष मुनि श्रावकके ब ह्य लिगमें तिष्ठ्या भी दुस्तर संसार-ममुद विषैं डूबे है, द्रव्यलिगी मुनि श्रावक भी संसारी ही रहै है तब और जीवनिकी कहा कथा है ॥ ७६ ॥

सविज्ञानमविज्ञानं, विनश्यमनश्चम् ।

सदानात्मीयमात्मीयं, सुखदं दुःखकारणम् ॥ ७७ ॥

अनेकमेकमंगादि, मन्यमानो निरस्तधोः ।

जन्ममृत्युजरावर्ते, बन्धमीति भवोदधौ ॥ ७८ ॥

अर्थ—जो अज्ञानी पुरुष शरीरादि जे अचेतन पदार्थ तिनकों चेतन मानता अर विनाशीककों अविनाशी मानता अर मदा आपका नाहीं ताकों आपका मानता अर दुःखका काण ताकों सुखदायी मानता अर एक नाहीं ताकों एक मानता सो जीव संसार-समुद्र विषे अतिशयकरि भ्रमै है । कैसा है संसार-समुद्र जन्म मरण जरारूप हैं मोरे जा विषे ॥ ७७-७८ ॥

आत्मनो देहतोऽन्यत्वं, चित्तनीयं मनीषिणा ।

शरीरभारमोक्षाय, सायकस्येव कोशतः ॥ ७९ ॥

अर्थ—जैसे तरकशतैं तीरकों न्यारा देखिए तैसे बुद्धिवान पुरुष करि शरीरका भार त्यागनेके अर्थ मोक्ष होनेके अर्थ शरीरतें आत्माका भिन्नपना चित्तवना योग्य है । ७९ ॥

या देहात्मैकताबुद्धिः, सा मज्जयति संसृतौ ।

सा प्रापयति निर्वाणं, या देहात्मविभेदधीः ॥ ८० ॥

अर्थ—जो देहमें अर आत्मामें एकताकी बुद्धि है सो संसारमें दुःखै है अर जो शरीरकी अर आत्माकी भिन्न बुद्धि है सो मोक्षकों प्राप्त करै है ॥ ८० ॥

यः शरीरात्मनोरैक्यं, सर्वथा प्रतिपद्यते ।

पृथक्त्वं शेमुषी तस्य, गूयमाणिक्ययोः कथम् ॥ ८१ ॥

अर्थ—जो देह अर आत्मा विषे सर्वथा एकपना मानै है ताके विष्टा अर माणिक्यगत विष भिन्नपनेकी बुद्धि कैसे होय ।

भावार्थ—आत्मा तौ रत्न समान पवित्र है अर देह विष्टा समान अपवित्र है सो कारणवश विष्टामें तिष्ठता जो रत्न ताहि जैसे मूर्ख एक मानै तैसे कर्मोदयके वश शरीरमें तिष्ठता जो आत्मा ताहि मिथ्यादृष्टि एक मानै है ऐसा जानना ॥ ८१ ॥

देहचेतनयोर्भेदा, भिन्नज्ञानापरिच्छेदतः ।

सर्वदा विदुषा ज्ञेयश्चक्षुः घ्राणाद्ययोरिव ॥ ८२ ॥

अर्थ—ज्ञानवान करि देहका अर चेतनका भेद जानना योग्य है जातैं भिन्न ज्ञान करि जाननेमें आवै है । जैसे नेत्र इंद्रिय अर नासिका इंद्रियके विषय जे रूप गंध ते भिन्न ज्ञान करि जाननेमें आवैं हैं तातैं भिन्न ही हैं ।

भावार्थ—देहतौ इंद्रिय ज्ञानकरि दीर्घ है अर आत्मा स्वसंवेदन करि दीर्घ है, इन्द्रिय ज्ञानकरि आत्मा न दीर्घ है अर स्वसंवेदन करि शरीर न आवै है, ऐसैं न्यारे ज्ञानकरि जाने जाय हैं तातैं शरीर अर आत्मा भिन्न है; जैसे रूख नेत्र करि जान्या जाय है, गंध नासिका करि जानिए है, रूप नासिका करि न जानिए है अर गंध नेत्रकरि न जानिए है; तातैं गंध रूख भिन्न भिन्न है ऐसा अनुमान दिखाया है ॥ ८२ ॥

न यस्य हानितो हानिर्न वृद्धिवृद्धितो भवेत् ।

जीवस्य सह देहेन, तेनैकत्वं कुनस्तनम् ॥ ८३ ॥

अर्थ—जा शरीरकी हानितें जीवकें हानि नाहीं अर जा शरीरकी वृद्धितें जीवकी वृद्धि नाहीं होय है, तातैं जीवकें देहके साथ एकपना काहेका ? ॥ ८३ ॥

तत्त्वतः सह देहेन, यस्य नानात्वमात्मनः ।

किं देहयोगजैस्तस्य, सहैकत्वं सुतादिभिः ॥ ८४ ॥

अर्थ—परमार्थतें जिन आत्मकै देहके साथ भिन्नपना है ताके देहके संयोगतें उपजे जे पुत्रादिक तिनकरि एकपना कैसें होय ॥ ८४ ॥

ममत्वविषणा येषां, पुत्रमित्रादिगोचरा ।

साऽऽत्मरूपपरिच्छेदच्छेदिनी मोहकल्पिता ॥ ८५ ॥

अर्थ—जिनक पुत्र मित्रादि विषे जो ये मेरे हैं ऐसी ममत्व बुद्धि है तिनके ऐसी बुद्धि आत्म ज्ञानकी नाश करनेवाली मोह-करि भई ।

भावार्थ—मिथ्यात्वके उदयकरि कल्पना मात्र है सत्यार्थ नाही ॥
पतनं काननं सौधमेषा नात्मधियांमतिः ।

निवासो वृष्टतत्वानामात्मै वास्त्यक्षयोऽमलः ॥ ८६ ॥

अर्थ—मैं नगरमें बसू हूँ बनमें बसू हूँ ऐसी यह बुद्धि आत्म-ज्ञान रहित मिथ्यादृष्टीनिके होय है । बहुरि देख्या है तत्व जिनमें ऐसे सम्यग्दृष्टीनिके अविनाशी, नित्य, निर्मल एषा जो आत्मा सो ही निवास है ॥ ८६ ॥

शुद्धस्य जीवस्य निरस्तमूर्तेः सर्वे विकाराः परकर्मजन्याः ।

मेघादिजन्या इव तिग्मरश्मेर्विनश्वराः संति विभास्वरस्य ॥ ८७ ॥

अर्थ—अमूर्तीक जो शुद्ध आत्मा ताके समस्त विकार हैं ते कर्मोदयते उपजै हैं ।

भावार्थ—द्रव्यदृष्टि करि देखिए तौ विकार कर्मजनित है किछु आत्माके स्वभाव नाही; जैसे देदीप्यमान जो सूर्य ताके विनाशीक जे विकार (कहुँ थोड़ा प्रकाश होना कहुँ बहुत प्रकाश होना इत्यादिक) बादला आदिके निमित्तसे होय है, स्वभावजनित नाही ॥ ८७ ॥

दृष्टात्मतत्त्वो द्रविणादिलक्ष्मीं, न मन्यते कर्मभवां स्वकीयाम् ।

विपक्षलक्ष्मीं भुवने विवेकी, प्रपद्यते चेतसि कः स्वकीयाम् ॥ ८८ ॥

अर्थ—देख्या है आत्माका स्वरूप जानै ऐसा पुरुष है सो कर्मोदय करि उपजी जे घनघान्यादिकी लक्ष्मी ताहि आपकी न मानै है । लोक विषे ऐसा कौन विवेकी है जो शत्रुकी लक्ष्मीको चित्त विषे आपकी मानै ॥ ८८ ॥

ज्ञानदर्शनमयं निरामयं, मृत्युसंभवविकारवर्जितम् ।

आमनन्ति सुधियोऽत्र चेतनं, सूक्ष्ममव्ययमपास्तकल्मषम् ॥ ८९ ॥

अथ—लोक विषे पंडित हैं ते आत्माकों ऐसा मानें हैं:—
आत्मज्ञानदर्शनमयी है अर रोग रहित है अर मरण उपजने आदि
विकार रहित है अर नष्ट भया है पाप जाका ऐसा निर्मल है अविनाशी
है सूक्ष्म है ॥ ८९ ॥

विग्रहं कृमिनिकायसंकुलं, दुःखदं हृदि विचिंतयन्ति ये ।

गुप्तिवद्धमिव ते सचेतनं, मोचयन्ति तनुयंत्रमंत्रितम् ॥ ९० ॥

अर्थ—कीड़ानिके समूह करि भया दुःखदायी ऐसा जो शरीर
ताहि हृदय विषे जे पुरुष भिन्न विचारें हैं ते पुरुष शरीर रूप पंच करि
बंध्या ऐसा जो आत्मा ताका मानौं गुप्ति बन्धन खोलैं हैं ।

भावार्थ—जे शरीर अर आत्माकों भिन्न भावें हैं तिनकें कर्म-
बन्धकी निर्जरा होय है ॥ ९० ॥

स्थित्वा प्रदेशे विगतोपसर्गे, पर्यकबंधस्थितपाणिपद्मः ।

नासाग्र संस्थापित दृष्टिपातो, मन्दीकृतोच्छ्वासविवृद्धवेगः ॥ ९१ ॥

विधाय वश्यं चपल स्वभावं, मनामनीषी विजिताक्षवृत्तिः ।

विमुक्तये ध्यायति ध्वस्तदोषं, विविक्तमात्मानमनन्यचित्तः ॥ ९२ ॥

अर्थ—नाहीं अन्य वस्तु विषे चित्त जाका ऐसा ज्ञानी पुरुष
मुक्तिके अर्थि रागादि दोष रहित समस्त परद्रव्यनिर्ते भिन्न जो आत्मा
ताहि ध्यावै है । कैसा है सो पुरुष दंशमशकादिकी बाधा रहित क्षेत्र
विषे तिष्ठ करि पर्यकासन विषे धरे हैं हस्तकमल जानें । बहुरि नासिकाके
अग्र विषे थाप्या है दृष्टिका पड़ना जानें बहुरि वृद्धिकों प्राप्त भया
ऐसा श्वासोच्छ्वासाका वेग सो मन्द किया है । बहुरि चञ्चल है स्वभाव
जाका ऐसा जो मन ताहि बश करिक जीती है इन्द्रियनिकी परणति
जनिं ऐसा पुरुष आत्माकों ध्यावै है ॥ ९१-९२ ॥

अभ्यस्यतो ध्यानमनन्यवृत्तेरित्थं विधानेन निरन्तरायम् ।

व्यपैति पापं भवकोटिबद्धं, महाशमस्येव कषायजालम् ॥ ०३ ॥

अर्थ—या प्रकार पूर्वोक्त विधान करि अन्तराय रहित निरन्तर ध्यानश्रीं अभ्यास करता अर नाहीं है पर पणति जाके ऐषा जो पुरुष तार्क कोटि भवकरि बांध्या जो पाप सो नाशकौ प्राप्त होय है, जैसे उपशम भाव सहित पुरुषकै कषायनिका समूह नाश होय तैसें ॥९३॥

ध्यानं पटिष्ठेन विधीयमानं, कर्माणि भस्मीकुरुते विशुद्धम् ।

किं प्रेर्यमाणाः पवनेन नाग्निश्चिन्तानि सद्योदहर्तो धनानि ॥ ९४ ॥

अर्थ—ज्ञानी पुरुषकरि करया भया निर्मळ ध्यान है सो कर्मनिकौ भस्म करै है । जैसे पवनकरि प्रेरया भया अग्नि है सो संचयरूप जे ईंधन निनहि शंघ कहा नाहीं दग्ध करै है ? करै ही है ॥ ९४ ॥

त्यागेन हीनस्य कुतोऽस्ति कीर्तिः, सत्येन हीनस्य कुतोऽस्ति पूजा ।

न्यायेन हीनस्य कुतोऽस्ति लक्ष्मी, ध्यानेन हीनस्य कुतोऽस्ति सिद्धिः ॥९५॥

अर्थ—दानकरि हीन जो पुरुष ताकी कीर्ति कैसें होय, अर सत्य करि हीन पुरुषकी पूजा कैसें होय, अर न्यायकरि हीन पुरुषकै लक्ष्मी कैसें होय, अर ध्यान करि हीन जो पुरुष ताकै सिद्धि जो मोक्ष सो कैसें होय ॥ ९५ ॥

तपांसि रौद्राण्यनिश विधत्तां, शास्त्राण्यधीतांमखिलानि नित्यम् ।

धत्तां चरित्राणि निरस्ततन्द्रो, न सिध्यति ध्यानमृते तथाऽपि ॥९६॥

अर्थ—घोर तपनिकौ निरन्तर धारै है तो धारो । बहुरि धमस्तु शास्त्रनिकौ पढ़ै है तो पढ़ो, आलस्य रहित चारित्रनिकौ आचरै है तो आचरो, तौ भी ध्यान बिना सिद्धि न पावै है । सर्व धर्मके अंगनिर्मे ध्यान मुख्य है ॥ ९६ ॥

ध्यानं यदह्वाय ददाति सिद्धिं, न तस्य खेदः परमर्शदाने ।

क्ष्यानलं हन्ति यदभ्रकृंदं, न तस्य खेदः परबहिषाते ॥ ९७ ॥

अर्थ—जो ध्यान शीघ्र ही सिद्धपदकों देय है ता ध्यानके और अहमिद्रादि पदके देनेमें खेद नाहीं, जैसे जो मेघका समूह प्रलय-कालकी अग्निका नाश कर ताके और अग्नि बुझायवे विषे खेद नाहीं ॥ ९७ ॥

तपोऽतरानन्तरभेदभिन्ने, तपोविधाने द्विविधे कदाचित् ।

समस्तकर्मक्षपणे समर्थ, ध्यानेन शुद्धेन तमं न दृष्टम् ॥ ९८ ॥

अर्थ—अन्तरंग बहिरंग भेद करि भिन्न जो दोय प्रकार तपका विधान ता विषे निर्मल ध्यान समान सकल कर्मनिके नाश करनेमें समर्थ और तप न देख्या ।

भाषार्थ—और तप तो ध्यानके साधन हैं अर ध्यान मोक्षका साधन है, तातैं ध्यान सबनिमें मुख्य है ॥ ९८ ॥

ध्यानस्य दृष्टेति फलं विशालं, मुमुक्षुणाऽऽलस्यमपास्य कार्यम् ।

कार्ये प्रमाद्यति न शक्तिमन्तो, विलोकमानाः फलभूरिखामम् ॥ ९९ ॥

अर्थ—या प्रकार ध्यानका बड़ा फल देखिके मुक्तिका बांछक जो पुरुष ता करि आलस्यकों छोड़िके ध्यान करना योग्य है, जातैं अधिक फलरूप लाभकों देखते जे सामर्थ्यवान पुरुष हैं ते कार्य विषे आलस्य नाहीं करे हैं ॥ ९९ ॥

तपोविधानैर्बहुजन्मलक्ष्यैर्षो दह्यते संचितकर्मराशिः ।

क्षणेन स ध्यानहुताशनेन, प्रवर्त्तमानेन विनिर्मलेन ॥ १०० ॥

अर्थ—अनेक लाख जन्मनिमें उपवासादि तपनि करि जो संचयरूप कर्मनिका समूह नाश कीजिए सो कर्मनिका समूह वस्यो जो निर्मल ध्यानरूप अग्नि ता करि क्षण मात्रमें दग्ध कीजिए है ॥ १०० ॥

निर्वाणहेतोर्भक्त्वात्भीतेर्ध्याने प्रयत्नः परमो विधेयः ।

शिवामुभिर्मुक्तिपुरीमवाधामुपायहीना न हि साध्यसिद्धिः ॥ १०१ ॥

अर्थ—संसारमें पडनेतैं भयभीत अर बाधा रहित अर मुक्ति-
पुरीके जानेके इच्छुक ऐसे जे पुरुष तिनकरि मोक्षके अर्थ ध्यान
विषे उषम करमा योग्य है, जातैं उपाय विना कार्यकी सिद्धि नाहीं ।
मोक्षका उपाय ध्यान ही है ॥ १०१ ॥

देहात्मनोरात्मवता वियोगो, मनः स्थिरीकृत्य तथा चिन्तित्यः ।

हेतुर्भवानर्थ परंपरायाः, स्वप्नेऽपि योगो न यथाऽस्ति भूयः ॥ १०२ ॥

अर्थ—आत्मज्ञानी पुरुषकरि चित्तको थिर करके देहका अर
आत्माका वियोग कहिये भिन्नपना तैसैं चितवना योग्य है जैसे संसार
दुःखकी परंपराका कारण जो देहका संयोग से स्वप्न विषे भी फेर
न होय ॥ १०२ ॥

निरस्तसर्वेन्द्रियकार्यजातो, यो देहकार्यं न करोति किञ्चित् ।

स्वात्मीय कार्योच्चतचित्तवृत्तिः, स ध्यानकार्यं विदधाति धन्यः ॥ १०३ ॥

अर्थ—नाश किया है स्पर्शनादि सर्व इंद्रियनिके कार्यनिका
समूह जानें ।

भावार्थ—जानें स्पर्शादि विषयनिर्मे इंद्रियनिका राग सहित
परिणमन रेक्या है । बहुरि अपने आत्माके कार्य विषे उषम सहित
है चित्तकी परणति जाकी ऐसा जो धन्य पुरुष है सो ध्यानरूप
कार्यको करे है ॥ १०३ ॥

यद्विद्वान् जगदंतरभ्रमे, घर्तुं न शक्यं मनुजामरेद्रेः ।

सम्मानसे जो विद्वान्ति शक्यं, ध्यानं च धीरो विदवात्त्ववश्यम् ॥ १०४ ॥

अर्थ—जो जगत विषे हीडता डोलता नरेन्द्र देवेंद्रनिकरि न

रोकने योग्य ऐसा जो मन ताहि बश करै है सो धीर पुरुष निश्चयसेती
ध्यानको करै है ।

भावार्थ—जाके बशीभूत मन है सो ही ध्यान करनेको
समर्थ है ॥ १०४ ॥

बाणैः समं पञ्चभिरुप्रवेगैर्बिद्धल्लोकस्थितजीववर्गः ।

न मन्मथस्तिष्ठति यस्य चित्ते, विनिश्चलस्तिष्ठति तस्य योगः ॥ १०५ ॥

अर्थ—तीन लोकमें तिष्ठया जो जीवनिका समूह सो जानें उग्र
है वेग जिनका ऐसे जे पंच बाण तिन करि एके काल वेध्या ऐसा
जो काम सो जाके चित्त विषे न तिष्ठै है ताके ध्यान निश्चल तिष्ठै
है ॥ १०५ ॥

न रोषो न तोषो न मोषो न दोषो,

न कामो न कम्पो न दम्भो न लोभः ।

न मानो न माया न खेदो न मोहः,

यदीयेऽस्ति चित्ते तदीयेस्ति योगः ॥ १०६ ॥

अर्थ—जा पुरुषके चित्तमें क्रोध नाहीं, राग नाहीं, चोरी नाहीं
अन्यायादि दोष नाहीं, काम नाहीं, भय नाहीं, दम्भ नाहीं, लोभ
नाहीं, मान नाहीं, माया नाहीं, खेद नाहीं, मोह नाहीं ता पुरुषके ध्यान
होय है । जाके रागादि विकार हैं ताके ध्यान न होय है ॥ १०६ ॥
प्रवर्द्धमानोद्धतसेवनायां, जीवस्य गुप्ताविष मन्वते यः ।
शरीरकुट्या वसति महात्मा, हानाय तस्या यतते स शीघ्रम् ॥ १०७ ॥

अर्थ—वर्द्धमान है तीव्र दुःखरूप परणति जा विषे ऐसा जो
शरीररूप कुट्टी ताविषे बन्दीखानेकी वसती समान वसतीको जो माने
है सो महात्मा तिष्ठ शरीरकुट्टीके नाशके अर्थ शीघ्र ही यत्न करै है,
भोक्ष होनेका उपस्य करै है ऐसा जानना ॥ १०७ ॥

समाधिविध्वंसविधौ पटिष्ठं, न जातु लोकव्यवहारपाशम् ।

करोति यो निरपृहचित्तवृत्तिः, प्रवर्तते ध्यानममुष्य शुद्धम् ॥१०८॥

अर्थ—जो पुरुष एकप्रचित्तके नाश करनेमें प्रवीण जो निष्कलाकव्यवहार ताहि कदाचित् नहीं करै है अर बांछारहित है चित्तकी परणति जाकी ऐसे पुरुषके निर्मल ध्यान प्रवर्तै है ॥ १०८ ॥

विधीयते ध्यानमवेक्षमाणैर्यद्भूतबोधैरिह लोककार्यम् ।

रौद्रं तदात्तं च वदन्ति सन्तः, कर्मद्रुमच्छेदनबद्धकक्षाः ॥ १०९ ॥

अर्थ—जो इस लोकसम्बन्धी कार्यकों बांछते जे अज्ञानी पुरुष निनकरि ध्यान करिए है तो ध्यानकों सन्तपुरुष रौद्रं या आत्तं कहै है । जैसे है संत पुरुष कर्मवृक्षके छेदनेकों बांधी है कमर जिननें ॥१०९॥ सांसारिकं सौख्यमवाप्तुकामैर्ध्यानं विधेयं न विमोक्षकारि ।

न कर्षणं सस्यत्रिषांयि लोके, पलाललाभाय करोति कोऽपि ॥११०॥

अर्थ—मोक्षका कर्ता जो ध्यान से संसारके सुखकी बांछा करि करना योग्य नहीं, जातें लोकमें धान्यकी उपजावनेवाली जो खेती मा पलालके लाभके अर्थ कोई भी करै नहीं । धान्यके अर्थ जो खेती करेगा ताके पलाल तो स्वयमेव ही होयगा । तैसें मोक्षके अर्थ जा ध्यान करै है ताके संसारसुखतो यावत् शुभ राग है तावत् स्वयमेव होय है । बहुरि विषयसुखकी बांछा करै तो उलटा रौद्रध्यान होय तातें संसारसुखकी बांछा सहित ध्यान करना युक्त नहीं ॥ ११० ॥

अभ्यस्यमानं बहुधा स्थिरत्वं, यथैति दुर्वोधमपीह शास्त्रम् ।

नूनं तथा ध्यानमपीति मत्वा, ध्यानं चदाऽन्यस्यतु मोक्षकामः ॥१११॥

अर्थ—जैसे दुःखतें है जानना जाका ऐसा कठिन शास्त्र भी बहुत अभ्यास किया भया स्थिरताको प्राप्त होय है । तैसे ध्यानान्ध्यास

